

सहजानंद शास्त्रमाला

सुख यहाँ

भाग 1

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी “सहजानन्द” महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

सुख यहाँ (पूर्वार्द्ध)

(विपत्ति में हमारा सच्चा मित्र)

प्रवक्ता

अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री न्यायतीर्थ
पूज्य श्री १०५ क्षु० मनोहर जी वर्णी
'सहजानन्द महाराज'

प्रकाशक

मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, राजीतपुरी, सदर मेरठ (उत्तर प्रदेश)
पिन-२५०००९

पंचम संस्करण
(१५०० प्रतियाँ)

1996

आगत मूल्य ६०.००

आत्मकीर्तन

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहर जी वर्णी
“श्रीमत्सहजानन्द” महाराज द्वारा विरचित

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम, ज्ञाता द्रष्टा आत्म राम ।।टेक।।

मैं वह हूँ जो हैं भगवान । जो मैं हूँ वह हैं भगवान ।।

अन्तर यही ऊपरी जान । वे विराग यहाँ रागबितान ।।१।।

मम स्वरूप है सिद्ध समान । अमितशक्तिसुखज्ञाननिधान ।।

किन्तु आशवश खोया ज्ञान । बना भिखारी निपट अजान ।।२।।

सुख-दुख दाता कोइ न आन । मोह राग रुष दुख की खान ।।

निजको निज परको पर जान । फिर दुखका नहीं लेश निदान ।।३।।

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम । विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।।

राग त्यागि पहुँचूँ निजधाम । आकुलता का फिर क्या काम ।।४।।

होता स्वयं जगत परिणाम । मैं जगका करता क्या काम ।।

दूर हटो परकृत परिणाम । ‘सहजानन्द’ रहूँ अभिराम ।।५।।

आत्मभक्ति

मेरे शाश्वत शरण, सत्य तारणतरण ब्रह्म प्यारे ।

तेरी भक्ति में क्षण जायं सारे ।टेक।

ज्ञान से ज्ञान में ज्ञान ही हो, कल्पनाओं का इकदम विलय हो ।

भ्रान्ति का नाश हो, शान्ति का वास हो, ब्रह्म प्यारे ।तेरी० ।१।

सर्व गतियों में रह गति से न्यारे, सर्व भावों में रह उनसे न्यारे ।

सर्वगत आत्मगत, रत न नाहीं विरत, ब्रह्म प्यारे ।तेरी० ।२।

सिद्धि जिनने भी अबतक है पाई, तेरा आश्रय हो उसमें सहाई ।

मेरे संकटहरण, ज्ञान दर्शन चरण, ब्रह्म प्यारे ।तेरी० ।३।

देह कर्मादि सब जगसे न्यारे, गुण व पर्यय के भेदों से पारे ।

नित्य अन्तःअचल, गुप्त ज्ञायक अमल, ब्रह्म प्यारे ।तेरी० ।४।

आपका आप ही प्रेय तू है, सर्व श्रेयों में नित श्रेय तू है ।

सहजानन्दी प्रभो, अन्तर्यामी विभो, ब्रह्म प्यारे ।तेरी० ।५।

प्रकाशकीय

प्रत्येक प्राणी सुख चाहता है और दुःख से छूटना चाहता है। उसका प्रत्येक प्रयत्न सुख प्राप्ति के लिए ही होता है परन्तु दुःख के सिवाय उसे कुछ भी प्राप्त नहीं होता। संसारी प्राणियों पर इतना विकट भ्रम का पहाड़ लदा है कि इसे चैन नहीं है। कर्तृत्व का भ्रम, स्वामित्व का भ्रम व आत्मीय भ्रम, को समाप्त करके हम अपने ज्ञानबल को दृढ़ बनाएँ तो सुख प्राप्त कर सकते हैं।

हमारी यह धारणा भ्रम मात्र है कि हमें अमुक पदार्थ सुखी करता है और अमुक दुखी करता है। सब पदार्थ अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से परिणमते हैं, एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का कुछ नहीं कर सकता। इस जीव के अन्दर ही विकल्पों की चक्की चल रही है। उस चक्की में यह आत्म भगवान् पिसता जा रहा है, कोई दूसरा इसे दुखी करने वाला नहीं है।

जो संयोग में सुख मानते हैं वे वियोग में नियम से दुखी होंगे। अतः शरीर या अन्य पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट कल्पना को त्यागकर, तथा उनसे मोह छोड़कर ही हम सुखी-हो सकते हैं।

पूज्य गुरुवर्य श्री सहजानन्द वर्णी जी महाराज ने 'सहजानन्द गीता' की संस्कृत में ७ अध्यायों में अद्वितीय रचना की है। 'सुख, यहाँ (पूर्वार्द्ध)' में इस गीता के प्रथम ३ अधिकारों में वर्णित श्लोकों पर पूज्य महाराज श्री द्वारा दिये गये विस्तृत प्रवचन हैं। जिस समय हम दुःख से व्याकुल होते हैं, पाप कर्म का उदय होता है तो ये प्रवचन अमृत का कार्य करते हैं। वस्तु स्वरूप का ज्ञान होने पर घोर विपत्ति में भी हम आकुलित नहीं होते हुए संकटों को सहन कर सकते हैं।

सहजानन्द गीता के सभी श्लोकों का अन्तिम चरण है—

'स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्।' इस पुनरावर्त्य चरण में कहा गया है कि मैं अपने में अपने लिए अपने आप सुखी होऊँ। अर्थात् सुख कहीं बाह्य पदार्थों में न होकर स्व में ही विद्यमान है।

पूज्य अध्यात्मयोगी श्री मनोहर जी वर्णी 'सहजानन्द' महाराज जी ने अत्यंत सरल एवं सुबोध शैली में रोचक दृष्टान्तों द्वारा प्रवचन कर दुःखों से संतप्त मानवों को सुखी होने का उपाय बताया है।

वास्तव में प्रस्तुत ग्रंथ विपत्ति में हमारा सच्चा मित्र है। 'सुख यहाँ' के प्रवचन कल्पवृक्ष व चिन्तामणि रत्न के समान हैं जिनके अभ्यास व चिन्तन से सांसारिक सुखों से परे पारलौकिक शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है। ये प्रवचन हमारे अज्ञानांधकार को दूर कर अध्यात्म साधना का मार्ग प्रशस्त करेंगे।

ग्रन्थ की लोकप्रियता एवं बढ़ती हुई मांग को ध्यान में रखकर इस ग्रंथ का पंचम संस्करण आपके हाथों में देते हुए अत्यंत हर्ष हो रहा है। श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ पूज्य महाराज श्री के प्रवचनों के प्रकाशन में सतत प्रयत्नशील है। आशा है पाठकगण लाभ उठाकर आनन्दरस का पान करेंगे।

मंत्री,

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उ.प्र.)

पिन-२५०००९

डिज़िटल-चित्रा कम्प्यूटर्स, सामने कोतवाली, मेरठ। फोन : २५०९६, ७७७३४

सुख यहाँ प्रथम भाग

(सहजानन्द गीता प्रवचन)

प्रवक्ता-अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री पूज्य श्री १०५ शु० मनोहर जी वर्णी

“सहजानन्द” महाराज

अज्ञानतिमिरान्धानां ज्ञानाञ्जनशलाकया ।

चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरुवे नमः ॥

बन्धुवर !

हम आप जीव हैं । जिनमें जानने देखने की शक्ति हो उन्हें जीव कहते हैं । जो इस शक्ति से रहित हैं उन्हें अजीव कहते हैं । जो जानने, देखने वाली ज्योति है वही मैं हूँ । इस ज्योति के साथ अविनाभावी आनन्द है । इस आनन्द गुण के विकास सुख-दुःख व आनन्द हैं । सब जीव यही चाहते हैं कि मैं सुखी रहूँ, दुःख न भोगूँ । हम जितना भी प्रयास करते हैं, काम करते हैं उसका उद्देश्य केवल यही है कि मैं सुखी रहूँ, दुःख से छुटकारा पा जाऊँ । सुख की खोज में ही रात दिन लगा रहता है यह, लेकिन क्या अभी तक सुख प्राप्त कर सके ? नहीं । क्योंकि हमारी खोज, हमारा प्रयास विवेक-पूर्ण नहीं है । हम जितना भी सुखी होने का प्रयास कर रहे हैं उसका परिणाम उल्टा ही होता है । कारण यह है कि हमारी खोज पर पदार्थों में है । यदि हम स्वयं को देखें, समझें, अनुभव करें तो यही पावेंगे कि सुख कहीं नहीं, आनन्द किसी स्थान पर नहीं मिलता है, न बिकता है किन्तु मुझमें स्वयं में ही आनन्द लबालब भरा हुआ है । जिसकी प्राप्ति, भटकते रहने के कारण, मैं आज तक न कर सका । हम आज तक दुःखों को सुख मानकर भोगते रहे । विचारो तो ये जो पतंगा, कीड़े, मकोड़े, वनस्पति आदि जीव हैं, जिनकी हत्या करते हुए, जिनको नष्ट करते हुए प्रायः लोगो को जरा भी संकोच नहीं होता, ये सब हमारी ही तो पर्याय हैं । और यदि यह दुर्लभ मनुष्य की पर्याय पाकर भी हम आत्मा को नहीं पहिचान सके तो इन चौरासी लाख योनियों में वैसा ही भटकना पड़ेगा । मानवजीवन पाया, अतः हम धन्य हैं । हम बोल भी सकते हैं, अपना दुःख व दर्द बता भी सकते हैं, सेवा भी कर सकते हैं । अपनी इच्छा व्यक्त भी कर सकते हैं । किन्तु इन गाय, भैंस आदि को तो देखो कितना ही दुःख हो, कुछ भी कैसी परिस्थिति क्यों न हो, भाव भी व्यक्त नहीं कर सकते । चौरासी लाख योनियों में भटकने के बाद दुर्लभ मानवपर्याय पाकर भी हम नहीं चेते तो फिर हमारा कल्याण नहीं । पूर्वजन्म में अच्छे कर्म किये थे इस पर्याय को प्राप्त करने के लिये । और इसको प्राप्त भी कर लिया है । तो भैया ! इसको यों ही न जाने दो । आत्मकल्याण करो । सबसे बड़ी यही बात है कि अपनी परिणति ठीक करो । हमारा ज्ञान व आचरण ठीक रहा तो इस पर्याय में भी सुख है और अगली पर्याय में भी सुख है, और

यदि हमारा ज्ञान व आचरण शुद्ध नहीं तो अगला भव तो दुःखमय है ही और इस भव में भी दुःख ही दुःख है। भैया भगवान चेतनामय; आनन्द ही आनन्द स्वरूप वाले हैं ज्ञान ही ज्ञान स्वरूप वाले हैं।

ऐसे वे ज्योतिस्वरूप हैं जो अपने आनन्द में रहा करते हैं। बस यही विचारो कि जब सर्वजीव का भी यही स्वरूप है व सबमें भगवान बस रहा है हम भी ज्ञान व आनन्दमय हैं। इस आनन्द का विकास धर्म के प्रसाद से होता है। धर्म के कार्यों में सबसे पहिले जीवदया को ही धर्म बताया है। व्यवहार में सबसे बड़ा और सबसे पहिला मानवधर्म है जीवमात्र पर दया करना। जिसके अन्दर दया नहीं वह आदर नहीं पाता और जिसके अन्दर सबके प्रति दयाभाव है वही आदर पाता है अतः दया ही हमारा प्रथम धर्म है, यही विचार करना चाहिये।

मूल दया तो अपने व सबके चैतन्यस्वरूप को देखने से आती है। सब जीव भगवान के स्वरूप समान चेतनाशक्ति-युक्त हैं। किन्तु माया के प्रपञ्च से दुःखी हो रहे हैं। माया के आतंक से ही तो अभी मनुष्य हैं तो फिर पशु पक्षी की पर्याय है। उन खोटी स्थितियों से बचने के लिये, अपना आचरण सुधारने के लिये अच्छा मार्ग सत्संग अपनाना चाहिये, कुमार्ग गमन से तो कोई भी सुखी नहीं होता। जैसे कि जुआ खेलते हैं रुपया पैसा लगाकर, किन्तु क्या वे उसमें सुख शान्ति पा लेते हैं। नहीं दुःखी ही होते रहते हैं, क्योंकि जहां लालसा है वहीं दुःख है। पाण्डवों को देखो जुए के कारण ही तो वे हीन बन गये, द्रोपदी का अपमान सहन करना पड़ा। यह सब किसके कारण हुआ और क्या कारण था इसके अतिरिक्त। अतः दुःख के सिवाय इन व्यसनों में रखा ही क्या है? इसी प्रकार मांसभक्षण, मदिरापान, चोरी करना, शिकार खेलना, परस्त्रीसेवन व वेश्यागमन ये व्यसन भी क्लेश ही क्लेश हैं।

इन सात व्यसनों का तो कम से कम प्रत्येक प्राणी को त्याग होना चाहिये। यदि इन सात चीजों का त्याग कर दिया तो जीवन सुखमय हो जायेगा। मांसभक्षण में कितनी निर्दयता है। देखो अपने शरीर में यदि कांटा लग जाता है या कोई चिंयुटी कांट लेती है तो कितना दुःख होता है। और जिसका मांस खाया जाता है उसे तो जान से ही खत्म कर दिया जाता है तब कितना दुःख होता है। बताइये कितना बड़ा स्वार्थ है कि मांसभक्षियों को तो जरासा कल्पित स्वाद, और यहां इसके प्राणों की आहुति। उन्हें कितना दुःख नहीं होता होगा। अतः भैया! सोच विचार कर इस व्यसन का त्याग कर ही देना चाहिये। मनुष्य का भोजन भी मांस नहीं है। बच्चे को भी शुरूमें यदि मांस दोगे तो वह वमन कर देगा। प्रकृतिविरुद्ध भी तो बात है यह। शराब पीने से बेहोशी हो जाती है, जानने देखने की शक्ति नष्ट हो जाती है। उसका विश्वास भी फिर कोई नहीं करता। चोरी करना, जुआ खेलना, मांस खाना, शिकार खेलना, मदिरा पीना, परस्त्रीसेवन करना। इनके भी द्वारा होने वाली बरबादी को विचार करके जीवन पर्यन्त इन व्यसनों का त्याग करना चाहिये। जिनको ध्यान भगवान में लगाना है उन्हें इन्हें तुरन्त ही त्यागना चाहिये। इन व्यसनों से जीवका जो पतन होता है उससे यह पतित प्राणी प्रभु के बिल्कुल विमुख हो जाता है। आज जो हमारी स्थिति है यह पुण्य के प्रताप ही से तो है। तभी तो आज हम मनुष्ययोनिमें हैं। अतः अब भी हमें अपना धर्म न छोड़ना चाहिये। यह जो शरीर है जिसपर हम

गर्व करते हुये नहीं अघाते हैं, क्या है यह ? केवल खून, पीप, मवाद आदि दुर्गन्धित वस्तुओं का ही तो पिण्ड है, जिसमें नवद्वार तो प्रकट बहते ही हैं, और रोम के करोड़ो छिद्रों से मल झरता है । कुछ भी तो सार नहीं है । फिर क्यों इससे इतना मोह, क्यों इतना गर्व इस नाशवान् वस्तुका, जिसके खातिर मांसभक्षण मदिरापान आदि जैसे घोर पाप किये जाते हैं ।

मदिरा (शराब) के पीने वालों का मनुष्य तो निरादर करते ही हैं, कुत्ते तक भी मुख में अशुचि मूत्र क्षेपण कर निरादर कर डालते हैं । चोर को तो सदा शल्य ही रहती है वह तो छुपाछुपा ही रहना चाहता है । उसे तो कोई पास भी नहीं बैठने देता । शिकार खेलना तो अतिनिर्दयता है । परस्त्रीसेवन तो अनेक विपदाओं की खान है- । परस्त्रीगामी पराधीन दीन बन जाता है - उसके प्राण भी नष्ट कर दिये जाते हैं । वेश्या तो नरककी साक्षात् दूती है । ये व्यसन लौकिक आपदा तो पैदा करते ही हैं किन्तु इन व्यसनों से जीव ऐसा अधार्मिक हो जाता है कि वह न तो प्रभु के भजन के योग्य रहता है, न धर्म की बात समझने के योग्य रहता है और न शान्ति का जरा भी पात्र ही रहता है । व्यसन तो मुप्त ही सिर पर ली हुई विपदा है ।

इन सात व्यसनों में से यदि एक भी साथ लग गया तो न तो वह प्राणी आराम से बैठ सकता है, न चार व्यक्तियों में इज्जत ही पाता है, कोई उसका विश्वास नहीं करता, सब उसे झूठा समझने लगते हैं । परमार्थ से तो वह कोसों दूर रह जाता है । अतः इन सात व्यसनों का त्याग करना ही चाहिये । आत्मा के हित के लिये क्या करना चाहिए ? यह अच्छी प्रकार विचार कर अच्छी बातों को धारण करो और बुरी आदतों को छोड़ दो । अपनी आजीविका न्यायपूर्वक करें और किसी का जी तक न दुखावें । बस यही विचारें कि मेरे कारण किसी को दुःख न पहुंचे । उपकार और त्याग की ही तो महिमा है । जितना पर उपकार करोगे और स्वरूप दृष्टि रख जितना सांसारिक परपदार्थों का त्याग करोगे उतने ही महान् बनोगे । जिन्दगी का सार यही है ।

जो जिन्दा है वह मरेगा तो अवश्य ही, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु वह मरण अमर हो, ऐसा प्रयास करना चाहिए । सर्वप्रथम इन सात व्यसनों को त्यागकर अपनी आत्मा के कल्याण के मार्ग में लगे, अपने को पहिचानें । यदि इस प्रकार का सच्चा ज्ञान प्राप्त कर आचरण किया तो जीवन सफल हो जावेगा । इन सात व्यसनों के त्याग से धर्म का मर्म समझने की योग्यता आती है । व्यसनसेवी धर्मकी बात का स्पर्श भी करने का पात्र नहीं होता । अतः यह तो सर्वप्रथम ही आवश्यक है कि सप्तव्यसनों का त्याग करें । धर्म जिसके कि कारण से क्लेश नष्ट होते हैं वह बाहर नहीं, आत्मवस्तु में ही है । वस्तु अपने में जिस स्वभाव को धारण करता है उसका नाम धर्म है । जैसे बिच्छू का धर्म काट लेना है, मानव का स्वभाव रक्षा करना है, अग्नि का धर्म जलाना है । इस तरह लोक व्यवहार की प्रसिद्धि से भी यही सिद्ध है कि वस्तु के स्वभाव का नाम धर्म है ।

एक उदाहरण है कि एक नदी में बिच्छू बह रहा था । एक मनुष्य उसको निकालने के लिए नदी

में घुसा । खड़े हुए आदमी बोले कि भैया ! उसको निकालने से क्या फायदा, वह काट लेगा, किन्तु वह नहीं माना । बिच्छू के काटनेपर भी वह उसे बाहर निकाले । काटने से गिर जाय फिर भी निकाले । निकालकर बोला -देखो भाई, इसका स्वभाव काटना है और मेरा स्वभाव है रक्षा करना । जब यह छोटा सा प्राणी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता, उसका बराबर पालन किये जा रहा है, तब मुझे तो सोचने समझने की शक्ति भी मिली है, फिर मैं क्यों अपने धर्म को छोड़ूं ? यही तो परीक्षा है । विपत्ति के उपस्थित होने पर भी स्वभाव को न छोड़ना ही धर्म है ।

धर्म कहो, स्वभाव कहो, शक्ति कहो एक ही बात है । जिसमें जानने, देखने की शक्ति हो उसे जीव कहते हैं । जो शुरू से लेकर अन्त तक बना रहे, न छोटे उसे स्वभाव कहते हैं । ऐसे स्वभाव में तन्मय यह आत्मा है, यह कभी नष्ट न होने वाली वस्तु है । वह स्वभाव है अपनी आत्मा का चैतन्यस्वरूप, सहजज्ञान, चिदानन्द । जिसमें चढ़ाव उतार पाया जावे वह स्वभाव नहीं बन सकता । जैसे क्रोध करना, मान करना आदि यह स्वभाव नहीं बन सकता । आखिरकार क्रोध की मुद्रा कितने समय तक बनी रह सकती है, आखिर तो अपने वास्तविक स्वरूप में आना ही होगा । शरीर भी जीवका स्वरूप नहीं, क्योंकि यह भी नष्ट होने वाली चीज है । जो पैदा हो व नष्ट हो या जिसमें उतार चढ़ाव पाया जावे वह स्वभाव नहीं कहा जा सकता है । घमण्ड भी जीव का स्वभाव नहीं, क्योंकि इसमें उतार चढ़ाव पाया जाता है । माया, तृष्णा, लोभ ये सब जीव के स्वभाव नहीं हो सकते । क्योंकि इनमें नित्यपना नहीं पाया जाता । अतः जो जानने की शक्ति है, चेतना है, चैतन्यस्वरूप है इसमें उतार चढ़ाव नहीं है, अतः चैतन्य जीवका स्वभाव है । यही जीवका धर्म कहलाया । आत्मधर्म का पालन यही है कि ऐसी दृष्टि बनावें कि मैं तो ज्ञानशक्तिमात्र हूं, तभी भगवान के स्वरूप के दर्शन हो सकते हैं । वास्तविक दृष्टि से भगवान् के स्वरूप की तभी कल्पना की जा सकती है । और जो नाना भगवान के स्वरूपों की कल्पना कर रहे हैं ये सब व्यर्थ है । यदि प्रभु के दर्शन होंगे तो अपने स्वरूप में ही होंगे ।

हम अपने आपको सही समझ लेवेंगे तो भगवान के स्वरूप का पता लग जावेगा । अपने को ज्ञाता, दृष्टा समझ लेनेपर ही आत्मा के अपने सहज स्वरूप के दर्शन हो सकते हैं । उस पावन दर्शन में ही अनुपम आनन्द है । ऐसा आनन्द नाना प्रकार के भोजनों में, इज्जत, ऐश्वर्य आदि में प्राप्त नहीं होगा ।

ये बाह्य पदार्थ तो आकुलता के ही देने वाले हैं । इन वैभवादिसे क्या लाभ ? ये सब तो विपदा ही देने वाले हैं । जीवका स्वभाव तो चैतन्यस्वरूप है । यह जो हम आज शरीर की इज्जत करते हैं सब स्वार्थवश कर रहे हैं । सबको समदृष्टि से देखता हुआ ही सत्य समान व्यवहार कर सकता है । मेरा स्वभाव तो माया से परे है ऐसा विचार करते हुये अपने आपका निर्णय करो, तभी अपने आपके, अपने सहज स्वभाव के दर्शन पा सकते हो । मानव अनेक धर्मों की विधियों के कारण इस सन्देह में पड़ जाता है कि वास्तविक सत्य क्या है ? क्योंकि सभी अपने अपने धर्म का प्रचार कर रहे हैं, कोई कुछ कहता है तो कोई कुछ कहता है । अतः इसमें यह पता नहीं लगता कि असत्य क्या है ? जायें तो किसके सत्य मार्ग पर जायें ?

सुख यहाँ प्रथम भाग

५

भैया ! ऐसा सन्देह हो तब सबकी बातों को छोड़ दो और ऐसा छोड़ दो कि कुछ कल्पना ही न आवे, और सर्वसमागम को असार तो समझ ही लिया है सो उस सबको भी अपने उपयोग में न आने दो । फिर देखोगे उस परमविश्राम में शुद्ध ज्योतिर्मय आत्मस्वभाव को । इस आत्मदर्शन के साथ जो आनन्द पावोगे वह सर्वोत्कृष्ट है । और फिर ऐसी स्थिति पाने के लिये लालायित होकर उपयोग बनाओगे । ऐसे पुरुषार्थ करने का नाम ही धर्म का पालन करना है ।

धर्म साधन ही जीवका सत्य शरण है । इसकी साधना करके अपना जीवन सफल करना चाहिये । धर्म है समता, जहाँ मोह और लोभ नहीं है वहीं धर्म है । मोह और लोभ का अभाव होता है शुद्ध ज्ञानस्वरूप के उपयोग से । अतः शुद्ध ज्ञानस्वरूप की चर्चा से, अध्ययन से, मनन से, चिन्तन से, अनुभवन से निरापद सत्य विश्राम पाना ही परमहित है ।

बन्धुवर ! हम सब ज्ञानपिण्ड पदार्थ हैं और शान्ति के प्यासे हैं । शान्ति का सम्बन्ध ज्ञान से है । ज्ञानसामान्य की अपेक्षा देखो तो मुझ अशान्त में व शान्त प्रभु में कुछ भी अन्तर नहीं, किन्तु ज्ञानविशेष की अर्थात् ज्ञानपरिणतिकी अपेक्षा देखो तो प्रभु में व मुझमें अन्तर है । हम मतिश्रुत ज्ञानी हैं । इन्द्रिय व मनसे जो ज्ञान होता है उसे मतिज्ञान कहते हैं तथा पश्चात् लिखने, पढ़ने, विचारने आदि से जो उसी पदार्थ में मतिज्ञान से विशिष्ट ज्ञान होता उसे श्रुतज्ञान कहते हैं । केवलज्ञान जितने विषय को जानता है उतना ही विषय उत्कृष्ट श्रुतज्ञानका है, किन्तु अन्तर केवल इतना है कि श्रुतज्ञान परोक्ष को जानता है और केवल ज्ञानी सबको जानता है केवलज्ञानी ने बारहवें के अन्त में ज्ञानावरणका नाश कर दिया है । ज्ञान जिसके पास है वह निमित्त मिलने पर वैराग्य को प्राप्त हो मुक्त हो जावेगा । अशान्ति समाप्त करने का उपाय आत्मा में ज्ञान का उपयोग करना है । प्राणी को कभी भी अतिज्ञान का अभिमान नहीं करना चाहिये । प्राणी जिस-जिस प्रकार अपने कर्मों से दूर होता जाता है उसी प्रकार ज्ञान की वृद्धि होती है । जीवन का सबसे बड़ा शत्रु वह है जिससे वह मोह रखता है । इस प्राणी की ऐसी विचित्र दशा है कि जिससे वह मोह रखे वह यदि अन्याय या अनीतिका सहारा लिये हुए है तो भी उसी का पक्ष करता है । एक जमाना ऐसा भी था, यदि अपना ही पुत्र आदि कोई भी अन्याय आदि करता था तो न्याय का ही अवलम्बन किया जाता था, बिना किसी भेदभाव के । किन्तु आज दशा अति शोचनीय हो गई है । अतः मोह में पड़कर प्राणी दुर्गति के कारण बनते हैं । इस संसार में अपने आत्मज्ञान के अतिरिक्त कोई भी संसार से मुक्ति नहीं दिला सकता । मुमुक्षु आत्मा के स्वभाव को शरीर से पृथक् समझो । जो बाह्य कर्म हैं उनको करना पड़े तो भी मुमुक्षु को आत्मा के स्वभाव को समझते रहना चाहिये । अपने को चेतना शक्तियुक्त समझना चाहिये तथा विचार करना चाहिये कि परिग्रह व ममता ही विपदा के कारण हैं । यदि प्राणी तीन बातें धारण करें तो उन्हें दुःख का कारण दूर करते देर न लगेगी - (१) चैतन्यस्वभावकी प्रतीति करो, (२) अन्याय सहन मत करो, (३) प्रेम का व्यवहार करो । कभी भी लोभादि में पड़कर यदि अन्याय सहन करना पड़े जिसे आत्मा स्वीकार नहीं करती तो स्वीकार मत करो । सर्वदा सब प्राणियों से प्रेमका व्यवहार करना चाहिये । नम्रता से सबसे व्यवहार करना चाहिये । इन सब बातों

के होते हुए भी कभी भी प्राणी को न अपने को तुच्छ समझना चाहिये तथा न ही किसी बात का अभिमान करना चाहिये । थोड़ा ज्ञान होने पर ही प्राणी अपने को बहुत बड़ा समझने लगता है, किन्तु जैसे-जैसे वह ज्ञान प्राप्त करता जाता है वैसे-वैसे ही वह अनुभूति करता है कि इतने विशाल ज्ञानके समक्ष मेरा ज्ञान बहुत ही कम है ।

देखो भैया ! कृतान्तवक्र सेनापति ने रागसम्बन्धी मोह वर्जित कर सब कठिनाइयाँ आसान समझीं । संसार में यदि प्राणी का सबसे बड़ा शत्रु है तो वह मोह माया है । इससे विरक्त होकर हम अपनी ओर आये । सुख यहां मिलेगा । हमें केवल दो बातें ही करनी हैं— (१) बाह्य में ऐसी न्याय प्रवृत्ति हो जिससे मेरे अन्तरंग की शुद्ध वर्तना में बाधा न आवे । (२) ज्ञानानन्दघन निज आत्मतत्त्व की दृष्टि हो । इस ही दूसरी बात में प्रभु की भक्ति भी अन्तर्निहित है ।

रागाभावः स्वयं स्वाप्तावाप्तास्वो हि स्वभाववत् ॥

स्वे स्वं परं नमस्कृत्य स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥११॥

अर्थ— निज आत्मा की उपयोगद्वारा प्राप्ति होने पर स्वयं राग द्वेष आदि क्लेशों का अभाव हो जाता है, और प्राप्त किया है स्व आत्मा को जिसने ऐसा वह परमात्मा निज के सहज भाव के समान है । इसलिये उस परमात्मा तथा स्वात्मा को अपने में नमस्कार करके मैं अपने में अपने लिये अपने द्वारा सुखी होऊँ ।

इसमें नमस्कार किया गया है । लेकिन किसको ? चूंकि प्राणी वस्तुतः स्वयं स्वयं को ही नमस्कार करता है और परमात्मा को भी नमस्कार करता हो तो वह भी अपने में ही किया जाता है । सो परमार्थ से नमस्कार खुद को ही किया जा सकता है । यहां भी खुद ही को नमस्कार है नम्रीभूत होने को नमस्कार कहते हैं । नमना या झुकना नमस्कार का द्योतक है । अपने आपके स्वरूप की ओर नमना भी अपने से ही होता है ।

आत्मा का स्वरूप परमात्मा के सदृश है । आत्मा का एवं परमात्मा का स्वभाव चैतन्य स्वरूप है । भगवान् का जो विकास है वैसा ही होने का सब जीवों का स्वभाव है । अपने आपको पा लेने का नाम स्वयं को नमस्कार है । अपने आपका दर्शन भी स्वयं में ही होता है । हम लोग जो मन्दिरों में भगवान् की मूर्ति के सामने दर्शन करते हैं । सो जिसका दर्शन करना चाहते हैं उसका दर्शन भी चक्षु से नहीं होगा, ज्ञान से ही दर्शन होगा । चक्षु से तो केवल स्थापित मूर्ति का आकार ही दिखायी देगा । समवशरण में भी परमात्मा का दर्शन आंखों से नहीं होगा, वहां भी ज्ञान से दर्शन होगा । वहां भी अन्तरंग में ही दर्शन होगा । परमार्थ से तो भगवान् के स्वरूप में ज्ञेयाकार से परिणित निज आत्मा के ही दर्शन होते हैं ।

वैसे तो समवशरण में भी निराकार परमात्मस्वरूप का दर्शन नहीं होता किन्तु साकार शरीर का ही दर्शन होता है । सो ऐसे साकार शरीर के ही आंखों से दर्शन होंगे । जैसे यहां पर मन्दिर में भगवान्

सुख यहाँ प्रथम भाग

की मूर्ति के दर्शन होते हैं । किन्तु जब तक ज्ञान से दर्शन नहीं होगा तब तक कोई लाभ नहीं । अतः अपने आपकी प्राप्ति होने पर ही परमात्मा को नमस्कार बनता है । अपने आपकी प्राप्ति का उपाय रागद्वेषादिका अभाव होना है । रागद्वेष अहंकार आदि परिणाम ही परमात्मा के दर्शन में बाधक बनते हैं । अपने आपको जान लेने के बाद ही परमात्मस्वरूप की समझ व अपनी सच्ची अनुभूति होती है । इस अनुभूति का बाधक है अहंकार । जब तक अहंकार रहता है तब तक परमात्मा के दर्शन नहीं होते । भैया ! एक देश में एक नककटा रहता था । उसने सोचा कि मुझे सब कोई नककटा कहकर चिढ़ाते हैं । ये चिढ़ा न सकें इसका कोई उपाय निकालना चाहिये । बहुत सोचने के बाद उसने यह कहना प्रारम्भ कर दिया कि मुझे साक्षात् भगवान् के दर्शन हो रहे हैं । मैं इस नाक की नोक व छाया नहीं होने से साक्षात् भगवान् के दर्शन कर रहा हूँ । अतः उसकी इस बात को देखने के लिए दूसरे पुरुष ने भी अपनी नाक कटा ली, तब ईश्वर दर्शन न होने पर प्रश्न किया कि भैया ! मुझे तो ईश्वर के दर्शन नहीं हो रहे हैं, तब उस नककटे ने कहा कि अब तुम्हारी नाक तो कट ही चुकी है अतः यह कहना प्रारम्भ कर दो कि मुझे ईश्वर के दर्शन हो रहे हैं । अन्यथा दुनिया वाले तुम्हें हास्य का पात्र बनायेंगे । इस प्रकार सब ग्रामवासियों ने अपनी अपनी नाक कटा ली तो राजा ने सबको समरूप नककटा देखकर अपने को उनसे भिन्न प्रतीत किया तथा कुरूप अनुभव किया । राजा ने पूछा कि भाई आप सब तो बड़े रूपवान् हैं, मैं ही क्यों कुरूप हूँ, तब लोगों ने उत्तर दिया कि राजन् ! हम लोग भी इसी तरह नककू थे और इसी कारण भगवान् के दर्शन नहीं होते थे । जबसे यह नाक सफा हुई तब से भगवान् के दर्शन हो रहे हैं । राजा भी ईश्वर के दर्शन करने के लिये नाक काटना चाहता था कि उस प्रथम नककटे ने कुछ कहने के लिये क्षमा मांग कर कहना प्रारम्भ किया कि हे नाथ ! नाक काट लेने पर ईश्वर के दर्शन नहीं होंगे, अपितु मुझे लोक के हास्य से बचने के लिए यह उपाय सूझा और इस प्रकार सबों ने अपनी नाक कटा डाली ।

अतः सबसे प्रथम प्राणियों को अपने रागद्वेषादि परिणामों को दूर करना चाहिये । रागद्वेष, अहंकार आदि परिणाम भगवान् का दर्शन नहीं करने देते तब तक, जब तक कि ये बुरे परिणाम दूर न हों, ना ये आत्मा के ही दर्शन करने देते । आत्मा में छिपे तात्त्विक आनन्द का ख्याल हो जाने पर विषय कषाय आदि के संक्लिष्ट परिणामों में पड़ना कोई नहीं चाहता । सदा विचार करना चाहिये कि जैसा चैतन्यस्वभाव अर्हन्त आदि में है वैसा ही मुझमें है तथा जैसा मुझमें है वैसा ही अर्हन्त आदि में है ।

आत्मा रागद्वेषादि बढ़ाकर जो अनिष्ट करता है वह अपना ही अनिष्ट करता है तथा जो दान आदि द्वारा इष्ट करता है वह भी अपने लिए ही इष्ट करता है । दूसरों का न भला कर सकता है न बुरा । यह जीव अपना स्वरूप बनाने के अतिरिक्त कुछ नहीं करता है । बुरे कर्म करने से हम अपने को ही नष्ट करते हैं, दूसरों का कुछ नहीं । यह आत्मा अपना ही काम करता है दूसरों का कुछ नहीं । जैसे दर्पण के पीछे दो बालक खड़े होकर क्रिया करते हैं । एक के द्वारा की गयी क्रिया को दर्पण में देखकर ही दूसरा सब कुछ बताता जाता जैसे ही अपने को पदार्थ के अनुसार ही परिणमित करके वर्णन करे

हैं लोग । प्राणी रुपया पैसा वैभव को ही सब कुछ समझता है जबकि ज्ञान के समक्ष सब कुछ व्यर्थ है । देखो सर्वत्र महिमा ज्ञान की ही है । सब लोग ज्ञान को ही जानते हैं और ज्ञान को ही बताना चाहते हैं । ज्ञानदान की बहुत बड़ी महिमा है । किसी भी प्रकार दूसरों को ज्ञान का दान देना चाहिये, चाहे पुस्तकें वितरण करके अथवा रुपया पैसा देकर, पढ़ाई कराकर या स्वयं पढ़ाकर आदि । सोचो जब हम दूसरों का कुछ नहीं कर सकते तब भगवान् के लिए क्या कर सकते हैं? जिस प्रकार बम्बई घूमकर आये हुये प्राणी को बम्बई का सम्पूर्ण दृश्य अपनी आंखों के समक्ष ही दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार जिसने अपने को पहिचान लिया उसे अपने में ही प्रभु नजर आते हैं । विपरीत अवस्था में दूर नजर आते हैं ।

जिस प्रकार शीशे (दर्पण) में हाथी जैसा विशाल प्राणी भी दिखाई देता है उसी प्रकार ज्ञान में सब कुछ प्रत्यक्ष झलकता है । यदि यह प्राणी किसी से राग करता है तो भी अपने लिए ही, द्वेष करता है तो भी अपने लिये ही । तात्पर्य यह है जो कुछ करता है सब कुछ अपने लिए ही करता है, दूसरों का कुछ नहीं । मैं नमस्कार करता हूं इसमें चाहे किसी को भी नमस्कार करने का उद्देश्य बनाया है किन्तु है सब कुछ अपने लिए ही । भगवान् को नमस्कार क्या दर्शकों को दिखाने के लिए करते हैं ? मन्दिर में जाकर नमस्कार करना दिखावा करना हो सकता है परन्तु अपने में ही अपने द्वारा अपने को अपने लिए अपने आप अपने उद्धार के लिए नमस्कार किया जाता है । नमस्कार का तात्पर्य है, मैं अपने में अपने लिए अपने आप समाकर सुखी होऊं ।

ज्ञानशक्ति, दर्शनशक्ति, चरित्रशक्ति की तरह ही आनन्दशक्ति है । जो जो अनुभूति बनती हैं वे सब अपने से ही बनती हैं । जब यह प्राणी आत्मानन्द का स्वाद एक बार आस्वादन कर लेता है तब उसे अन्य सब कुछ व्यर्थ लगता है । विलक्षण है ये आत्मानन्द की अनुभूति उस स्थिति में प्राणी सोचता है कि मेरी यह आत्मा के आनन्द की अनुभूति निरन्तर बनी रहे अन्य कुछ नहीं । परमार्थ से अध्यात्मतत्त्व को ही नमस्कार किया जाता है । समवशरण में भी भगवान् की मूर्ति ही नजर आती है । मन्दिरों में जो मूर्ति हैं वह स्थापित मूर्ति है । आंखों से देखने पर मुद्रा ही नजर आती है । ज्ञानमय ही भगवान् हैं । सो अपने में मैं अपने को नमस्कार करता हूं और पर परात्पर आत्मा को भी नमस्कार करता हूं । अपनी प्राप्ति होना ही अपना नमस्कार है । अपने आत्मतत्त्व की प्राप्ति होने पर राग का स्वयं अभाव होने लगता है । जिसने अपने आपको प्राप्त किया है ऐसा वह परमात्मा भी मेरे स्वभाव के अनुरूप है।

अतः मैं अपने में अपने आपको व परमात्मा को नमस्कार करके अपने लिये अपने आप में स्वयं सुखी होऊं ।

यादृक् सिद्धात्मनो रूपं तादृशं निजात्मनः ।

भ्रान्त्या क्लिष्टस्तु संसारे-स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१२॥

अर्थ- जैसा स्वरूप सिद्धात्मा का है, शक्ति की अपेक्षा से वैसा स्वरूप निज आत्मा का है, परन्तु संसार में भ्रम से क्लेश को प्राप्त हुआ , अब भ्रमरहित होता हुआ मैं अपने में अपने लिये स्वयं सुखी होऊं ।

मुमुक्षु प्राणियों को विचार करना चाहिए कि जैसा सिद्ध प्रभु का स्वरूप है वही मेरा है, जैसा मेरा स्वरूप है वही सिद्ध प्रभु का है । स्वयं के स्वभाव को लिए हुए सत्तावाला वही मैं हूँ । जैसे गरम जल व ठंडा जल, इन दोनों प्रकार के पानी का स्वभाव ठंडा है । उसी प्रकार जैसा स्वभाव सिद्धों का है वही मेरा है । मैं संसार पर्याय में होते हुए भी सिद्धों के समान स्वभाव वाला ही हूँ । ऐसा विचार कर सिद्धों की उपासना करने से लाभ होता है, अन्यथा कोई उनका दर्शन ऐश्वर्य धन-दौलत के लिए तो किया नहीं जाता है । उनमें कर्ता व दाता की बुद्धि जीवों को नहीं करनी चाहिये । हे प्राणियो ! सिद्धों का स्वरूप तो अपना स्वरूप समझने के लिए दर्पण के समान है । जिस प्रकार दर्पण को देखकर अपने चेहरे का भाव होता है । कोई भी उस दर्पण का चेहरा देखने के लिए दर्पण नहीं देखता उसी प्रकार प्रभु को देखकर हमें अपने स्वरूप को समझना चाहिये । नहीं तो फिर दर्शन करने से क्या लाभ जब हमें यही नहीं पता कि हम दर्शन क्यों कर रहे हैं ? उनसे फलकी वाञ्छा रखकर दर्शन नहीं करना चाहिए, क्योंकि वे कर्ता दाता तो हैं नहीं । भगवान् तो पूर्णविकासमय गुणपुञ्ज हैं ।

उनका दर्शन आकार में नहीं होता क्योंकि वे तो शुद्ध व पूर्णज्योतिपुञ्ज हैं । जिनके कि ध्यान में सारा विश्व प्रकाशित होता है । भगवान् का नाम नहीं होता अपितु नाम तो पर्याय का होता है । जो वस्तु व्यवहार से आवे उसका नाम रखा जाता है । जो भगवान् है उसका नाम नहीं और जिसका नाम है वह भगवान् नहीं भगवान् तो उपासना का विषय है । भगवान् एक दूसरे का कार्य करने वाला नहीं है तथा ऐसा ही रूप अपनी आत्मा का भी है । मैं एक वस्तु हूँ तब अवश्यमेव कोई शक्तियुक्त हूँ क्योंकि जो सत् है उसमें उत्पाद व्यय अवश्य होंगे । कहा भी है कि “उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ।”

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरहित कोईभी द्रव्य नहीं है । मेरे अज्ञानपर्याय का व्यय होकर ज्ञानपर्याय का उत्पाद होकर निजस्वभाव में आनन्द बर्तेगा । अतः अपने आप में विश्वास बना लेना चाहिये कि जो मैं हूँ वह भगवान् है तथा मैं वही हूँ, जो भगवान् है — “मैं वह हूँ जो हैं भगवान्, जो मैं हूँ वह हैं भगवान्” । इससे आत्मबल बढ़ता है । इससे ज्ञाता दृष्टा रहने की शक्ति प्राप्त होती है, चिन्ताएं दूर होती हैं । जैसे एक कहावत है कि एक क्षत्रिय का बालक था व एक बनिये का बालक था । बनिये का बालक हृष्ट पुष्ट था, क्षत्रिय का कमजोर । दोनों में लड़ाई हो गयी । बनिये का बालक क्षत्रिय के लड़के को नीचे गिराकर ऊपर चढ़ बैठा । क्षत्रिय के बालक ने उससे पूछा कि भैया ! तुम किसके लड़के हो, उसने बताया कि मैं तो बनिये का लड़का हूँ, इतना सुनना था कि क्षत्रिय पुत्र को बल व जोश आया और झट ऊपर आ गया । सो भैया ! अपना स्वरूप सिद्धों के स्वरूप के समान समझने से आत्मबल बढ़ता है और एक विशेष प्रकार का आनन्द प्राप्त होता है ।

आपत्ति, विपत्ति, क्लेश, चिन्ता, यह सब ऐसा सोचने से कि मैं वही हूँ जो भगवान् हैं तथा जो भगवान् हैं वह मैं हूँ, नष्ट हो जाती है । सदा सब प्राणियों में समता का भाव रखना चाहिये । जो अनुकूल हैं उनमें भी यही प्रतीति करनी चाहिये कि सब सुखी हों तथा प्रतिकूल प्राणियों में भी समता का भाव रखना चाहिये । प्रतिकूल प्राणियों में करुणा भाव पैदा करके समता रखनी चाहिये क्योंकि ये

सभी जीव चैतन्यस्वभाव वाले ही हैं । यह प्राणी संसार में रहता है किन्तु उसमें संसार नहीं रहे तो यही जय का साधन है । यह संसार से बाहर कैसे रहे किन्तु फिर भी संसार में रहते हुए भी संसार से दूर रह कर अपने आपकी आत्मा का कल्याण करे । जैसे नाव पानी में रहती है, चाहे वह समुद्र का पानी हो या नदी का, किन्तु नाव में पानी नहीं । नाव में पानी आ जाने से नाव का ही अस्तित्व समाप्त हो जाता है ।

हम यदि वास्तविक स्थिति देखें तो पायेंगे कि हम लोग अपने सम्बन्धियों से तथा जिनसे मोह रखते हैं, उनसे ठगे जा रहे हैं तथा अपनी पर्याय इनके वंश ही बिगाड़ रहे हैं । अतः सर्वदा यही विचार करना चाहिए कि मेरा स्वरूप सिद्धों के समान है । यही आत्मा का धर्म है । इसके अभाव में ही हम लोग मन्दिर जाना, सामायिक करना आदि पुण्य के कार्य करते हैं ताकि उपयोग निज में लग जावे । सदा विचार करना चाहिए कि “भ्रांत्या क्लिष्टस्तु संसारे” मैं भ्रम में पड़कर संसार में भ्रमित हो रहा हूँ, इन सबसे हटकर क्यों न मैं अपनी आत्मा में रमकर सुखी होऊँ । इसे द्रव्यगुण पर्यायमय कहते हैं । द्रव्य की अपेक्षा मैं और सिद्ध एक समान हूँ । सिद्ध के गुण और मेरे गुण समान हैं । यदि अन्तर है तो केवल पर्याय का है । उनकी पर्याय शुद्ध व निर्मल है और हमारी मलिन है ।

अन्तरदृष्टि से देखें तो सभी जीव शुद्ध ज्ञायकस्वरूप एकरस हैं यही विश्वास अमृत है । हमें, मैं अमुक का पिता हूँ किसी का पति हूँ, धनशाली हूँ आदि संस्कारों को ज्ञानरूपी जल से धोकर नष्ट करना चाहिये । मैं ज्ञानमय हूँ — इस विचार के पश्चात् बाकी सब माया है । मैं तो अनन्त आनन्द का निधान हूँ फिर क्यों थोड़े आनन्द के लिए छटपटाता रहूँ, क्यों कल्पना कर संसार में भटकता रहूँ ?

अनेक कठिनाइयों से प्राप्त हुए मानव जीवन को विषय कषायों में नष्ट नहीं करना चाहिए । अपनी ही सीधी सीधी बात न समझ कर प्राणी भ्रम करते हैं कि मैं अमुक शहर का रहने वाला हूँ अमुक जातिका हूँ । इन सब संस्कारों को कभी न कभी तो अवश्य ज्ञानरूपी जल से धोना पड़ेगा । मेरा स्वभाव तो भगवान् के स्वभाव की तरह है, अतः बाह्यभ्रमों में पड़ना व्यर्थ है । देखो भैया ! भगवान् के पास क्या है केवल ज्योति पुञ्ज आत्मा फिर भी सब प्राणी उन्हें नमस्कार करते हैं । फिर क्यों न हम भी उनके समान गुण धारण करें ? क्यों न वैसा ही बना जावे ? इतना जान भी लेना सन्तोष जनक होता है कि मैं सिद्ध भगवान् के स्वरूप के सदृश हूँ । यदि उपयोग नहीं लगता तो ऐसा विचार करने से भी तो आनन्द ही प्राप्त होता है । ऐसा होते-होते दृढ़ज्ञान हो जावेगा । क्योंकि अन्त में सबकी शरण ज्ञान ही है । यदि कोई करोड़पति क्यों न हो जब तक उसका पुण्य उदय है तब तक भले ही मजे करले किन्तु फिर भी उस समय में किये गये बुरे परिणाम आगे गति बिगाड़ देंगे । “मैं सुखी दुखी, मैं रंक राव, मेरे धन गृह गोधन प्रभाव । मेरे सुत तिय, मैं सबलदीन । बेरूप सुभग मूरख प्रवीण ।” आदि पर्याय बुद्धि परिणाम दुःख का ही देने वाला है । मैं तो ज्योतिस्वरूप अमूर्त आत्मा भगवान् के समान स्वभाव वाला हूँ— ऐसा सोचते हुए भगवान् को नमस्कार करें ।

सुख यहाँ प्रथम भाग

इसके भीतर के मर्मपर दृष्टि रखो तथा बाह्य सब छोड़ो तथा अपने को पहिचानो । मुझे अमुकने गाली दी ऐसा मन में भाव लाना ही दुःखजनक है । भैया ! अपने से प्रतिकूल जीवों पर भी करुणा कर समान भाव पैदा करो । सोचो कि ये जो प्रतिकूल प्राणी हैं, ये अज्ञानी हैं । जिन्हें अपनी आत्मा के स्वरूप का ज्ञान ही नहीं है । वे अपने स्वभाव को जान जावें ऐसी करुणा उनके ऊपर करनी चाहिये । किसी भी जीव से घृणा नहीं करनी चाहिये । जगत् में कोई भी जीव घृणा का पात्र नहीं है ।

सब जीवों का सहजस्वरूप टंकोत्कीर्णवत् स्वतः निश्चल एक ज्ञायकस्वरूप है । द्रव्यदृष्टि से देखो तो निर्विकल्प अनादि अनन्त अहेतुक चेतन तत्त्व है । गुणदृष्टि से देखो तो सभी ध्रुवशक्तिमय हैं अतः सिद्धप्रभु में और समस्त जीवों में कोई अन्तर नहीं है । केवल वर्तमान परिणतिकी दृष्टि से देखने पर अन्तर दिखता है । सिद्धप्रभु तो शुद्ध विलासरूप हैं और संसारी जीव अशुद्ध विलासरूप हैं । यह अन्तर है, चूंकि भोगने में तो परिणति ही आती है अतः महान् अन्तर है तो भी यह परिणति जीव के स्वभावकृत नहीं है, किन्तु निमित्तनैमित्तिकभावपद्धतिविहित है । अतः मूल में कुछ भी अन्तर नहीं है ।

सिद्धप्रभु की तरह शुद्ध केवल ज्ञानमय बनने का क्या उपाय है ? अपने आपको केवल निरखना, ज्ञानमय निरखना केवलज्ञानी बनने का उपाय है । हम अपने को जिस रूप में निरखेंगे उस रूपकी प्राप्ति होगी । अतः हम अपने को यथार्थ सहज निजस्वरूप जैसा है वैसा ही चित्स्वभावरूप अपने को अनुभवें । मैं स्वतः सत् हूँ, स्वतः परिणामी हूँ, स्वतन्त्र हूँ, विज्ञानानन्दघन स्वच्छ अविनाशी हूँ—इस प्रकार अपना अनुभव करो । सत्य सुखी होने का यही एक उपाय है ।

विश्वतो भिन्न एकोऽपि कर्ता योगोपयोगयोः ।

रागद्वेषविधाताऽऽसम्-स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१-३॥

अर्थ— समस्त पदार्थ से न्यारा अकेला होने पर भी मैं योग अथवा आत्मा के प्रदेश परिस्पन्द तथा उपयोग का कर्ता और राग द्वेष का करने वाला हुआ । अंत भ्रांति रहित होता हुआ मैं अपने में अपने लिये स्वयं सुखी होऊँ ।

इस जगत् के अन्दर अनन्तानन्त जीव हैं, अनन्तानन्त पुद्गल हैं । धर्म एक है, अधर्म एक है, आकाश एक है, असंख्यात कालद्रव्य है किन्तु फिर भी प्रत्येक परमाणु सारे अनन्तानन्त परमाणुओं से भिन्न हैं । सारे अनन्तानन्त परमाणु भी प्रत्येक परमाणु से भिन्न हैं । एक स्कन्ध की अपेक्षा भी प्रत्येक परमाणु अपने क्षेत्र में ही परिणमन करता है । कोई भी एक परमाणु अनन्तानन्त परमाणुओं से भिन्न है । सत् की अपेक्षा धर्म, अधर्म आकाश, काल भी जुदा जुदा हैं । स्कन्ध में परमाणुओं का परिणमन सामूहिक रूप से होता है किन्तु फिर भी प्रत्येक परमाणु अपने-अपने क्षेत्र में ही परिणमन करता है । इसी प्रकार प्रत्येक जीव अनन्तानन्त जीवों से जुदा है । यह प्राणी जो मोह माया में फंसकर रातदिन विचरता रहता है कि यह मेरा है, यह मेरे घर का है, यह सब व्यर्थ है क्योंकि अपने स्वभाव से बाहर अपना क्या है? चैतन्यस्वभाव के अतिरिक्त ये वैभव ये ठाठ वाट सब व्यर्थ हैं । जिसने अपना स्वभाव समझ लिया उसके लिए ये सब

बातें निस्सार लगती हैं । मेरी आत्मा सारे विश्व से भिन्न है । मैं एक हूँ, मैं सबसे न्यारा हूँ इस प्रकार विचार करना चाहिए । मैं निजी दो बातों को छोड़ कर किसी का कुछ नहीं करता — (१) योग (२) उपयोग । मैं कदाचित् इन दोनों का ही कर्ता हूँ अन्य कुछ नहीं करता हूँ । मेरी आत्मा के प्रदेशों में जो हलन चलन होती है उसी का नाम योग है और जो गुणों का प्रयोग है, प्रवर्तना है उसका नाम उपयोग है । इन दोनों के अतिरिक्त मैं कर ही क्या सकता हूँ ? सिद्ध भगवान् शुद्ध उपयोग के कर्ता हैं । शेष जीव यथायोग्य शुभ, अशुभ व शुद्ध उपयोग के कर्ता हैं । ये जगत् के जितने परिणमन होते हैं सब एक दूसरे को यथायोग्य निमित्त करके सतत होते रहते हैं । आत्मा तो दूसरे कार्यों की चेष्टा का स्वयं ही अकर्ता है । जैसे रोटी बनायी, अब बताओ आत्मा ने इसमें क्या कार्य किया ? आग जलाई या आटा गूँथा, क्या किया ? अरे भैया ! वह अपनी जगह ही स्थिर है । आत्मा के प्रदेशों के योग के निमित्तसे शरीर में वायु का संचार हुआ जिससे अंगों में हलन चलन हुआ और उस प्रसंग में उपस्थित कोई चीज रोटी बना गयी । मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि या सिद्ध कोई भी अपने आप में परिश्रम करने के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं करता है । बाकी अन्य पदार्थों में कर्तव्य समझना ये सब मोह माया का जाल है ।

जैसे स्वप्न में हम देखते हैं कि मैं जंगल में जा रहा हूँ, वहाँ शेर मिल गया, उसने मुझे पञ्जा मारा, खून बहने लगा, बेहोश हो गया । यह सब उस समय सत्य ही प्रतीत होता है । स्वप्न में यह अनुभूति नहीं होती कि मैं यह जो सब कुछ देख रहा हूँ झूठ है, वास्तविकता इसमें कुछ नहीं । किन्तु इसके विपरीत ही प्रतीति होती है । आंख खुलने पर मालूम होता है कि मैंने जो कुछ देखा है यह सब असत्य है । इसी प्रकार मोह में पड़ा हुआ प्राणी भी इन सब बातों को सत्य जान रहा है कि यह मैं गरीब हूँ, यह मेरा घर है, यह मेरा पुत्र है आदि यह सब तो एक प्रकार का स्वप्न ही है ।

रात को जो हम देखते हैं, ४-५ घंटे की नींद में जो होता है, यह कुछ उससे लंबी निद्रा है किन्तु मेरा स्वभाव तो चैतन्यस्वरूप है, इसके अतिरिक्त सब झूठ है, बकवास है, इस प्रकार से विचार करना चाहिए । जैसे एक शहर में एक पगड़ी रंगने वाला रहता था । वह आसमानी रंग की पगड़ी रंगना बहुत अच्छी प्रकार जानता था । उसके पास कोई पीला रंग दिलवाने के लिए अपनी ओढ़नी लाया, कोई नीला रंग दिलवाने के लिए लाया, कोई लाल, कोई हरा आदि । उन सबसे वह रंगरेज बोला कि भैया ! चाहे किसी भी रंग की रंगवालो किन्तु सबसे बढ़िया रंग तो आसमानी खिलता है । इसी प्रकार यह करो, वह करो, कुछ भी करो, आत्मीय आनन्द पाने के लिये तो निज सहज स्वरूप की दृष्टि करनी होगी । आनन्द तो निजदृष्टि से ही मिलता है । उन सब बातों को छोड़कर एक ही काम करो जो आत्मोद्धार का मार्ग है । एक ही उत्तम बात है वह है स्वानुभूति । इसके अलावा कुछ भी तो हित नहीं है । धर्म के लिए मात्र चैतन्यस्वभाव की अनुभूति के अतिरिक्त क्या काम है कुछ भी तो नहीं । यही सर्वदा सोचो कि मैं अपने में अपने लिए अपने को अपने आप अपने द्वारा ही सुखी हो सकता हूँ । कर भी सकता हूँ तो मात्र अपनी ही परिणति, उसके अतिरिक्त मैं और कुछ नहीं कर सकता । ये सामायिक करना

दर्शन करना आदि के भी उपयोग अपनी आत्मा की ओर अपने को करने के लिए ही हैं। छोटे कार्य में न लगकर स्वकी अनुभूति की ओर झुकें, अतः सामायिक आदि किया जाता है। मैं तो समस्त द्रव्यों से भिन्न हूँ तथा समस्त द्रव्य मुझसे भिन्न हैं। क्योंकि मैं एक हूँ। रागद्वेष ही संसार में रुलाने वाले हैं। मोह की भित्ति से टकराकर यह उपयोग दो रूप में बंट जाता है, एक राग की ओर, एक द्वेष की ओर। जैसे नदी का बहता हुआ पूर पुल के बीच लगे खम्भे से टक्कर पाकर दो धारा में बहने लगता है। उसी प्रकार मोह की टक्कर पाकर यह उपयोग रागद्वेष इन दो रूप में प्रवाहित हो रहा है। यदि परपदार्थ एक ही हो तब कोई गड़बड़ी नहीं होगी किन्तु अनेक पर पदार्थों के मिलने पर रागद्वेष के भाव पैदा होते हैं। जहां दो होते हैं वहां द्विविधा होती है। एक पिता के यदि एक लड़का है तब तो कोई बात नहीं होगी किन्तु दो या अधिक होने से रागद्वेष की भावनाएं होती हैं। एक से द्वेष अवश्य ही होगा। मैं अज्ञानवश अपने स्वरूप को भूलकर रागद्वेषरूप दो धाराओं में बह रहा हूँ। अतः रागद्वेष को छोड़कर मैं स्वयं में सुखी होऊँ।

मैं परपदार्थ का उपादान से भी कर्ता नहीं हूँ, तो क्या निमित्त से हूँ? नहीं, निमित्त से भी कर्ता नहीं हूँ। योग उपयोग ही निमित्तरूप से कर्ता हैं। ये योग और उपयोग भी क्षणिक ही हैं किन्तु आत्मा क्षणिक नहीं। योग उपयोग की जो तरंग उठती है, वह कर्ता है। आत्मा तो निमित्त से भी कर्ता नहीं है। योग उपयोग का कर्ता आत्मा है अर्थात् वह आत्मा की परिणति है। जो ध्रुव है वह दूसरे की परिणतिका भी निमित्तकर्ता नहीं होता, कर्ता अध्रुव ही होगा।

प्रत्येक पदार्थ अन्य प्रत्येक पदार्थ से भिन्न है। मैं भी बाह्य पर पदार्थों से दूर हूँ। बाह्यपदार्थों की दृष्टि करके व्यर्थ के विकल्पपरिणमन होते हैं। इन सब विकल्पों को छोड़कर मैं अपने में, अपने आप, अपने लिए, अपने द्वारा सुखी होऊँ। रागद्वेष के कारण उत्पन्न संताप की स्थिति में भी यदि स्वकी अनुभूति कर लो, संताप दूर हो जावेगा। अपने आप की अनुभूति ही आनन्ददायक है। अपने आपका दर्शन हो, आत्मा में ही रति हो, आत्मा में ही रुचि हो। इसके अतिरिक्त कोई सहायक नहीं है। यह सब कषाय वालों का मेल है। अतः इन सबसे कोई फायदा नहीं होगा। जिससे जिसकी कषाय मेल खा गई उससे मित्रता, मेल न खानेपर शत्रुता होती है। अतः सभी स्वार्थी हैं। वैसे ये सब स्वानुभूति के समक्ष व्यर्थ हैं। सर्व पदार्थों को जिन्हें भी जानो, जितना उनका सत्तासिद्ध स्वरूप है उसी रूप में जानो। आत्मसुख यथार्थज्ञान में मिलेगा अन्यत्र नहीं मिलेगा।

न करोमि न चाकार्षम् न करिष्यामि किञ्चन ।

विकल्पेन मुधा त्रस्तः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१९४॥

अर्थ— मैं न कुछ करता हूँ और न मैंने कुछ किया तथा न मैं कुछ करूँगा, परन्तु व्यर्थ विकल्प से दुखी हुआ हूँ, अब निर्विकल्प होता हुआ मैं अपने में अपने लिये स्वयं सुखी होऊँ।

किसी भी पदार्थ को न मैं कुछ कर सकता हूँ, न आज तक कुछ कर सका हूँ, न आगे कर ही सकूँगा। सब पदार्थ स्वयं सत्ता वाले हैं। वस्तु सत् तो है, किन्तु अन्य सभी रूप से सत् नहीं हो जाती

है अन्यथा कुछ भी न रहेगा, अतः प्रत्येक वस्तु अपने चतुष्टय से सत् है, परके चतुष्टयसे नहीं। यह वस्तु के वस्तुत्व गुण का प्रताप है। वस्तु में परिणित होना, स्वभाव से सिद्ध है। वे अपने आप परिणमन करते हैं। वस्तु अपने चतुष्टय में द्रव्यत्व गुण द्वारा परिणमनशील है। वह निरन्तर परिणमन करता रहता है। एक क्षण के लिए भी द्रव्य का परिणमन बन्द नहीं होता, यह द्रव्यत्व गुण का प्रताप है।

अस्तित्व गुण यदि यह भाव करे कि मैं सत् हूँ, ऐसा मुझे आदेश हुआ है और स्वच्छन्द होने लगे तो इसका मुँह बन्द करने के लिए वस्तुत्व गुण मौजूद है। उसकी आज्ञा है कि तू अपने चतुष्टय से ही सत् रह सकता है पर के चतुष्टय से नहीं। इस प्रकार कि मैं सत् रहूँ और उत्पाद व्यय से भिन्न रहना चाहे तो उसको द्रव्यत्व गुण दबाता है कि तुझे निरन्तर परिणमन करते रहना होगा। यदि द्रव्यत्व गुण कहे कि मैं तो परिणमाऊँगा, किसी रूप परिणमाऊँ तब द्रव्यत्व गुण को अगुरुलघुत्व गुण दबाता है कि तू अपने में परिणमनशील है, अतः अपने में ही परिणमन कर। यह न हो कि स्वच्छन्द हो जावे। यदि तू ज्ञान गुण वाला है तो ज्ञानोदयरूप ही परिणमन कर इत्यादि। प्रदेशत्व गुण आधार बताता है, प्रमेयत्व व्यवस्था करता है। सभी द्रव्य स्वतंत्र हैं। इस प्रकार सबके साधारण छः गुण हैं। अतः किसी का न कुछ कर सकता हूँ, न बिगाड़ सकता हूँ, न बना सकता हूँ, न मेरा यह स्वभाव ही है, मैं तो चैतन्यस्वरूप हूँ। यदि इस प्रकार का भाव क्षणभर को भी दृष्टि में आ जावे तो परपदार्थ का तुरन्त त्याग हो जावे। अपनी श्रद्धा ही तो बदलनी है, चारित्र तो अपने आप आ जावेगा। अतः श्रद्धा को अपने भीतर लाने के लिए इस प्रकार का विचार करना चाहिए।

लोक की देखादेखी पर मुग्ध न होकर अपनी ओर दृष्टि करना चाहिए। एक कथा है कि बाप बेटा दोनों चले जा रहे थे। बाप घोड़े पर बैठा था और बेटा पैदल चल रहा था। आगे गांव के आदमी बोले कि यह आदमी कितना बेवकूफ है, कितना स्वार्थी खुदगर्ज है कि स्वयं तो घोड़े पर बैठा है और लड़के को पैदल चला रहा है। बाप ने कहा कि बेटा तू घोड़े पर बैठ जा, मैं पैदल चलता हूँ। दूसरे गांव वाले इस दशा में इन दोनों को देखकर बोले कि यह लड़का कितना मूर्ख है, नालायक है कि स्वयं तो घोड़े पर बैठा है और बाप को पैदल चला रहा है। इस बात को सुनकर उन्होंने विचार किया कि दोनों ही बैठ जावें और दोनों घोड़े की पीठ पर बैठ गये। तीसरे गांव में पहुंचे तो सब ग्रामवासी बोले कि मालूम पड़ता है यह घोड़ा इन्होंने किसी से मांगा है इनका स्वयं का नहीं है, जो दोनों के दोनों उसकी पीठ पर लदे हुए हैं, मुफ्त का समझकर बेचारे पर दयाभाव नहीं रखते। बहुत विचारने के पश्चात् वे दोनों पैदल चलने लगे तथा घोड़ा साथ-साथ कर लिया। आगे चौथे गांव में पहुंचने पर उसके ग्रामवासी बोले कि ये कितने मूर्ख हैं कि स्वयं पैदल चल रहे हैं और घोड़ा ऐसे ही खाली चल रहा है। इसपर बैठकर ये जा सकते थे। देखो भैया, यहां पर चार ही बात तो हो सकती थीं—बाप, बेटा, उभय, अनुभय। जैसे कि दर्शन में (१) सत् (२) असत् (३) उभय (४) अनुभय चार बातें हैं। पांचवीं बात तो नहीं हो सकती, क्योंकि इतनी तो दोनों में ताकत नहीं कि वे घोड़े को कन्धे पर लादकर चल सकते। अतः भैया! दूसरों से प्रशंसाकी इच्छा रखना व्यामोह को प्रवृत्त करना है। ये

धन, रुपया ऐश्वर्य आदि अपने में ही परिणमन करते हैं। तब इनमें फिर क्यों मोह रखा जावे ? हे प्राणियो! जैसा वस्तुओं का स्वरूप है वैसा मान तो तो फिर स्वयं ही सुखी हो जावोगे। भैया ! सच्ची बात को सच मानने में क्या बुराई है ? श्रद्धा से च्युत हुआ प्राणी इस संसाररूपी समुद्र से पार नहीं हो सकता, चारित्र से च्युत होकर श्रद्धा का आश्रय पाकर फिर भी कभी पार हो सकता है। अतः अपनी श्रद्धा ठीक रखनी चाहिये। रत्नत्रयकी पूर्णता क्रमशः होती है। जैसे जीवों का सम्यक् दर्शन होता है तो उन्हें तीन ही तैयारियां करना होती हैं, अधःकरण, अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरण ये क्रमशः होंगे। चारित्र को विकसित करने के लिए अणुव्रत धारण करना चाहिये। अपने ज्ञान आदि अपने सहायक हैं। हमें यदि धर्मसाधना में कोई सहायक है तो वह भी तभी जबकि हममें कुछ बल है। जैसे किसी रोगी को डाक्टर दवा आदि पिलाकर ठीक करता है, वह तभी तो सम्भव है जबकि उसमें जीवित रहने की शक्ति अवशेष है। अन्यथा दवाई का असर वह कैसे सहन कर पाता ? अपनी ही श्रद्धा, अपना ही ज्ञान, अपना ही दर्शन, यह ही सर्वस्व सार है, अन्य कुछ नहीं।

अगर धन आदि छूट जाता है या इसका त्याग हो जाता है तो इसमें हमारा क्या नुकसान है ? यदि ये प्राणी मिले हुए ऐश्वर्य धनादि में अनासक्ति की बुद्धि रखकर चलता है तो निश्चित आगे उसे इससे भी तिगुना प्राप्त हो जाता है। पूर्वजन्म में हमने उपेक्षा की होगी तभी तो आज यह ऐश्वर्यादि हमें उपलब्ध हैं। एक नगर में एक सेठ रहता था। सेठ तो ऊपर के कमरे में रहता था तथा नौकर नीचे के कमरे में रहता था। एक दिन उसके यहां कुछ चोर घुस आये। वह नौकर सर्वदा एक दोहा बोलता रहता था कि—“कौन जावेगा लेने, देंगे खुद बुलाकर। होंगे दयालु तो देंगे खुद आकर”। तो वह इस प्रकार दोहा बोल रहा था कि चोरों को देखकर बोला कि यहां क्या खोदते हो, अरे उस पेड़ के नीचे खोदो जहां रुपयों का हण्डा दबा हुआ है, यहां क्या रखा हुआ है ?

चोरों ने वैसा ही किया। वास्तव में वहां खोदने पर उन्हें हण्डा मिल गया उसके ऊपर एक तवा ढका हुआ था। तवे को उन्होंने उठाया तो उसमें से तैंतें निकल-निकल कर उन्हें काटने लगे, उन्होंने सोचा कि इसे जाकर उस नौकर के ही ऊपर उंडेल देना चाहिये ताकि ये तैंतें उसे ही काटें। उन्होंने जाकर खोदे हुए कमरे के उस स्थान में उसे उल्टा करके पलट दिया। पीछे की तरफ अशरफियां भरी हुई थीं, अतः सब अशरफियां उस गड़ढे में भर गयीं। नौकर उपरोक्त ही दोहा पढ़ रहा था कि ‘होंगे दयालु तो देंगे बुलाकर, कौन जायगा लेने, देंगे खुद आकर।’ देखो उसने धन के प्रति उपेक्षा भाव रखा तो खुद उसके घर में धन की वर्षा हुई और धनकी लालसा रखे हुए अगले जन्म में मुझे धन प्राप्त हो, ऐसा सोचकर ऊपर से ही उपेक्षा दिखाये तो यह भी ठीक नहीं है। वस्तु स्वयंसिद्ध है तथा स्वतः परिणामी भी है। हमारा स्वभाव भी परिणमनशील है। तब मैं दूसरों में क्या करूं तथा दूसरा मुझमें क्या करे? प्रत्येक परमाणु अपने में ही परिणमन करता है। हमेशा सब कुछ करते हुए भी अपने भाव यही रखें कि यह सब असार है, संसार असार है। यथार्थ श्रद्धा का भाव रखना चाहिये। यदि ऐसा न कर सके तो बरबादी के सिवाय कुछ हाथ नहीं लगेगा। बुद्धिमानी इसी में है कि अपनी श्रद्धा यथार्थ बनाये रहो।

96

सम्यग्दृष्टि जीव चक्रवर्ती की सम्पदा तथा इन्द्रादि के भोगों को कौवे की बीट की तरह समझते हैं अर्थात् वे विद्यमान वस्तुओं में उपेक्षा का भाव रखते हैं । मैं परपदार्थ का न कुछ कर सकता हूँ, न कुछ कर सका, न कर सकूंगा । केवल विकल्पों से, कल्पानाओं से दुःखी हो रहा हूँ । अतः इन सब विकल्पों को छोड़कर मैं अपने में, अपने लिये, अपने द्वारा, अपने आप सुखी होऊँ ।

स्वरागवेदनाविद्वद्भवे स्वस्यैव शान्तये ।

नोपकुर्वे च नो शान्तिः - स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१५॥

अर्थ- मैं अपने राग की वेदना से वेधा हुआ अपनी ही शान्ति के लिये चेष्टा करता हूँ न दूसरों का उपकार करता हूँ और न उससे शान्ति होती है, अब सच्ची दृष्टि वाला होता हुआ मैं अपने में अपने लिये स्वयं सुखी होऊँ ।

मैं अपने अन्तरंग की वेदना से बीधा गया । अपनी शान्ति के लिए चेष्टा कर रहा हूँ । स्वयं की जो मेरी पीड़ा है उसे सहन न कर पाने के कारण ही शान्ति प्राप्त करने की चेष्टा कर रहा हूँ । इससे मैं किसी का उपकार नहीं कर रहा हूँ । ग्रन्थकार भी ग्रन्थ लिखने का यही कारण बताते हैं कि संसारी जीवों का दुःख देखकर मुझे दुःख हुआ । अतः अपनी वेदना को शान्त करने के लिये ही मैंने ग्रन्थ लिखा । इसमें परोपकार कैसा? मैंने जो कुछ किया वह अपनी शान्ति के लिए ही तो किया । किसी द्रव्य का किसी अन्य द्रव्य में परिणमन हो ही नहीं सकता । फिर किसी भी पदार्थ में इष्ट, अनिष्टबुद्धि व कर्तृत्वबुद्धि क्यों हो ? वीतराग ज्ञान अर्थात् रागद्वेषरहित ज्ञान न होने के कारण क्लेश ही है ।

दूसरों को दुःखी देखकर आचार्यों को अनुकम्पा हुई, अनुकम्पा उसे कहते हैं कि दूसरों को दुखी देखकर हृदय पसीज जाना । अतः उस अपनी वेदना से बिंधकर ही आचार्यों ने चेष्टा की और ये शास्त्र बन गये । उनकी ये भावना नहीं थी कि मैं उपकार कर सकता हूँ या करूंगा । बल्कि इस चेष्टा में उपकार हो गया । अतः इससे आत्मज्ञान तथा आत्मध्यान का मौका मिल गया । छठे गुणस्थान में ऐसे भाव मिल जाते हैं कि छठे गुण स्थान से सातवें गुणस्थान में आ जाता है । अतः वे ऐसे शुभोपयोग का ध्यान किया करते हैं जो ध्यान में बढ़ने का बाधक न हो । गृह सम्बन्धी वेदना से, राग की वेदना से जो चेष्टा की जाती है वह शुद्धोपयोग की दृष्टि से हेय है । आत्मध्यान अति दुष्कर है, किन्तु स्वाधीन होने से अति सरल है ।

शुभोगपयोग में रहने वालों को लौकिक सुख होता है । किन्तु शुद्धोपयोगियों को परमात्मीय आनन्द होता है । आत्मानुभव के लिये, धर्म की प्रेरणा के लिये शुभोपयोगियों का जल्दी मन हो जाता है, किन्तु विषयों में राग होने पर इस ओर को ध्यान होना कठिन होता है । इस कारण शुभोपयोग का भी उपदेश है । जिन्हें शुद्धोपयोग हुआ उन्हें शुभोपयोग के बाद ही हुआ । वैसे असंयतसम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान वाला जीव राग, विषयभोग आदि के होते हुए भी उनमें उपेक्षाभाव रखता है । विषयभोगों में रहते हुए भी यही सोचते हैं कि कब और कैसे यह छूटें ? देखो, कितना कठिन कार्य है यह कि उनको करता भी

सुख यहाँ प्रथम भाग

है और झंझट भी मानता है । कितने ज्ञानबल की बात है । और मैं केवल रागचेष्टा में लगा हुआ हूँ, दूसरों का उपकार क्या कर सकता हूँ ? ऐसा ज्ञानी जीव सोचते हैं । किसी जीव को दुःखी देखकर या भूखा देखकर रोटी दी तो उसमें हमने उसका क्या उपकार किया ? भैया ! स्वयं की शान्ति के लिए, स्वयं की वेदना से बिंधकर ही तो रोटी दी, यह तो स्वयं का ही उपकार हुआ । व्यवहार में जब हम ऐसा कहते हैं कि इसने उसपर दया की अथवा रोटी देकर उसका उपकार किया, किन्तु वास्तव में देखा जावे तो उसने स्वयं ही राग की वेदना से बिंधकर चेष्टा की इसमें उपकार कैसा ? एक जज था । एक दिन वह अपनी कार में बैठकर अदालत में जा रहा था । रास्ते में कीचड़ में पड़े हुए एक गधे को तड़फते देखा । कार रुकवायी और स्वयं ही उसको बाहर निकालने के लिए आगे बढ़े । साथ में जो चपरासी था उसने कहा भी कि आप क्यों निकाल रहे हैं, हम निकाल देते हैं किन्तु उसने कुछ बात न सुनते हुए अपने हाथों से ही उस गधे को बाहर निकाला । कपड़ों पर भी कीचड़ की छीटें लग गयीं । इतना समय नहीं था कि जाकर कपड़ा बदल आँवें, अतः उसी पोशाक में अदालत पहुंच गये । जब उनको सबने इस दशा में देखा तो सब आश्चर्यचकित रह गये कि आज क्या बात है जो जज साहब की ऐसी दशा है ? आज तक तो कभी भी बिना इस्त्री के कपड़े नहीं देखे, न ही गन्दे । फिर आज क्या बात हुई ? जिनका उनसे वार्तालाप होता था उन्होंने पूछा कि जज साहब क्या बात है, जो आज ऐसी दशा बना रखी है । साथ वाले नौकर ने सम्पूर्ण घटना सुनाते हुए बताया कि साहब बड़े दयालु हैं । रास्ते में गंधा फंसा था । मैं उठाने को तैयार था, किन्तु इन्होंने कुछ न सुनकर अपने हाथों से ही गधे पर दया की । तो जज साहब बोले—नहीं भैया ! मैंने जो कुछ भी किया, अपना ही उपकार किया, गधे का नहीं ।

सोचो, यदि मैं ऐसा न करता तो यहां आकर जब भी बीच-बीच में उसके तड़फने का वह दृश्य याद आता तब मैं उसी समय वेदना से बिंध जाता । अतः मैंने अपनी वेदना से बिंधकर ही उसको बाहर किया । झगड़ा आदि होने पर व्यवहार में ऐसा कहते हैं कि देखो भाई ! इसके ऊपर मैंने कितना उपकार किया, व्यापार के लिए रुपया दिया, सब सुविधाएं दीं किन्तु आज है कि मेरी बात ही नहीं सुनता, मुझे कुछ समझता ही नहीं है । ऐसी पीड़ा अज्ञान से, भ्रम से, कर्तृत्वबुद्धि से हुई । सोचकर तो देखो खुद ही तो तेरे अन्दर राग उत्पन्न हो रहा था जिससे तूने चेष्टा की, उपकार क्या किया ? वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है कि खुद ही में खुद का परिणमन हुआ करता है । एक किसान था व उसकी पत्नी थी । पत्नी चतुर थी । जरा अशिक्षित छोटे पुरुषों की ऐसी भावना रहती है कि जब तक औरत को पीटा न जाय तब तक उनपर रूआब नहीं गालिब होता । अतः किसान अपनी औरत को पीटने के लिए तरीके सोचता रहता था, किन्तु वह इतनी चतुर थी कि कभी अवसर ही नहीं देती थी । अतः एक दिन किसान ने खेत में जाकर एक बैल को उत्तर की दिशा में मुंह करके खड़ा कर दिया, दूसरे को दक्षिण की दिशा में । फिर उनके कन्धों पर जुआ रख कर हल फंसाकर खड़ा हो सोचने लगा कि आज जब भी वह रोंटी देने आवेगी तो अवश्य ही ऐसी कोई न कोई उल्टी बात कहेगी जिससे कि मैं उसकी पिटाई कर सकूंगा । निश्चित समय पर वह आई तथा दूर से ही यह दशा देखकर सोचने लगी कि आज यह क्या

बात है ? वैसे मेरे पति का दिमाग भी खराब नहीं , कोई ऐसी बात ही नहीं है जिससे ये ऐसा करें । कोई न कोई बात अवश्य है, अतः वह मन को समझाती हुई किसान को रोटी देती हुई बोली कि चाहे उल्टा जोतो चाहे सीधा जोतो अपना काम तो रोटी दे जाने का है अतः तो ये रोटियाँ । और इतना कहकर रोटी देकर चली गई । पीछे को मुड़कर भी नहीं देखा, न रुकी ही । सो भैया ! निश्चयनय की दृष्टि लगाकर सोचो तो पता लगेगा कि यह पदार्थ इतना ही है तथा इसका परिणमन इतने में ही है । किसी भी पदार्थ से मेरा भला बुरा नहीं —इस प्रकार विचार करने से दुःख स्वयं ही समाप्त हो जावेंगे । प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र है व स्वयं में स्वयं के लिए ही परिणमन करता है ।

स्वतन्त्रता का लक्षण है — सद्भाव या अभाव रूप निमित्त पाकर स्वयं का स्वयं में ही परिणमन । इतना ज्ञान यदि आ जावे तो हम भी भगवान् के परिवार में शामिल हो जावें । उनकी ज्ञानगोष्ठी के सहवासी हो जावें और यदि हममें वस्तुस्वातन्त्र्य की दृष्टि नहीं जगी तो हम उनसे दूर हैं, उनके आनन्द से परे हैं, तथा स्वयं से भी दूर हैं । अपने आप के स्वभाव की उपासना करनी चाहिये । परन्तु ऐसी दृष्टि प्रायः किसी की नहीं होती । ज्ञान खुद ज्ञान के स्वतः सिद्ध स्वरूप को जानने लगे तिस दृष्टि से, बिरले-ज्ञानी जीव ही ऐसी दृष्टि करते हैं । यहां पर भी मोही, मोह की ही बात चिल्लाते हैं किन्तु ज्ञानी जीव किसी की बात नहीं सुनते । जो विवेक मनमें आता है वही करते हैं । उद्धार की भावना करने वाला बहुतों की प्रशंसा न चाहकर दो चार ज्ञानी पुरुषों की प्रशंसा की आकांक्षा रखता है यह आत्मा स्वतः सिद्ध है अपने में परिपूर्ण है और यदि ऐसा विचार करें कि अज्ञानी जीव प्रशंसा करें तो क्या लाभ और ज्ञानी जीव प्रशंसा करें तो बहुत उत्तम है । इस प्रकार विचार कर अपना कल्याण करें । क्योंकि करता कोई किसी का कुछ नहीं । मैं भी अपनी राग की वेदना से बिंधकर अपनी ही कषाय पूर्ति का कार्यरूप उपकार कर रहा हूँ । अतः मैं वस्तु के स्वरूप को ध्यान में रखकर अपने में, अपने लिए अपने आप सुखी होऊँ । मैं यहां जो कुछ कर रहा हूँ वह अपनी रागवेदना से पीड़ित होकर अपनी शान्ति के लिए अपनी चेष्टा कर रहा हूँ, मैं पर का न उपकार करता हूँ और न अन्य किसी प्रकार का परिणमन करता हूँ । भ्रमपूर्ण परकर्तृत्व की दृष्टि में अशान्ति ही बसती है । मैं जैसा सहजस्वरूपमय हूँ वैसा ही मानने में मेरी शान्ति है । यही विचार जीवों को सदा करना चाहिये ।

याति नेतो न चायाति जातुचिक्लिञ्चिदन्यतः ।

खिन्नो हीनाधिकमन्यः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१७६॥

अर्थ— न यहां से (निज आत्मा से) कभी कुछ जाता है और न अन्य पदार्थ से कुछ आता है, मैं अपने को कम या अधिक मानता हुआ व्यर्थ खिन्न हुआ हूँ अब सच्ची दृष्टि वाला होता हुआ मैं अपने में अपने लिये स्वयम् सुखी होऊँ ।

यह आत्मा स्वतः सिद्ध है, यह आप अपने में परिपूर्ण है । जो भी पदार्थ है वह अपने में पूर्ण ही होता है , अधूरा नहीं । मैं भी अपने में परिपूर्ण हूँ । भले ही अशुद्ध योग्यता में बाह्य पदार्थ का परिणमन पाकर उल्टा परिणमन हो, किन्तु अधूरापन नहीं है । यह अधूरापन मोह से होता है । यह

सुख यहाँ प्रथम भाग

१६

हमारी इच्छा के अनुकूल कल्पना है, नहीं तो प्रत्येक पदार्थ पूर्ण है और परिणमन भी पूर्ण है । असीम विकास होने को पूर्ण कहते हैं । अधूरापन उसे कहते हैं कि ज्ञान में शक्ति तो अनन्तलोक व अनन्त आकाश को जानने की है किन्तु प्रत्येक समय परिणमन पूर्ण ही है । पर्याय भी पूर्ण है । रागादिका परिणमन भी पूर्ण ही है । अतः जितने भी आत्मा हैं वे सब अपने में पूर्ण ही हैं । किसी ने बनाया नहीं जो आधा बना और आधा न बना । अतः मेरा कुछ भी गुण व पर्याय बाहर नहीं जाता तथा न बाहर से ही कुछ मुझमें आता है । पति-पत्नी का आपस में जो प्रेम है तो क्या उनके गुण एकमय एक हो जाते हैं, नहीं । बल्कि पत्नी की आत्मा उसकी आत्मा में पूर्ण है और पति की आत्मा पति की आत्मा में पूर्ण है । पिता अपने में पूर्ण है और पुत्र अपने में पूर्ण है । किसी का भी तत्व अन्य में नहीं जाता । किन्तु व्यर्थ ही यह प्राणी मोह के कारण नाना कल्पना करके नाना प्रकार से क्लेश पाता है । संसारी प्राणियों में रागद्वेष के वश होकर छंटनी करता है यह मोही प्राणी कि यह मेरा है, यह पराया है आदि । परिणाम में होता क्या है कि यह मेरा है वह अमुक का है आदि तो कोई अभी बात नहीं । किन्तु यह तो अन्तरंग से ऐसा मानता है, अपने ऊपर अन्याय करता है । ये सब तो मोह के उबाल हैं अन्य कुछ नहीं, न सत्य ही है । दूसरे की आत्मा में और मुझमें कोई सम्बन्ध नहीं है । आत्मा के गुण और पर्याय दूसरे में नहीं जाते व दूसरों के मुझमें नहीं आते । जो अपने आपको मानता है कि मैं बड़ा आदमी बन गया हूँ या गरीब हो गया हूँ, कमजोर हो गया हूँ, यह सब मोह के कारण ही है । ज्ञान आदि निज वैभव तो स्वरसतः बढ़ेगा ही, घटेगा नहीं । व्यर्थ में मन खिन्न होता है । यहां तो ये सारे पदार्थ स्वयं परिणमनशील हैं, स्वतन्त्र हैं । इनमें कोई किसी अन्य को किसी अन्य का कर्ता माने, स्वामी माने तो यह मोहजालका प्रभाव है । इस जाल में उलझकर आनंद में कोई नहीं रह सकता । हम जब दुःखी होते हैं तब अपने ही मिथ्या विकल्पों के कारण दुःखी होते हैं अन्य कोई मुझे दुःखी नहीं करता । वे विकल्प भी बाहर कुछ काम नहीं करते, वे तो होकर मिट जाते हैं, किन्तु टेव यह पड़ गई है कि प्रत्येक आकुलता में यह दृष्टि रहती है कि अमुक पदार्थ यदि यों नहीं परिणमता तो मैं दुःखी न होता । परसे अपना परिणमन मानना मिथ्यात्व है । यह है अज्ञान-नाच । जितना भी दुःख होता है सब तेरे ही कसूर से होता है । यह प्राणी वस्तुत्व को नहीं पहिचानता कि न बाहर से कुछ मुझमें आता है, न मुझसे बाहर ही कुछ जाता है । अतः वे क्लेश करते हैं और दुःखी होते हैं ।

जैसे कहते हैं “मन चंगा तो कठौती में गंगा ।” यहां जो हो रहा है उसे होने दो, उससे मेरा क्या? इस प्रकार सोचने से मन चंगा हो जाता है । सब जीव अपने आप अपना ही परिणमन कर रहे हैं । सच बात तो यह है कि भैया ! भाररहित न होने तक वह श्रद्धा नहीं होती । सदा विचारें कि मैं तो ऐसा वस्तुतत्त्व हूँ जिसका आकार नहीं, नाम नहीं, इतने मात्र ही हूँ, इससे अधिक नहीं । इस प्रकार कभी तो विचार करना चाहिये । अपने को निरखें । ऐसी श्रद्धा हो जाने पर फिर क्या विपदा है । फिर उसे संकट ही क्या है? जिस प्रकाश औषधि से सब संकट दूर होते हैं उसी प्रकार उक्त तत्व विचारने से सब विपदाएं नष्ट हो जाती हैं । ये प्राणी विषापहारमणि आदि प्राणरक्षा के साधनों को तो दूढ़ते हैं, किन्तु हे प्रभु!

तेरा स्मरण नहीं करते। तेरा स्मरण करने से ऐसे-ऐसे चमत्कार होते हैं कि लोग देखकर आश्चर्यचकित हो जाते हैं, किन्तु स्मरण नहीं करते। वह परमात्मा अपने में ही तो है, किन्तु यह मोही प्राणी व्यर्थ में ही अपने को छोटा बड़ा समझकर प्रभुदर्शन से वञ्चित रहता है।

हे प्राणी! अपने वस्तुस्वरूप को संभाल, तेरे सब संकट दूर हो जावेंगे। मोह की बात रागद्वेष के संकट को मेटने का उपाय नहीं, अपितु संकट बढ़ाने का है। अपनी सर्वपरिणतियों से उपेक्षा करके सदा मैं अपने स्वरूप को अपने लक्ष्य में लेकर अपने में अपने लिए अपने आप सुखी होऊँ। यह प्राणी दूसरों को देखता है कि अमुक बहुत स्वार्थी है। उससे अपने को क्या तात्पर्य? वह अपना परिणमन अपने में ही करेगा। खुद खुदका ही काम करता है, कोई किसी का कुछ नहीं करता। ऐसी दृष्टि रहने पर ही भला है। ऐसी दृष्टि कभी सत्संग में और कभी एकान्त में व जब चाहे करना चाहिये। जब संहनन अच्छे होते थे। उस समय समस्याएँ इतनी जटिल नहीं, आज के समय में बहुत कठिन हैं। एकान्त में बलिष्ठ आत्मा ही रह सकता है। दस आदमियों के बीच बैठकर भी आत्मा की ओर ध्यान जावे, ऐसा वस्तुस्वरूप अपनी दृष्टि में रहे तो कोई संकट नहीं। वहाँ यह हो रहा है, लोग क्या कहेंगे— यह सब परदृष्टि है। वस्तुस्वरूपपर दृष्टि लगाने पर कोई संकट नहीं परकी दृष्टि ही संकट देने वाली है। अतः मैं पर की दृष्टि हटाकर स्वयं में स्वयं के लिए स्वयं को सुखी रखूँ।

देखो, वस्तु जितनी होती है वे सब शक्तिपिण्ड ही तो हैं। आत्मा भी वस्तु है, वह भी अनन्त शक्तियों का पिण्ड है। उन अनन्तशक्तियों में आनन्दशक्ति भी एक प्रधानशक्ति है। इस आनन्दशक्ति का प्रति समय परिणमन होता है, विकृत हो या अविकृत, यह उपादान निमित्तके प्रसंग वाली बात है। किन्तु सर्वत्र वह आनन्द मिला स्वयं के आत्मा में ही। सुख यहीं इसी निज आत्मा में है, अन्यत्र सुख ढूँढ़ना ही दुःख पैदा कर लेना है। अतः बाह्य की उलझन छोड़कर मैं अपने आपमें ही विश्राम पाऊँ। अब आगे कहते हैं कि वस्तु का स्वरूप स्वतन्त्रता है। तब किसी को कौन क्या करेगा?

स्वातन्त्र्यं वस्तुनोरूपं तत्र कः किं करिष्यति ।

हानिर्मे हि विकल्पेषु स्या स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१७॥

अर्थ— वस्तु की स्वतन्त्रता वस्तु का स्वरूप है उस स्वरूप में कौन क्या करेगा? निश्चय से विकल्पों के कारण ही मेरी हानि है। अब स्वातन्त्र्यदृष्टिवाला होता हुआ मैं अपने में अपने लिए स्वयं सुखी होऊँ।

वस्तु का जो स्वरूप है वह स्वतन्त्र है। स्वका मतलब हुआ अपना। जैसे हिन्दी में कहते हैं कि तुम्हारा अपना, उसने अपना काम किया। उसी प्रकार सब स्वके अर्थात् अपने तन्त्र हैं। प्रत्येक वस्तु अपने आधीन है, क्योंकि वस्तु तो द्रव्य, गुण, पर्याय में रहती है। अन्य कोई क्या कर देगा कुछ भी तो नहीं कर सकता। जो वस्तु स्वतः सिद्ध है उसका वर्णन करना कठिन है। चीज है तो उसमें परिणति होती रहती है। वस्तु द्रव्य क्षेत्र, काल और भावात्मक होती है। द्रव्य गुण व पर्याय का पिण्ड है। व्यवहार में तो पुद्गल को उठाकर दिखा देते हैं कि यह द्रव्य है। अन्य द्रव्यों को जानने का उपाय ऊपरी नहीं

हैं। इस प्रकार एक पिण्डरूप से जो वर्णन किया जाता है उसमें जो बताया गया, यह हुआ पिण्डवस्तु। प्रदेशों की अपेक्षा जो वर्णन होवे वह होगी क्षेत्रवस्तु। पर्यायों की अपेक्षा जो वर्णन है वह कालवस्तु कहलाती है। शक्तियों की अपेक्षा बताना भाववस्तु है। जैसे एक आदमी का वर्णन करना है कि वह कैसा है? यह एक अमुक गांव का मुखिया है, यह हुई पिण्डरूप दृष्टि। लम्बा है ५ फुट और पतला है इस प्रकार की दृष्टि हुई क्षेत्र की दृष्टि। अमुक रंग का है यह हुआ व्यञ्जन पर्यायों को लेकर। घमण्डी है या क्रोधी है अथवा शान्तपरिणामी है यह हुआ गुण पर्यायों को लेकर काल अपेक्षा से वर्णन। उनकी शक्ति का, गुण का वर्णन भावदृष्टि की अपेक्षा से है। जैसे पुस्तक हाथ में लेकर कहा कि यह पुस्तक है तो यह बताना हुई द्रव्यदृष्टि। यह इतनी लम्बी इतनी चौड़ी है यह हुआ क्षेत्र की अपेक्षा। यह पुस्तक पुरानी है या अमुक रंग की है ऐसा वर्णन कालदृष्टि की अपेक्षा हुआ। इसमें अमुक तत्व लिखा है, इस प्रकार गुणों का वर्णन भावदृष्टि की अपेक्षा से है। इसी चतुष्टय के कारण इनके चार नाम भी पड़ गये। द्रव्य की अपेक्षा नाम है पदार्थ, क्षेत्र की अपेक्षा नाम है अस्तिकाय, काल की अपेक्षा नाम है द्रव्य और भाव की अपेक्षा नाम है तत्व। सो प्रत्येक पदार्थ इनसे सहित है। जैसे कालद्रव्य में घटाना है — यह द्रव्य तो है ही, प्रदेश एक ही सही उसकी अपेक्षा क्षेत्र हुआ, कालदृष्टि से काल भी है। काल में रहने वाले जो गुण हैं वह भावदृष्टि हुई।

आत्मा में घटा लो, आत्मगुण पर्याय का पिंड हुआ आत्मा पदार्थ, निज असंख्यात प्रदेशों में विस्तृत हुआ आत्मा अस्तिकाय, आत्मा की पर्यायों से परिणत हुआ यह आत्मद्रव्य और आत्मगुणों में तन्मय स्वभाव मात्र हुआ यह आत्मतत्व। देखो, अपना चतुष्टय ही अपने में है। परके चतुष्टयका अंश भी अपने में नहीं है, अतः इससे यही सिद्ध हुआ कि प्रत्येक पदार्थ अपना स्वामी है, अपने में ही रहता है, अपने में ही परिणमन करता है, तब कोई अन्य में क्या कर देगा? कई प्राणी ऐसे हैं जो तत्व को जानते नहीं और कई ऐसे हैं जो जानकर भी उसमें नहीं रमते, केवल ज्ञात करते रहते हैं। कल्याण की जो बात है उसके किये बिना तो गुजारा नहीं होगा, यह निश्चित है। बड़े दुःख की बात है कि यह प्राणी मोह आदि में पड़ा भी है और दुःख भी मानता जाता है जिस प्रकार मिर्च खाता भी जाता है और मना भी करता है। मिर्च मत डाला करो और सीसी भी करता जाता है, आनन्द भी लेता जाता है। इसी प्रकार बाह्य पदार्थों में राग भी कर रहे हैं, दुःख भी मान रहे हैं। अतः जो करने में आ रहा है, आ पड़ा है, आवे, उसके बिना भी तो अभी गुजारा नहीं है। किन्तु साथ ही साथ यह अन्तरंग में अवश्य बात उठनी चाहिये कि मैं तो मात्र अमूर्त चैतन्य शक्ति स्वरूप हूँ, यह तो स्वयं में स्वयं ध्रुव है। श्रद्धा ही काम बनाती है। बात यही ठीक है। प्रतिमा भी ले लो, सब कुछ कर लो, किन्तु बिना श्रद्धा के न मर्म का स्पर्श होगा, न ज्ञान ही होगा। बहुत से विवेकी जन गृहस्थी में रहकर भी यही सोचते हैं कि कैसे मैं इन उपयोगों को छोड़ूँ? ज्ञानी यही सोचता है मुझसे यह सब कैसे छूटें? और बहुत से प्राणी घर से बाहर रहकर भी घर की दृष्टि करते हैं, पत्नी की बाँछ रखते हैं। सो यह घर में रहकर बाहर की इच्छा रखना, यह सब अर्धविवेक से होता है। अर्धविवेक उसे कहते हैं कि ज्ञान तो है, पर दृढ़ता नहीं हुई। छोड़ने पर ग्रहण

करने-की इच्छा, ग्रहण करने पर छोड़ने की इच्छा। जैसे-किसी को कहो की भैया ! रात्रि के भोजन का त्याग कर दो तो वह उत्तर देता है कि छोड़ने से खाने को जी करता है, वैसे रात्रि को खाना नहीं खाये ५ महीने व्यतीत हो गये। अतः योग में वियोग की बुद्धि तथा वियोग में संयोग की बुद्धि, यही अर्धविवेक में होता रहता है।

प्रत्येक पदार्थ अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में है, तब अन्य में कोई क्या कर देगा, कुछ भी तो नहीं, किन्तु विकल्पों में हानि होती है। यही विचार त्यागियों को भी करना चाहिये कि हे आत्मन् ! जिसका त्याग कर दिया है उसके विपरीत तो होगा नहीं। अतः वह शक्ति मुझे दो, जिससे मैं अपनी ओर झुका रह सकूँ। अन्यथा मन कमजोर होने से मैं भ्रष्ट हो जाऊँगा फिर उठने का कोई अवसर नहीं रहेगा। अतः इन थोड़ी कल्पनाओं का त्याग कर दूँ।

मैं अन्य पदार्थ में कुछ नहीं करता। मात्र विकल्प ही हैं। सो उन विकल्पों में अपनी ही हानि है, लाभ कुछ नहीं है। जो विकल्प करने वाला है उसे कर्ता कहा गया है। वैसे तो मिथ्यादृष्टि भी कर्ता नहीं है। कोई वस्तु परपदार्थ का कर्ता नहीं है। प्रत्येक वस्तु अपने परिणमन का ही कर्ता है, सो यह विकल्प करने वाला ही कर्ता है तथा जो विकल्प है वह कर्म है। अतः विकल्प वाले के कर्ता कर्मपना कभी नष्ट नहीं होता। वस्तुका स्वरूप स्वतन्त्रता है, तब अन्य पदार्थ अन्य में क्या कर देगा? अतः विकल्प करना व्यर्थ है। ज्ञान ही निजस्वरूप में ले जाने वाला है। अपने स्वरूप तक पहुँचने में ये व्यवहार से उपाय बताये हैं कि अग्नि जल, तत्व, रूपवती आदि धारणाएं हैं। सर्वप्रथम उपाय और है, वह यह कि शरीर को स्थिर आसन से बिठाना सबसे पहिले आवश्यक है। मेरुदण्ड की (कमर के बीच की सीधी हड्डी को) साध कर बैठने से मन एकाग्र होता है। पद्मासन में बैठने से स्थिरता आती है। फिर श्वास देखता हुआ लेवे, श्वास देखता हुआ छोड़े। हमने कब श्वास छोड़ी और कब ली यह दिखता तो नहीं किन्तु पता तो लग ही जाता है कि अब हमने श्वास ली और अब छोड़ी पहले अपने मनको एकाग्र रखने के लिए यह करना, फिर इसके पश्चात् भीतर को श्वास लेते समय अन्तरंग में 'सो' सोचे और श्वास छोड़ते समय अन्तरंग में ही अहं की कल्पना करें। प्रकृति से श्वास छोड़ते व लेते समय भी तो ऐसा याने "सोहं सोहं" शब्द होता है। अतः वैसा ही शब्दों का जुटाव फिट बैठता है। 'सो' का तात्पर्य है भगवान् और अहम् जिसका तात्पर्य है वह मैं हूँ। जो भगवान् हैं वह मैं हूँ। यह श्वास के आश्रय से ही प्रतिध्वनित होता है। करने से स्वयं पता लग जावेगा। फिर 'सो' को लुप्त कर देवे, केवल अहम् रह जावे। ऐसा करने से श्वास की वह कल्पना छूट जावेगी। श्वास का आश्रय छोड़ अपने को देखा, तो अहम् की बात आयी। अहम् का बोध होते समय भी अहम् की कल्पना मिटकर आनन्द की अनुभूति होती है।

इस प्रकार आत्मा का ध्यान करने का एक यह भी साधन है। मेरी केवल विकल्पों में हानि हो रही है, करना धरना कुछ नहीं। कोई-कोई ऐसे प्राणी होते हैं जिन्हें दूसरों का सम्बन्ध कराने में ही मन लगता है उन्हें लेना देना कुछ नहीं, किन्तु फिर भी प्रकृति बन गयी है कि दूसरों का विवाह सम्बन्ध कराते

रहते हैं। केवल विकल्प करता रहता है। कहा है कि “हानिर्मे हि विकल्पेषु” अर्थात् विकल्पों में हानि ही हानि है, लाभ तो इस आत्मा को कुछ भी नहीं है। जैसे किसी ने एक स्वप्न देखा कि एक सेठ ने मेरे को ५० गायें इनाम में दी हैं। एक ने उससे गायकी कीमत पूछी तो बतायी कि एक गाय का मूल्य १००) है। ग्राहक ने कहा, कम ले लो, ६०) ले लो। वह ८०) तक आ गया। ग्राहक ७०) में मांग रहा था। ग्राहक भी जोर से बोला और वह भी। परिणाम यह हुआ कि इस स्वप्न को देखने वाले की आंख खुल गयी। आंख खुल जाने पर देखा कि यहां तो कुछ नहीं है।

उसे बहुत पश्चाताप हुआ। और फिर उसी प्रकार आंखें बन्द करके बोला कि “भैया ७०) रु० में ही ले जावो”। लेकिन वहां कुछ भी था क्या? केवल विकल्प ही तो है। अपने कुटुम्ब में ही देखो कि कुटुम्ब के लिए सब कुछ किया किन्तु मिलता क्या है, कुछ भी तो नहीं। सब कुछ होने के बावजूद भी आत्मा को तो कुछ नहीं मिल सकता। मृत्यु हो जावेगी फिर साथ क्या जावेगा इनमें से। देखो, पुत्र अपने पिता का पितृतर्पण करता है तो क्या वहां पर एक भी जलकी बूंद पहुंच पाती है। केवल विकल्पों में सारा लोक भ्रम रहा है। समस्त क्लेशों का मूल मात्र विकल्प है। वे विकल्प छूटकर यदि आत्मा की ओर ध्यान जमे तो वही कल्याणकारी है। विकल्पों में तो हानि ही हानि है, अतः जिससे मैं विकल्पों को त्यागकर अपने में अपने लिए अपने आप सुखी होऊं ऐसा ही संकल्प, उपयोग व प्रयत्न उत्तम है। इसके संकट से बचने का एक ही तो यह उपाय है कि सच सच जान लो। सत्यज्ञान में सर्वसंकट-समाप्त हो जाते हैं।

ज्ञाताद्रष्टाहमेकोऽस्मि निर्विकारो निरञ्जनः।

नित्यः सत्यः समाधिस्थः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१८॥

अर्थ- मैं जाननेवाला व देखनेवाला हूं, अकेला हूं, विकार रहित व मलरहित हूं, अविनाशी-केवल की सत्ता में होने वाला साम्य अवस्थामें स्थित हूं, इसलिये समता परिणाम में ठहर कर मैं अपने में अपने लिए स्वयम् सुखी होऊं।

मैं ज्ञाता द्रष्टा हूं। मैं चैतन्यस्वरूप हूं। इसमें जो स्वच्छता का अनुभव है वह तो हुआ दर्शन, उसमें जो ज्ञेयाकार होता है या अर्थ विकल्प होता है वह हुआ ज्ञान। जैसे दर्पण में दोनों बात होना आवश्यक है। दर्पण में जो निजी स्वच्छता है उसका भी परिणमन तथा स्वच्छता के कारण जो प्रतिबिम्ब है उसका भी परिणमन। कुछ भी न हो, खुली जगह दर्पण को आकाश में सामने रख दो तो भी सूक्ष्मरूप से परिणमन होता ही है। यदि दिश्वास न हो तो करके देखते जावो तो देखोगे कैसे? क्योंकि दर्पण में स्वयं का प्रतिबिम्ब पड़ जावेगा। इसी प्रकार मुझमें भी दो प्रकार का परिणमन होता है। उपयोग की अपेक्षा क्रमशः परिणमन होता है। जो भी पदार्थ है वह सामान्यविशेषात्मक है। आत्मा भी चैतन्य गुण के कारण सामान्यविशेषात्मक है। आत्मा का सामान्य प्रतिभास या समस्त जगत् का सामान्य प्रतिभास कहो एक ही बात है, दोनों का अर्थ एक ही है। प्रतिभास के समय सब पदार्थों का जो सामान्य प्रतिभास है उसकी यदि खबर लग जावे तो वह ज्ञान बन जायेगा।

सामान्य प्रतिभास में तो उस प्रतिभास की खबर ही नहीं रहती, और यदि खबर रहे तो ज्ञान कहा जावेगा। सामान्य प्रतिभास किसका? यह जानना ही तो ज्ञान हो गया। जानने का अर्थ ही ज्ञान है। यह विशेष तत्व बन गया। कहने को तो 'मुख' से सामान्य कहा जाता है किन्तु यह विशेष बन गया। सर्व पदार्थगत सामान्य उपयोग में अकेले नहीं हो सकता। पदार्थों का सामान्य प्रतिभास आत्मप्रतिभासरूप ही है। विषय कहते हैं 'पदार्थ को', विषयी कहते हैं 'आत्मा को'। सामान्य प्रतिभासरूप परिणामन जो प्रतिभास है वह विषयी को भी नहीं पकड़ता। किन्तु उसको करने वाला कौन, यह हुआ विषयात्मक। सामान्य की भी पकड़ हो जावे, तो वह ज्ञान बन जावे, किन्तु सामान्य प्रतिभास हो जाता है। उसकी पकड़ नहीं होती। यथार्थ में दर्शन कब हुआ इसकी खबर न पहले होती, न बाद में, न अनुभव ही होता है। सामान्य प्रतिभास होता सबके है और उस प्रतिभास का विषय मूलतत्त्व होना है, किन्तु वह मैं ही तो हूँ, ऐसा अनुभव विषयभोग के संस्कार वाले मोही प्राणी नहीं कर सकते हैं। ज्ञानी पुरुष ही उसे स्वीकार कर पाता है। ऐसी बात उपयोगरूप प्रयत्न द्वारा साध्य है। केवल वचनों से उसका अनुभव नहीं होता। एक कथानक है कि सब कौरव, पाण्डवों के साथ धर्मराज (युधिष्ठिर) भी अध्ययन करते थे। गुरुजी ने पढ़ाया कि गुस्सा मत करो। सबने पाठ सुना दिया, किन्तु युधिष्ठिर ने कहा कि अभी याद नहीं हुआ। चार पांच दिन तक गुरुजी के पूछने पर यही उत्तर देते रहे कि अभी याद नहीं हुआ। गुरुजी को बहुत क्रोध आया कि इसमें याद न होने वाली कौन सी बात है अतः उन्हें पकड़कर पिटाई की। काफी पिटने के बाद भी जब युधिष्ठिर को क्रोध नहीं आया तो वे बोले कि गुरुजी अब याद हो गया। इसी प्रकार वचनों से क्या होगा?

जब निर्विकल्परूप से निर्विकल्प प्रतिभास करे तो दर्शनका फिट बैठ जाना हो सकता है। यह दर्शन इस प्रकार है कि यदि फिट बैठाया जावे तो वह भी ज्ञान हो गया। देखना और जानना ये जीव के धर्म हैं। इस संसार में कोई किसी का नहीं। मैं तो चैतन्यस्वरूप एक हूँ — इस प्रकार का विचार करना चाहिये। पुत्र या पत्नी आदि किसी से भी कितना ही प्रेम क्यों न हो, किन्तु हैं सब अलग-अलग ही। कषाय से कषाय मिल गयी तो दोस्ती, अन्यथा दुश्मनी। जैसे कोई छोटा बच्चा खेल रहा है, दूसरा भी वही खेल जानता है तो दोनों की तुरन्त दोस्ती हो जावेगी और प्रतिकूल दशामें दुश्मनी। इससे अधिक मित्रता व शत्रुमें मर्म ही क्या है? ज्ञानी पुरुष ही समर्थ है कि वह अपने से अनुकूल को भी एवं प्रतिकूल को भी निभा लेते हैं। किन्तु अज्ञानी प्राणी अपने से प्रतिकूल को नहीं निभा सकता। मैं द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा एक हूँ। मैं विकाररहित हूँ, स्वभावदृष्टि के कारण निर्विकार हूँ अर्थात् सरसता की दृष्टि से उपाधि बिना हूँ।

ऐसी दृष्टि बनायें कि ये रागादि भाव पौद्गलिक दिखाई देवें या चिदाभास दिखायी देवें। उपादानपर दृष्टि देवें या निश्चयनय पर यदि परभाव है तो आत्मा से क्या मतलब? स्वभाव और विभाव दोनों क्या एक साथ रहेंगे? मैं निर्विकार हूँ, निरञ्जन हूँ अजनरहित हूँ, अर्थात् उपाधिरहित हूँ। चैतन्यशक्ति ही मेरा सर्वस्वसार है। पदार्थों में ममता के परिणाम न हों तभी शान्ति प्राप्त होती है। जब तक परपदार्थ में ममता के परिणाम हैं तभी तक अशान्ति है। इसको मिटाने वाली स्वभाव दृष्टि ही है।

यदि गीदड़ों के बीच में पले शेर के बच्चे को किसी प्रकार यह मालूम हो जावे कि मैं शेर हूँ तभी उसे सुख है। और जब तक पता नहीं तभी तक गीदड़ है। पता लगते ही वही शेरका शेर। इसी प्रकार कोई प्राणी चाहे कितना ही हड्डा-कड्डा क्यों न हो, यदि उसे सन्तोष नहीं तो वह दुखी ही है और दूसरा बूढ़ा बीमार, कमजोर होते हुए भी यदि यह सन्तोष धारण करता है कि मैं स्वरूप में स्वस्थ हूँ तो वह निरोग है, सुखी है। अतः अपनी आत्मा की दृष्टि ही सुखकी दिलाने वाली है। मैं यदि न था तो आज न होता। यदि कभी न रहूँगा तो आज भी मेरी सत्ता नहीं होनी चाहिये थी। वर्तमान की सत्ता ही सिद्ध करती है कि मैं अनाद्यनन्त हूँ जो सत्में हो उसे सत्य कहते हैं, मैं सत् हूँ मुझमें जो हो वही सत्य है। जो अपने आपकी स्वरसतासे है वही सत्य है। जो चित्स्वभाव अपरिवर्तित है, चेतनायुक्त है ऐसा मैं समाधिमें रहने वाला तत्व हूँ। सम्-आधि, इसका मूल शब्द है आधि, सम् उपसर्ग है, आधि मानसिक कष्ट है। जहां मानसिक व्यथा शान्त हो उसे समाधि कहते हैं। उप, उपसर्ग लग जाने पर उपाधि बनता है। उपाधि का तात्पर्य ही है कि जो मानसिक क्लेश के समीप ले जावे। ऐसी जो उपाधि, व्याधि जहां शान्त हो गई वह समाधि है। अर्थात् रागद्वेष रहित परिणाम, ऐसा मैं ज्ञाता, द्रष्टा, निर्विकार, निरंजन, नित्य, अकेला हूँ। यही मेरा स्वभाव है। अन्य कोई विश्वास बनाना कि मैं ऐसा हूँ सो स्वरूपदृष्टि से बाहर है। यदि कोई मुनि विचार करे कि मैं मुनि हूँ, मुझे असत्य नहीं बोलना चाहिये, इस प्रकार के विकल्प से क्या वह स्वरूप की ओर है? नहीं। वह परपदार्थमें है, किन्तु उन्हें इस प्रकार का विकल्प होता नहीं है। उनमें सहज ही संयम रहता है। जैसा कि कोई आदमी किसी कार्य को करने में बहुत निपुण होता है तो वह उस कार्य को सहज ही कर लेता है। उसके लिए सोचना नहीं पड़ता, विचार नहीं करना पड़ता। उसी प्रकार इनके भी समिति, गुप्ति सहज ही हो जाती है। उपयोग नहीं लगाना पड़ता। मैं चेतनस्वरूप हूँ, यह दृष्टि रखनेसे दुख नहीं होता, किन्तु जो अन्तरंग से यह मानता है कि मैं स्त्री हूँ या पुरुष हूँ वह मिथ्यादृष्टि है। जहां प्राणी इतना विचार करता है कि न मैं किसीका पुत्र हूँ, न किसीका पिता, परपदार्थमें मेरा कुछ नहीं, वहां यह भी विचार करना चाहिये कि न मैं पुरुष हूँ, न स्त्री हूँ। ऐसी प्रतीति अन्तरंग से नहीं करनी चाहिये कि न मैं अमुक का अमुक हूँ, स्त्री हूँ या पुरुष हूँ। मैं तो चैतन्यमात्र एक तत्त्व हूँ। तो वह ज्ञाता द्रष्टा की क्रियामें लग गया समझो। जैसे खरगोश का शिकार करने वाले शिकारी प्रायः अपने साथ में कुत्ता रखते हैं, खरगोश भाग-भागकर आगे की झाड़ियों में छिपकर बैठ जाता है और अपने कानों से अपनी आंखों को ढक लेता है तथा यह समझता है कि अब मुझे देखने वाला कोई नहीं। तब यदि शिकारी की नजर उस पर न पड़ी तो आराम से पड़ा रहता है, किसी प्रकार का विकल्प नहीं करता। उसी प्रकार उपयोगमें यदि वे बातें न आवें तो कोई विपदा नहीं, उपयोग में बातें आ रही हैं इसीलिए विपदा है।

जैसे किसी सम्बन्धीकी मृत्यु हो गयी और पता नहीं, तब कुछ भी विकल्प नहीं है। वह तो उसी प्रकार से रहता है जैसे पहिले था। एक पत्र आया और उपयोग में वे बातें आ गयी तो दुखी हुआ यह भी तो सब विकल्पमात्र है। व्यर्थ के विकल्प में उलझकर दुर्लभ मनुष्य के क्षण गंवाना अविवेक

है । अतः मैं तो ज्ञाता द्रष्टा हूँ, अद्वैत हूँ, एक हूँ । इस स्वरूपसत्तामात्र मुझमें विकार आते भी हैं तो आवो, वे विकार मेरे स्वभाव से नहीं उठते । मैं तो स्वभावमात्र हूँ अतः निर्विकार हूँ । जहाँ विकार ही नहीं प्रतीत होते हैं वहाँ भिन्न सत् अञ्जन (उपाधि) की कथा ही क्या है, सो मैं निरञ्जन हूँ । मैं तो सत्य हूँ, केवल निज सत् में होने वाला तत्वमात्र हूँ, अतः सत्य हूँ । स्वयं समाधानरूप हूँ, शांत हूँ, सो समाधिस्थ हूँ । ऐसे सहज चैतन्यस्वरूप मात्र मैं अपने को यथार्थ परमार्थरूप में देखूँ और सर्वविकल्प संकटों से मुक्त होकर अपनेमें अपने आप सुखी होऊँ ।

अमरोऽहमजन्मोऽहं निःशरीरो निरामयः ।

निर्ममो नैर्जगत्योऽहं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१७-६॥

अर्थ- मैं अमर हूँ, अजन्मा हूँ, शरीररहित व रोगरहित हूँ जिसका जगतमें कुछ नहीं है ऐसा, तथा जो जगत का कुछ नहीं है ऐसा मैं हूँ, इसलिये मैं अपनेमें अपनेलिये स्वयम् सुखी होऊँ ।

मैं अमर हूँ, मरणरहित हूँ । मरते समय जो दुःख होता है वह वियोग का होता है । जैसे कि अज्ञानी जीव कहता है मरते समय कि मुझे वह दो वर्ष का छोटा बालक दिखा दो, अब तो मेरे प्राण छूटने वाले हैं । ये रागद्वेष के भाव मरते समय भी अज्ञानी के ही होते हैं । किन्तु ज्ञानी के इससे विपरीत भाव होते हैं । वह यही सोचता है कि मेरी आत्मा तो अमर है, मेरा इस संसार में कोई नहीं, मैं एक हूँ, चैतन्यस्वरूप हूँ । अज्ञानी में अज्ञानलीला की हद होती है । मैं तो मरणरहित हूँ, जन्मरहित हूँ, अजन्मा हूँ, शरीररहित हूँ । मैं तो अपने वास्तविक स्वरूप में हूँ । शरीर शरीर में है और मैं अपने में हूँ । किन्तु ऐसा कुछ हो रहा है प्राणियों की प्रकृति में कि उसके विषय में सोचा भी नहीं जा सकता । एक तो ऐसा दुःख है जिसे भुलाया जा सकता है, जैसे कांटा लग गया, कुछ चुभ गया, उससे दुःखी होता है किन्तु दूसरा जो दुःख है उसमें समताभाव रखना बहुत कठिन तपस्या करना है । जैसे किसीने किसीको कुछ बात कह दी तो वह उसको लग जाती है । तात्पर्य यह कि अपने विपरीत कहने पर जो क्षोभ होता है, वह क्षोभ न होना चाहिये । किन्तु प्राणियों के प्रायः ऐसा धैर्य होता नहीं । किसीने कोई कड़वी बात कही तो वह भुलाये नहीं भुलाई जाती । सबसे बड़ी मूर्खता यदि है तो यही है कि दूसरोंके द्वारा प्रतिकूल कहने पर अहित महसूस करना । दूसरों की बात सुन कर शल्य पैदा करना । ज्ञानी की बातें ही विलक्षण हुआ करती हैं जैसे सुशीला उपन्यास में कथा आती है कि एक स्त्री किसी पुरुष से एकान्त में स्नेह की बात करने पर बाध्य कर रही थी, पुरुषने उसको स्वीकार नहीं किया । स्त्री बोली कि यदि तुम मेरा कहना न मानोगे तो तुम्हें कलंकित कर दूंगी, बदनाम कर दूंगी, तो उसने अपने ज्ञानसे ही उत्तर दिया कि यदि मैं अपने ज्ञान में कलंकित हूँ तब तो बुरा होगा अन्यथा तुम मेरा कुछ नहीं कर सकती । यही तो ज्ञानी का ज्ञान है । अतः यही विचार करना कि मैं शरीर रहित हूँ, शरीर-शरीर है, मैं, मैं हूँ । शरीर को देह भी कहते हैं किन्तु दोनों का अलग अलग तात्पर्य है । दिहयन्ते सञ्जीयन्ते यत्र परमाणवः सः देहः । और शीर्यन्ते यत्र परमाणवः सः शरीरः । । प्रायः २०-२५ वर्ष तक की आयु के तनको देह कहते हैं और उसके बाद की अवस्था को शरीर कहते हैं, आत्मा तो अमूर्त है । उसमें कहां फुत्सी, कहां फोड़े, वह तो

हैं। आत्मा तो सदा आनन्दमय है। बस बुरा काम न करो फिर कुछ नहीं। नहीं तो सारी शक्तें नभर लगी रहती हैं। सब जीव सुखी होवें ऐसा विचार करनेसे अपना बिगड़ता भी क्या है? अपनी नावना स्वच्छ रखें, किसी का भी बुरा न सोचें, किसी के प्रति दुःख की बात न सोचें। जरा सी देर के लिए मानो यदि अपना सोचा हुआ दूसरेके प्रति अनिष्ट हो भी गया-तो इस आत्मा में क्या वृद्धि हो जावेगी ?

अतः हे प्राणी ! सबके प्रति अच्छी भावना भावो, सबसे पहला यही काम है। गाली भी यदि कोई दे देवे तो भी यही सोचो कि चलो यह तो मुफ्त में ही खुश हो गया, सुखी हो गया, क्योंकि-किसी को भी सुखी देखनेके लिए कुछ न कुछ उसकी खुशी के लिए खर्च करना पड़ता है। अतः उसको गाली देकर सुख प्राप्त हो जावे तो इसमें मेरी क्या हानि ? मैं तो चैतन्यस्वरूप हूँ। मैं लोकरहित हूँ, ममतारहित हूँ, कर्म के उदयको निमित्त पाकर होने वाला जो मोहभाव है, मैं उससे भी रहित हूँ, अपने से ये जगतके समस्त पदार्थ भिन्न हैं तथा मैं इनसे भिन्न हूँ, ऐसा अपनेमें विचारें। सम्यग्दृष्टि केवल शुद्धोपयोग में ही जीवन व्यतीत करते हैं। उन्हें न खानेकी चिन्ता, न कमानेकी, न स्त्री पुत्रादिक की। उनकी अपनी गोष्ठी रहती है तथा शुद्धोपयोग में समय व्यतीत करते हैं। हमारा भी उत्कृष्ट काम यही होना चाहिये कि हम सम्यग्दृष्टि बनें, सबके प्रति अच्छे भाव रखें। देखो, सबको खुश कोई नहीं कर सकता। अतः सब मुझपर खुश हों, यह भाव व्यर्थ है।

एक सेठ था, उसके पास पांच लाख रुपये थे व ४ बेटे। अतः उसने चारों बेटों को एक-एक लाख रुपया बांट दिया और एक लाख रुपया अपने लिए रख लिया। फिर कुछ समय बाद-देखो, अपने आप सब खुशी खुशी न्यारे हो गये, बिरादरीको जिमाना चाहिये। बड़ी खुशी की बात है कि किसी से किसी का झगड़ा तक नहीं हुआ और अलग-अलग भी हो गये। अतः अब यह शुभ काम अवश्य करना चाहिए। सबसे पहले छोटे लड़केने बिरादरीकी जीमन दिया; उसने अच्छा-अच्छा खाना बनवाया और सब प्रकार की मिठाई बनवायी। बिरादरी आयी और जीमने लगी। जीमते जीमते कहती जावे कि मालूम तो ऐसा पड़ता है कि पिताने अपना सबसे अधिक भाग इसी छोटे लड़के को दिया है तभी तो इसने इस प्रकार खर्च किया। अब देखो खा भी रहे हैं और बुराई भी कर रहे हैं फिर दूसरेने दावत दी तो उसने केवल तीन मिठाई बनवायी। तो जीमते-जीमते बिरादरी कहती है कि ये लड़का तो बहुत बदमाश है, इसने तीन ही मिठाई बनवाकर अपना काम बना लिया। फिर तीसरेने जिमाया, उसने केवल साग पूड़ी में ही टाल दिया। फिर चौथे ने जिमाया, उसने केवल चनेकी दाल और रोटी ही जिमायी। जीमने वाले बोले कि सबसे अधिक बदमाश यही है इसने तो बनवाया ही कुछ नहीं। तात्पर्य यह है कि इस जगत में प्रशंसा की दृष्टि से वैभवादि एकत्रित करना व्यर्थ है। जनता सारी ही प्रशंसा करे यह संभव नहीं। महावीर स्वामी जब थे तो उनकी भी सभी प्रशंसा नहीं करते थे। कोई उन्हें मायावी कहता था, कोई कुछ। अतः जितना हो सके मनुष्य को धनादि वैभव परोपकार में लगा देना चाहिये, अन्यथा पछतावा होगा।

एक सेठ था । उसके पास धन बहुत अधिक था, पर था कंजूस । तो उसने काफी तो अपने लड़कों में बांट दिया, फिर बचे हुए धनको भीतोंमें चिनवा दिया । मरनेका समय आया तो उससे बोला न जावे, ऐसी दशा हो गई उसको । पंच लोग उसके पास आये और बोले कि क्यों भाई क्या कुछ अब भी दान में देना है या नहीं ? अब तो तुम्हारा मरणकाल समीप आ गया है । सेठ जी अब अपना साराका सारा ही धन दान में देना चाहते थे क्योंकि घरमें लड़कोंका भी व्यवहार उनके प्रति अच्छा न रहा था । अतः उसने इशारे से प्रकट किया कि हां मैं यह सब धन जो भीत में रखा है वह दान करना चाहता हूँ । पंच लोग इस बातको समझ न सके । तो उनके लड़कों से पूछा कि तुम्हारे पिताजी क्या बता रहे हैं ? तो लड़के बोले कि पिताजी कह रहे हैं जितना धन था वह सब तो ये मकान आदि बनवाने में खर्च हो गया । अब बचा ही क्या जो दान में देवें । अब वह सेठ सुन तो सभी कुछ रहा है किन्तु बोल कुछ नहीं सकता । वह मनमें कुढ़ रहा था कि लड़के सब कुछ जान रहे हैं, पर छल कर रहे हैं । अब सोचो कि कितना कष्ट हुआ होगा उसको ? मानव इसलिये धन नहीं बढ़ा रहे कि मैं आगे भूखों मरूंगा, अतः काम आ जावेगा । बल्कि इसलिए कि मेरी इस धन के कारण ही बड़ाई होगी, इज्जत होगी, पोजीशन बनेगी । सब मुझे अच्छा कहेंगे । लेकिन यह सब व्यर्थका विकल्प जाल है । अतः इन सबको छोड़कर अपने धर्मका पालन करना ही तत्व की बात है । मैं ममतारहित हूँ, परपदार्थके द्रव्य गुण पर्याय रूप नहीं, ऐसा जान-कर अपने स्वरूप में ध्यान लगाओ, ये कर्मजाल भी नष्ट हो जावेंगे । अब सोचो यदि एक बच्चे के हाथ में खिलौना देखकर दूसरा भी रोने लगता है अब उसको चुप करना है तो कैसे किया जावे ? यदि उसे पीटा जाय तो ओर भी रोवेगा और यदि उस बच्चे का खिलौना छीनकर उसे दिया जावे तो वह भी रोने लगेगा । अतः सीधा उपाय यही है कि उसे और दूसरा खिलौना दे दिया जावे । उसी प्रकार ये पदार्थरूपी खिलौना तो पास आ नहीं सकता, तब रोना बन्द करनेका एक यही उपाय है कि अपना जो स्वभावरूपी खिलौना है उसका ध्यान करो, उसमें रमण करो ऐसा करता हुआ मैं अपने में अपने लिए अपने आप सुखी हो सकता हूँ ।

मैं स्वयं तो सर्वकल्याणमय हूँ, सत् हूँ, अतः अमर हूँ किन्तु प्राकृतिक मायारूप प्रभावोंको अपनाकर अपनेको मरने वाला समझ लिया, इसी कारण मैं मरणके दुःख से त्रस्त होता हूँ । मैं अनादिसिद्ध सत् हूँ, परिपूर्ण हूँ, मेरे जन्म की आवश्यकता भी नहीं और न मेरा जन्म होता है, किन्तु प्रकृतिजन्य (कर्मोदयभाव) स्कन्धोंका संयोग व उस बीच अपने आपको समझ कर मैं जन्मका भ्रम कर लेता हूँ, और इससे दुःखी रहता हूँ । मेरा तो मेरा चैतन्यस्वरूप मात्र है, मेरे शरीर कहां है ? जब शरीर ही मेरे नहीं तो राग मेरे कहांसे होंगे ? तथा जब शरीर भी मेरा नहीं है तो अन्य चीजों की कथा ही क्या ? इस कारण न मेरा यह जगत है और न जगतका मैं हूँ । ऐसे सबसे निराले अद्वैत ज्ञायकस्वरूप मात्र अपने आपमें मैं रहूँ और आनन्दमय बनूँ ।

नोपद्रवो न मे द्वन्द्वो निर्विकल्पोऽपरिग्रहः ।

दृश्यः कैवल्यदृष्ट्याऽहं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१११०॥

अर्थ— मेरे उपद्रव नहीं हैं, द्वन्द्व नहीं है, मैं विकल्प रहित हूँ, परिग्रह रहित हूँ, केवल अकेलेकी दृष्टिसे मैं प्रतिभास के योग्य हूँ, इसलिये केवल अकेलेकी दृष्टिद्वारा मैं अपनेमें अपनेलिये स्वयं सुखी होऊँ ।

आत्मा चैतन्यस्वभावमय है, मैं चेतना शक्तिमात्र हूँ, इसमें दूसरी चीजका प्रवेश नहीं । अतः इसमें कोई उपद्रव नहीं हो सकता । मैं ही उपद्रव मानूँ और दुःख मानूँ तो वह मेरे ही ओर से उपद्रव होगा, परकी ओर से नहीं । परकी आरे से उपद्रव किसी भी अन्य पदार्थ में नहीं होता । परपदार्थ में दूसरेके द्वारा उपद्रव नहीं होता बल्कि नैमित्तिकपरिणमन है । ऐसा वस्तुका स्वभाव है जिसे विभाव स्वभाव कहा है । बाह्यसे उपद्रव नहीं, निमित्त पाकर होता है । एक दृष्टि से तो सभी निमित्त उदासीन होते हैं, किन्तु एक दृष्टि से कोई उदासीन होता है, कोई प्रेरक होता है, एक दृष्टि से दूसरेका ही अपराध माना जाता है । एक दृष्टि से न उपद्रव है, न निमित्त है, न उपादान है । किसी परपदार्थ के कारण मुझ में उपद्रव नहीं किन्तु मैं ही कल्पनासे उपद्रव मानता हूँ । मुझमें उपद्रव नहीं है । ये सब स्वभावदृष्टि से समझे गये । उपयोग की बात बनी रहे तो उपद्रव भी न जंचे । यदि कोई व्यक्ति पैर घसीटकर चल रहा है अथवा टेढ़ी चाल से चल रहा है, यद्यपि अपने से उसका परिचय भी नहीं, किन्तु कल्पना के कारण ऐसा अपने में मानता है । लक्ष्मण और परशुराम का विरोध था, यह इस कारण कि ब्राह्मणों ने क्षत्रियों का नाश किया और क्षत्रियों ने ब्राह्मणों का नाश किया । अतः इनका भी आपस में विरोध था । जब वे दोनों आमने सामने आये तो लक्ष्मण ने परशुराम को कहा कि तुम मेरी आंखों के सामने से हट जाओ और भी दो चार उल्टी-सीधीबात सुनाई । तब परशुराम जी ने कहा—

“कर विचार देखो मन मांही, मूँदहु आंख कतहु कोउ कुछ नाही ॥” अर्थात् तुम यदि आंखें बन्द कर लो तो तुम्हें स्वयं ही कुछ दिखाई नहीं देगा । उसी प्रकार लोकदृष्टि की आंख बन्द कर लेने पर कोई उपद्रव ही नहीं है । अपने स्वभाव से च्युत होने को तथा पर की दृष्टि होने को उपद्रव समझो । अतः मुझ में कोई दन्दफन्द नहीं । यह दन्द शब्द द्वन्द्व से बना है जिसका तात्पर्य है दूसरा । अतः जब मुझमें दूसरा कुछ नहीं तो दन्द भी नहीं और फन्द भी नहीं, क्योंकि दन्द के होने पर ही फन्द होता है तो जब दन्द ही नहीं तो फन्द कैसे होगा? मैं तो चैतन्यस्वभाव वाला हूँ, निर्विकार हूँ, मेरा काम ही स्वच्छ रहना है ।

अपने को स्वच्छ सुरक्षित रखकर रागादि को पौद्गलिक समझे इसका नाम विवक्षित एकदेश शुद्ध निश्चयनय है । मैं परिग्रह से रहित हूँ, मेरा जो तत्व है उसमें अन्य कुछ नहीं । तब परिग्रह क्या लगा? यही विचार अपरिग्रह कहलाता है । बाह्यपरिग्रह का त्याग तो निष्परिग्रह आत्मतत्व की भावना का फल है । जब अपने आप में आकिंचन्य की भावना बढ़ गई, तब इसके होने पर परिग्रह संभाले कौन? अतः छोड़ना ही पड़ता है । उदारता भी उसी के बढ़ती है जो आकिञ्चन्य की, निष्परिग्रह की भावना करे । उच्च परिणामों का होना ही सबसे बड़ी बात है ।

जीवन में आगे बढ़ने का सबसे पहला यही काम है। यह तो कठिन है कि अपने शरीर में पीड़ा हो और अनुभूति न हो; यह भी कठिन है कि जिस वस्तु की इच्छा हुई वह प्राप्त न होने पर विषाद न हो, किन्तु इसमें क्या कठिनाई है कि यदि किसी ने प्रतिकूल वचन बोल दिया तो महसूस न करें, उसके प्रति विषाद ईर्ष्या न रखें। उसके प्रति कषाय रखना इसी का नाम तीव्र कषाय है। सबसे बड़ी जीवन की शिक्षा यही है। कोई भी उपद्रव क्यों न आवे, बस यही विचार करें कि मैं तो चैतन्यस्वरूप हूँ अन्य कुछ नहीं।

एक सुनार और एक सेठ पड़ोसी थे। सेठ धनवान था, सुनार गरीब। किन्तु इतना होने पर भी सेठ उसे तंग ही करता रहता था। किन्हीं कारणों को ढूँढ़-ढूँढ़कर उसे तंग करता था, हानि पहुंचाता था जिससे उसकी हानि हो सके, किन्तु यह सब होते हुए भी सुनार सेठ के प्रति अच्छे भाव रखता था, उसका भला ही विचारता रहता था। सेठ ने कारण न रहने पर भी उसे हानि पहुंचाने के प्रयास किये, किन्तु सुनारने हानि पहुंचाने के साधन रहते हुए भी उसे हानि न पहुंचाई। एक बार सेठ के यहां डाकू आ गये, उसकी लट्ठ से पिटाई करना चाहते ही थे कि सुनारने देखा और स्वयं बीच में आ गया, अपने आप पिट गया, घायल हो गया, किन्तु सेठ को बचा लिया। उस दिन से सेठ के भी विचार बदल गये, और सुनार से सेठ ने अपनी गलती की माफी मांगी। अतः हे प्राणी! सबके प्रति क्षमाभाव धारण करो, चाहे वह अनुकूल हों या प्रतिकूल। देखो जैनधर्म पाया, जैनकुल में पैदा हुए, समोगम भी ऋषियों को मिलता रहता है, शास्त्र भी सुनने को मिलता रहता है। ये सब होते हुए भी यदि हम इतनी बात न कर सके कि क्षमा का भाव धारण करें, तो समझो कि प्रतिकूल बोलने वाले पर क्षमाभाव न करके उस बात को और कठिन बना लिया।

यदि क्षमा भाव रखते तो वह उपद्रव वहीं समाप्त हो गया होता। किन्तु उसमें विषाद करके आगे के लिये उस बात को कठिन कर दिया। क्षमा करने से मेरा घटता भी क्या है? जितना भी क्षमाभाव धारण करोगे उतनी ही इज्जत प्राप्त होगी। यदि इस प्रकार अपने को बना पाये तो समझो कि हम भगवान् के कुल में सम्मिलित हो गये, उनके वंश के हो गये। यह कुटुम्ब जिसे प्राणी अपना मान रहा है यह तो विनाशीक है, किन्तु भगवान् का कुल सत्य है। अतः उस भगवान् के कुल के लिए यदि अपना विनाशीक यह लौकिक कुल भी छोड़ना पड़े तो सहर्ष त्याग कर देना चाहिये किन्तु भगवान् का कुल नहीं छोड़ा जा सकता सब कुछ सहन हो सकता है किन्तु धर्म पर आक्षेप सहन नहीं हो सकता। जैसे सब काम फिर हो जायेंगे ऐसा कहकर डाले जा सकते हैं, किन्तु देवदर्शन के समय दर्शन न करें यह अपने को सहन नहीं होगा। जो जीव अपना हित किसमें है— इसकी वास्तविकता को पहिचान गया वह न तो धर्म छोड़ सकता है, न उसपर आक्षेप ही सहन कर सकता है।

मैं परिग्रह रहित हूँ। समस्त इन्द्रियों को वश में करके स्थिर होकर अपने आप में जो दीखता है वही आत्मतत्त्व है, इस प्रकार आत्मतत्त्व की जो भावना भाता है उससे परिग्रह धारण नहीं हो सकता। अतः मैं अपरिग्रही हूँ। यह जीव निजपरमात्मतत्त्व की दृष्टि को ही हित मानता है परिग्रह को नहीं। यह आत्मा

सुख यहाँ प्रथम भाग

सम्यक्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की दृष्टियों से भी नहीं दिख सकता, एक कैवल्यदृष्टि को छोड़कर। अतः मैं अपने को कैवल्यदृष्टि से देखता हुआ अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ। घर गृहस्थी चलाते हम सब कुछ सहन करते हैं। लड़ाई झगड़ा, मुकदमा आदि आदि। किन्तु जब ही स्वभावदर्शन धारण किया कि सब कुछ क्षण भर में छूट गया। पद्मपुराण में बताया है कि उदय शंकर अपनी बहिन को लेने आया तो उसका जीजा वज्रभानु, वह उसकी बहिन से बहुत ही मोह करता था। अतः मोहवश वह भी उसके साथ हो लिया। रास्ते में जंगल पड़ा, वहाँ एक मुनि तपस्या कर रहे थे। यह वज्रभानु उनकी ओर देखता ही रह गया और उसे वहीं वैराग्य हो गया। साले ने मजाक करते हुए कहा कि क्या तुम भी मुनि होना चाहते हो, जो ऐसे देख रहे हो। वज्रभानु इसी पशोपेश में पड़ा था कि मैं इनसे क्या कहकर इजाजत मांगूँ, किन्तु स्वयं ही कारण मिल जाने पर बोला, यदि मैं दीक्षा ले लूँ तो क्या तुम भी ले लोगे? उदयशंकर ने सोचा कि यह तो महा मोही है यह क्या दीक्षा लेगा? अतः प्रकट में कहा कि ठीक है, मैं भी ले लूँगा। वज्रभानु ने तुरन्त ही दीक्षा धारण कर ली। उदयशंकर आश्चर्य से उसे देखता ही रह गया। और फिर क्षणभर में ही उसे भी वैराग्य हो गया। यह बात नहीं कि उसने वज्रभानु के शब्दों को यादकर ऐसा किया किन्तु इस मुनि की मुखमुद्रा ही ऐसी शान्त और आनन्दयुक्त भाव वाली थी कि वैराग्य हो जावे। और वज्रभानु का आश्चर्यकारक चरित्र देखा कि वैराग्य हो गया। फिर अन्तर्मुहूर्त में ही उस औरत को भी वैराग्य हो गया। बताओ क्षण भर में क्या से क्या हो गया? जा रहे थे कहाँ, पहुंच कहाँ गये? न इधर खबर है, न उधर। और हम ऐसे मोह में पड़े हुए हैं, कि यदि कहीं सफर में रेल आदि से जाते हैं, तो हर अगले स्टेशन से पत्र डालते रहते हैं कि अब मैं अमुक स्थान पर पहुंच गया, अब अमुक स्टेशन आवेगा, वहाँ से भी पत्र लिखूँगा, मैं आराम से हूँ आदि, और फिर पहुंचकर पत्र डालते रहते हैं यहाँ न चिट्ठी, न पत्री थी। बीच जंगल में मुनिदर्शन से मुखमुद्रा ही देखकर तीनों प्राणी वैराग्य को प्राप्त कर अपनी आत्माके, अपने कल्याण में लग गये। यह मुखमुद्रा अन्तरंग के स्वानन्द से, सन्तोषसे ही प्राप्त हो सकती है। हम चाहे विशेष आनन्द होने पर खूब ठूँठा कर हंस दें। किन्तु वह मुखमुद्रा बननी कठिन है। वह तो तभी होती है जब कि स्वानुभूति हो जाती है। अपने को पहिचान लिया है कि मैं चैतन्यस्वरूप हूँ, बाह्यपदार्थों से मुझे कोई प्रयोजन नहीं। अपने आपके आत्मतत्त्व के अविचल प्रत्यय से जो सहज आनन्द जगता है, उसकी सानीका आनन्द और कोई है ही नहीं। यह मैं तो केवल शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ। मेरे कोई उपद्रव नहीं, मेरे कोई द्वन्द्व नहीं। मैं सहज निर्विकल्प हूँ, समस्त परिग्रह भार से स्वतः मुक्त हूँ, अतः मैं भ्रमजालको छोड़कर अपने ही स्वरूप में स्थिर होकर, अपने में अपने आप सुखी होऊँ।

निर्विशचेतनावंश निर्गृहचेतनागृहः ।

चेतनान्यन्न मे किञ्चित्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् । १७-१११ ।

अर्थ— मैं वेशरहित हूँ तथा चेतना ही जिसका वंश है ऐसा हूँ, मैं घर रहित हूँ तथा चेतना ही जिसका घर है ऐसा मैं हूँ। मेरा चेतना से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इसलिये अपने में अपने लिये स्वयं सुखी होऊँ।

३२.

मैं निर्वंश हूँ, अग्रवाल, खण्डेलवाल, आदि जातिभेद से भी रहित हूँ तथा क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य आदि जातियों से भी रहित हूँ। यदि मेरा वंश ही है तो मेरा वंश चेतना है। जिसकी परम्परा अनादि से अनन्त तक चलती रहती है। अन्य कोई वंश मेरा नहीं है। वंश वही होता है जो परम्परा बनावे। मेरी परम्परा जाति कुलादिसे नहीं बल्कि चेतना में बनती है। अतः मेरा वंश है तो वह चेतना, और मैं निर्गुह हूँ, घररहित हूँ, महल, मकान आदि से रहित हूँ, मेरा असली घर चेतना है जिसमें हम बराबर बने रहते हैं। जो कभी टल नहीं सकता, कभी हट नहीं सकता। चेतना को छोड़कर मेरा अन्य कोई नहीं। लोक में अन्य घर भी तो हैं, फिर हम उन्हें क्यों नहीं अपना मानते, वह इसलिये कि लोकव्यवस्था में हमें यह अधिकार है कि यहां से कोई हटा नहीं सकता, किंतु पापादिक में उदय से या कर्ज आदि के कारण कुड़की-हो जाने से यह मकान छूट सकता है, किंतु मेरे स्वरूप से, चेतना को कोई नहीं हटा सकता। प्रत्येक पदार्थ अपना अपना स्वरूप रखते हैं, चतुष्टय उनका भी है। द्रव्य, समुदायका नाम है। क्षेत्र, प्रदेश का नाम है और काल पर्यायका नाम है। भाव शक्ति का नाम है। इनको छोड़कर उसका दुनिया में है क्या? इसके अतिरिक्त दुनिया में कुछ नहीं। इसी प्रकार मेरे प्रदेश गुण, पर्यायको छोड़कर और दुनिया में है क्या! यही चेतना मेरा घर, वंश है, जहां मैं बेअटक बना रह सकता हूँ। वहां से मुझे कोई नहीं हटा सकता। अपना ही स्वभाव मेरा सब कुछ है। इससे अन्य कुछ नहीं। जिसकी जैसी प्रवृत्ति है उसका उसी रूप परिणमन होगा। उसे देख दुखी न होवें, क्योंकि वहां पर मेरा क्या? जैसे किसी आलसी व्यक्ति को देख कर बुरा लगता है किंतु ऐसा नहीं होना चाहिये। वह जैसा है होने दो, किंतु रागादिक परिणामों के कारण ऐसा सब दुःख करता है। ज्ञान से जानो कि इसका परिणमन ही ऐसा है, किंतु उसे देखकर विकल्प करना अपराध है, अविवेक है। अतः इसे मिटाने से ही शान्ति मिल सकती है। यदि विपरीत मानना है तो मानते रहो, उससे लाभ कुछ है ही नहीं। जैसे छोटे बच्चे गुड़े गुड़िया का खेल करते हैं, उसमें छोटें कंकरों को मिठाई का रूप देकर सब किया करते हैं। जो बराती बनकर आते हैं। वे भी कुछ झूठमूठ में उन मानी हुई मिठाइयों को खाने का उपक्रम करते हैं। खाते नहीं, किंतु यह सब है क्या? केवल कल्पनाकी ही तो सब वस्तु हैं। क्या ऐसा करने से वास्तविकता आ गयी? उसी प्रकार हम भी कल्पना में लगे हुए हैं कि यह मेरा है आदि, किंतु इन सबमें कोई वास्तविकता नहीं है। धन्य हैं वे ज्ञानी जो सोचते हैं कि मेरा हिता तो मेरा ही स्वरूप है, अन्य नहीं। मेरे इस चैतन्यस्वरूप से अन्य कुछ नहीं। बाह्यपदार्थों से जितना त्याग बढ़ता जाता है उतनी ही महत्ता है। त्याग का ही तो महत्व है। यदि अन्तरंग से त्याग के भाव आ जावें तो अनन्त चतुष्टय के दर्शन हो जावें। और यदि ऐसा ज्ञान आ गया तो समझो कि उसका बेड़ा ही पार है, अतः चैतन्यस्वरूप ही मेरा स्वरूप मेरा सर्वस्व है। एक जीवद्रव्य को दूसरा कोई भी जीवद्रव्य उपाधि नहीं बना सकता। सादृश्य में सादृश्य की उपाधि नहीं बनती, ये जीव मेरे सदृश हैं, अतः मेरी उपाधि नहीं बन सकती। विपरीत जो शरीरादि पौद्गलिक वस्तु है वह उपाधि बन जायेगी। एक स्वच्छ कांच के सामने एक कांच रख दो तो वे आपस में मलिनता जाहिर नहीं कर सकते। इसलिए समानगुणपरमाणुका समानगुणपरमाणु के साथ बंध नहीं होता, विषममात्रा

सुख यहाँ प्रथम भाग

में हो जाता है। अतः मेरी उपाधि अजीव व पुद्गल से ही बन सकती है। वह स्वभाव मेरा नहीं, मेरा स्वभाव तो चेतनास्वरूप है। आत्मा को यदि समझना है तो इसका साक्षात् उपाय प्रयोग है। जैसे तैरना सीखना है तो उसका साक्षात् उपाय प्रयोग ही है। रोटी बनाना, मुंह से सब विधि बता दो। थाली में इतना आटा लेना, फिर आटा पतला भी न हो, गाढ़ा भी न हो, पहिला पर्त कम सेकें, दूसरा पर्त अधिक सेकें, रोटी ऐसे बनाना आदि सब विधि बता दो। फिर उसे बिठा दो रोटी बनाने के लिए। क्या वह बना देगी? नहीं। साक्षात् उपाय तो प्रयोग ही है। कितना ही संगीत पुस्तक से सिखा दो किन्तु क्या वह बिना प्रयोग के सीख सकता है हारमोनियम आदि? नहीं। साक्षात् उपाय सीखने का प्रयोग ही है। अतः यदि आत्मा के स्वरूप को समझना है तो साक्षात् उपाय प्रयोग ही है। ज्ञान मदद करे तभी नहीं, बल्कि चारित्र्य भी हो ताकि हम एक चित्त होकर अपनी आत्मा के कल्याण में लग सकें। बाह्यपदार्थों के भूलने से ही आत्मा के दर्शन होंगे। जैसे कोई सभा हुई, उसमें कोई प्रस्ताव रखा गया, उस पर अमल करो। किन्तु ऐसा कहने से ही क्या अमल हो गया? नहीं। जब तक प्रयोग नहीं होगा तब तक कुछ नहीं। प्रयोग से ही विजय है, ज्ञान है, यह तो ठीक, किन्तु बिना प्रयोग के काम बनेगा नहीं। हमारा समागम ऐसा होना चाहिये कि सुबुद्धि बनाकर आराम से रह सकें नहीं तो यह सब कमाने से ही क्या फायदा? सुबुद्धि बनाकर ऐसा समय निकालो ताकि दो क्षण अपनी आत्मा के कल्याण में भी लग सकें। किसी भी दुःखी को देखकर हम दयाकी बातें तो खूब करते हैं किन्तु उसे वहां से उठाने का उपक्रम नहीं कर सकते। देख रहे हैं कि बेचारा असमर्थ है, गन्दे नाले में गिर गया। न निकल पाने के कारण तड़फड़ा रहा है। हम चिल्ला चिल्लाकर इतना तो अवश्य करेंगे कि "भैया इसको निकालना बेचारा बहुत दुःखी है, किन्तु स्वयं निकालने के नाम पर कदम नहीं बढ़ाते, नहाना पड़ेगा उसको संकट से उबारकर।" प्रयोग का लोक में भी, परमार्थ में भी बहुत महत्व है। मैं वंशरहित हूँ। यदि मेरा वंश है ही तो वह है चेतना। वंशको जो पवित्र करे उसे पुत्र कहते हैं। मेरा वंश है चेतना और उसे पवित्र करने वाला मैं स्वयं हूँ।

जहां से कोई निकाल न सके उसे घर कहते हैं। ये ईंटों के घर क्या घर हैं? इनमें रहने का कुछ ठेका है क्या? एक साधु जा रहा था। उसे आगे एक हवेली मिली। बाहर उसका चौकीदार बैठा हुआ था। साधु ने पूछा यह धर्मशाला किसकी है? चौकीदार बोला—महाराज यह धर्मशाला नहीं है। साधु बोला—हम यह नहीं पूछते हम यह पूछते हैं कि यह धर्मशाला किसकी है? यह सब वातावरण देख नौकर मालिक के पास भागा। मालिक बोला कि महाराज यदि आपको धर्मशाला में जाना है तो हम नौकर को साथ भेज देते हैं, वह बता देगा, यह धर्मशाला किसकी है? मालिक ने दिमाग से सोचा, इसमें कुछ न कुछ राज अवश्य है, बिना मतलब के यह नहीं कह रहा है। सेठने गद्दी के पास बुलाया और कहा महाराज यह धर्मशाला नहीं है, मेरी हवेली है। साधु ने पूछा इसे किसने बनवाया था? सेठ बोला महाराज मेरे दादा ने इसको बनवाना शुरू किया था, फिर वे तो पूरी न बनवा सके मेरे पिताजी ने इसे पूरा कराया। साधु बोला—पिता जी फिर कितने दिन इसमें रहे? सेठ बोला कि ३ वर्ष रह सके फिर गुजर गये। साधु

बोला कि 'तुम कितने दिन इसमें रहोगे? सेठ संहम गया' । साधु बोला कि जिसे तू हवेली समझ रहा है, इसके छोड़ने के समय तुझे एक मिनट भी ठहरने की इजाजत न मिलेगी । हां उस धर्मशाला में भले ही इजाजत मिल जावे मंत्री से कह कर । फिर यह धर्मशाला ही तो है । इस प्राणी को ऐसा मोह लगा है, ऐसे मोहजाल में फंसा हुआ है कि यह मेरा है, यह उसका आदि ही रट लगाये हुए यह दुःख भोग रहा है । सोचो तो जब पूर्वभव का हमें कुछ ज्ञान नहीं कि हम कहां थे? कौन हमारे माता पिता थे? तब इस जन्म की ही अगले भव में क्या याद रहेगी ? अतः मैं अपने चेतन के घरको पहिचानकर अपनी आत्मा के कल्याण के मार्ग पर लंगू । सदा यही भावना भानी चाहिए । विषयकषाय आदि का जल जिसमें नहीं चूता, उस निजचेतनागृह को छोड़ अन्यत्र संसार की इस बरसात में कहाँ घूमूँ ? अतः इससे बचने के लिए चेतना रूपी घर में रहकर सुखी होऊँ ।

निर्मित्रश्चेतनामित्रो निर्गुरुश्चेतना गुरुः ।

चेतनान्यन्न मे किञ्चित् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥११-१२॥

अर्थ - मैं मित्र रहित हूँ, तथा चेतना ही है मित्र जिसका ऐसा हूँ, मैं गुरु रहित हूँ, चेतना ही है गुरु जिसका ऐसा हूँ, चेतना से अतिरिक्त मेरा कुछ नहीं है, अतः चैतन्य स्वरूप में ठहरता हुआ मैं अपने में अपने लिये स्वयं सुखी होऊँ ।

मेरा इस जगत में कोई नहीं । लोक में जो मित्र की तरह दीखते हैं वे केवल विषय भोगों में ही साथी हैं । वास्तव में कोई मित्र नहीं । घर कुटुम्ब में भी जिन्हें हम अपना समझते हैं, उनसे अच्छे भगवान् हैं या वे पुत्र, स्त्री आदि, जिसने अपने सहजस्वरूप को पहिचान लिया वे भगवान् के अतिरिक्त अपने सहजस्वभाव के अतिरिक्त किसी को अपना नहीं समझते और मोही जीव बाह्यपदार्थों को ही अपना समझता है । किन्तु वास्तविकता यही है कि अपना यदि कुछ है तो वह है चेतना, अन्य कुछ नहीं । उनसे, घर के पुत्रादिकों से तो पड़ोसी अच्छे हैं जो ज्ञान की बात बताते हैं, सिखाते हैं और ज्ञान में लगने के लिये प्रेरित करते हैं ।

ये मोही जन तो अन्धेरे में ही पड़े रहेंगे । उनसे अच्छे तो वे हैं जो हित का उपदेश देते हैं । ये ज्ञानी, उपदेशक संसार का अन्त करने में कारण होंगे और ये राग के कारणभूत अन्धेरे में रखने के सिवाय कर ही क्या सकते हैं? अतः यही सोचो कि मेरा कोई मित्र नहीं, यदि है तो चेतना । चेतना स्वभाव ही मेरा मित्र है । इसी प्रकार मेरा कोई गुरु भी नहीं है । गुरु तो सूर्यकी तरह होते हैं । सूर्यका काम है, प्रकाश कर देना याने मार्ग बता देना, मार्ग दिखला देना । किन्तु जब हम चलेंगे तभी तो वहां पहुंच सकते हैं । चलना तो मुझे ही पड़ेगा । इसी प्रकार गुरुमार्ग बताने वाले ही हैं, सही ज्ञान देने वाले हैं किन्तु यदि मैं उस पर आचरण करूंगा तभी तो मेरा हित होगा । अतः वे मार्ग बताने में कारण तो हैं, उसमें सूझ बनाओ तो कल्याण है । उस पर चलना तो तुम्हें ही है । अतः मेरा गुरु मैं स्वयं हूँ । तुम्हारे गुरु तुम हो । मेरा स्वभाव ही मेरा गुरु है । चेतना को छोड़कर अन्य मेरा कुछ नहीं । जिस मोह में फंसे हुये हम सोचते हैं कि अमुक बहुत अच्छा है, वह सब विपदा का कारण है । विपदा का कारण होता

है अज्ञान। जो हितकी अभिलाषा करे, हित की बात बतावे, हित से मार्ग में चला देवे उसे गुरु कहते हैं। वास्तव में कोई न मेरा हित चाह सकता, न अभीष्ट का मार्ग बता सकता, न अभिलाषा करा सकता। जो कुछ करूंगा मैं ही करूंगा। कोई यदि करुणा करेगा तो उसका उसमें ही परिणमन होगा, मेरा कुछ नहीं, सब कुछ करना तो हमें ही पड़ेगा। अतः वस्तुतः मेरा कोई गुरु नहीं है। मैं ही अपना गुरु हुआ। तुम्हारे गुरु तुम स्वयं हो। मेरा सब कुछ मैं ही हूँ। उस आत्मतत्त्व की श्रद्धा करो, दृष्टि लगाओ तो ये सब विपदायें नष्ट हो जावेंगी। जन्म जरा मरण के चक्कर मिट जावेंगे अन्यथा दुनिया में बने दूसरों के द्वारा तोड़े गये, फोड़े गये, खोदे गये, गीला किया गया, क्या कष्ट नहीं पाये। हम जल भी बने। उसके दुःख देखो- गर्म किया गया, ठण्डा किया गया, कीचड़ में मिलाया गया, बहाये गये, ये दुःख हमने ही तो सहन किये। अग्नि बनकर उसके दुःख देखो - जलाया गया, पीटा गया आदि यह सब दुःख भी हमने ही सहन किये। हवा बनकर भी उसके दुःख, टायर में बन्द किया गया, पंखे से हिलाया गया आदि भी दुःख हमने ही सहन किये तथा कीड़े मकौड़ों में रहकर भी हमने ही दुःख सहन किये।

आजकल लोग जूतों में नाल लगवाते हैं, उनमें कितने कीड़े-मकौड़े नहीं मरते-बहुत मरते हैं, कुचल दिये जाते हैं। वनस्पति के दुःख कुल्हाड़ी से काटने आदि के भी हमने ही सहन किये। तिर्यञ्च के दुःखों को भी, नरक के, देवों के दुःखों को भी हमने ही अपने अज्ञान के द्वारा सहन किया। कोई तो चूहे को बन्द कर देते हैं फिर बिल्ली को सामने खड़ी कर खोलते हैं वह उसको खा जाती है। हिंसक लोग रस्सी से उसकी पूंछ बांध लेते हैं और अग्नि पर लटका देते हैं। वहीं तड़प-तड़पकर उसके प्राण निकल जाते हैं। भैया, ये दुःख भी तो हमने ही उन पर्यायों को धारण कर सहन किए। अंडे, मुर्गे, मछलियों का तो कहना ही क्या है? कितने-कितने दुःख सहन करने पड़ते हैं।

वे भी दुःख अज्ञान के कारण हमने ही सहे और यदि हम अब भी अपने विवेक में न लगे तो फिर ये दुःख सहन करने पड़ेंगे और हित की बात जानेंगे, करेंगे तो भी हमें ही आनन्द होगा। कोई उसमें क्या कर देगा? हित में लगना भी हमारे लगने से ही होगा। तब मैं ही तो स्वयं का गुरु हुआ। यदि अन्य गुरु हैं भी तो सूर्य की तरह। अतः गुरुजनों ने जो हित का उपदेश किया अब मैं उसपर श्रद्धा कर चल सकूँ तो चल लूँ अन्य उसमें कोई क्या कर देगा? जो कुछ करूंगा मैं स्वयं ही करूंगा। इष्टवियोग या अनिष्टसंयोग होने के कारण जब यह प्राणी बहुत दुःखी हो जाता है तो पड़ौसी आकर बहुत समझाते हैं, किन्तु वह चुप नहीं होगा। क्योंकि दूसरा उसमें परिणमन तो नहीं कर देता। अतः चेतन से अतिरिक्त मेरा कुछ नहीं। जिस शरीर की रग-रग में हम समाये हुए हैं, जब वही मुझसे भिन्न है, वही मेरे स्वरूप से अलग है, तब बाह्य पदार्थों में कैसे कहा जावे कि ये मेरे हैं? चेतन को छोड़कर अन्य मेरा कुछ नहीं। जो ज्ञानीजन ऐसा मानते हैं वे अपने आपमें प्रकाश पाते हैं, पुष्ट होते हैं। हम तो समस्त पदार्थों के साथी नहीं हैं, उन पदार्थों से भिन्न हैं सो उन्हें अंगीकार न करें। गवाह उसे कहते हैं जो जैसी बात हो उसको उसी रूप में कह देवे, गवाह घटना का होता है, हमारा तुम्हारा नहीं। यह पदार्थ ऐसा है, इसका परिणमन भी ऐसा ही है, बस यह जानता रहे। ज्ञाता तो रहे किन्तु यह विचारे कि मेरे चैतन्य भावों छोड़कर

मेरा जगत में अन्य कोई नहीं। अतः बाह्य पदार्थों की उपेक्षा कर अपने में अपने लिए अपने द्वारा अपने आप सुखी होऊँ। सत्य जो है उसे मान तो, उसी की उपासना करो। प्रत्येक पदार्थ का अपना- अपना जैसा सहज स्वभाव है वही सत्य है। जिस मकान में रहते हैं, क्या यह सत्य है कि वह अपना है? नहीं यह असत्य है। सत्य होता तो सदा रहता। ये सब असत्य है, शरीर तक तो असत्य है। कर्मोदय से मोह में ऐसा भाव बन जाता वास्तव में ऐसा है नहीं। मेरा तो चेतना को छोड़कर अन्य कुछ नहीं। क्रोधादिक भाव सब नाशवान हैं, अन्तरंग के दर्शन हो जाने से वे सब नष्ट हो जावेंगे क्षणभर में।

एक पुरुष बहुत व्यसनी था। उसकी स्त्री बहुत भली थी। उसने दुर्व्यसनों का त्याग करने के लिए बहुत समझाया, किन्तु वह न माना। एक दिन उसकी स्त्री ने उसे एक बटरिया दी और कहा कि ये हम सबके देवता हैं। तुम एक बात मानो इसकी पूजा कर लिया करो और चौबीस घंटों के लिए ऐब छोड़ दिया करो। उसके पति ने स्वीकार कर लिया प्रतिदिन चावल चढ़ावे, घंटा बजावे, नमस्कार करे और २४ घंटों को पाप छोड़ देवे। इस प्रकार जब कुछ दिन बीत गये तो एक दिन उसने देखा कि बटरिया के ऊपर चढ़कर चूहा चावल खा रहा है। उसने सोचा कि इस बटरिया की पूजा करना बेकार है, क्योंकि इससे बड़ा तो यह चूहा ही है। अब वह प्रतिदिन चूहे पर चावल चढ़ावे, घंटी बजावे, नमस्कार करे और २४ घण्टों का पाप छोड़ देवे। कुछ दिन बाद उसके ऊपर बिल्ली झपटी। उसने सोचा कि इससे बड़ी तो बिल्ली है। अतः वह अब बिल्ली की पूजा करने लगा। प्रतिदिन चावल चढ़ावे, नमस्कार करे, घंटी बजावे और २४ घंटों के लिये पाप त्याग देवे। कुछ दिन बाद उस पर कुत्ता झपटा। अब वह कुत्ते पर देवता के भाव रख उसे पूजने लगा और सब कार्य उसी प्रकार किये। एक बार वह कुत्ता रसोई में घुस गया, औरत ने उसको डंडों से मार दिया। उसने सोचा कि इससे बड़ी तो मेरी औरत ही है, मैं व्यर्थ ही भटक रहा हूँ। अतः अब वह औरत की ही पूजा करने लगा। प्रतिदिन चावल चढ़ावे, घंटी बजावे, नमस्कार करे और २४ घंटे के लिए पाप छोड़ देवे। जब कुछ दिन इस प्रकार बीत गये तो एक दिन वह खाना खा रहा था। नमक अधिक हो गया था खाने में। अतः वह अपनी पत्नी से बोला कि आज नमक कैसे अधिक हो गया? औरत भी पूजा के कारण अब बढ़ गयी थी, अब उत्तर भी जोर शोर से ही दिया कि हाथ ही तो है अन्दाज में अधिक डल गया होगा। उससे यह सहन न हुआ और अपनी औरत को पीट दिया। फिर उसने सोचा कि यह तो मैं ही बड़ा हूँ, बेकार में आज तक इन सबकी पूजा करता रहा। तात्पर्य यह कि उसको छोड़, इसको ग्रहण कर। इस प्रकार करते- करते स्वयंपर आ गया। अंतः सब लघु हैं तुम्हारे लिए। तुम्ही महान हो, अन्य कोई महान नहीं। अंतः अब पर-दृष्टि छोड़ कर मैं अपनी आत्मा में रमकर अपने में अपने लिए अपने द्वारा अपने आप सुखी होऊँ।

निर्वित्तश्चेतनावित्तो निष्कलश्चेतनाकलः ।

चेतनान्यन् मे किञ्चित् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् । १७-१३॥

अर्थ- मैं धन रहित हूँ, व चेतना ही है धन जिसका ऐसा हूँ, शरीर रहित हूँ, व चेतना ही है शरीर जिसका ऐसा हूँ, मेरा चेतना से अन्य कोई भी पदार्थ नहीं है, अतः जानता देखता हुआ मात्र ही मैं अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ ।

मैं धनरहित हूँ, वित्तरहित हूँ। धनका दम लोक में अधिक माना जाता है। प्राण, दम, शक्ति जैसे अर्थ में वित्तका प्रयोग होता है। कुछ पढ़े लिखे तो धनको ग्यारहवां प्राण कहते हैं। वैसे दस प्राण ही होते हैं, किन्तु धनको भी प्राण मान लिया है। बताइये कितना मोह है इस धन के प्रति प्राणी को? दुनियादारी में, व्यवहार में आज धन का बहुत बड़ा महत्व है, किन्तु दूसरी दृष्टि से यदि सोचोगे तो पाओगे कि यही पाप का पक्का कारण भी बनता है। अतः वास्तव में तो चेतना ही धन है।

चेतना है धन जिसका ऐसा मैं हूँ। मैं शरीररहित हूँ, न मैं वित्तरूप हूँ, न शरीर रूप, वित्त तो प्रकट ही अचेतन वस्तु है। शरीर से चेतना का सम्बन्ध भले ही हो, किन्तु वह भी अचेतन ही है। मेरा धन, शक्ति, बल सब कुछ चेतना ही है, इससे अन्य कुछ नहीं है। अतः मैं शरीररहित हूँ, कलकल रहित हूँ, झगड़ा रहित हूँ उपद्रवरहित हूँ। कल कहते हैं शरीर को। जैसे कहते हैं कि क्या कलकल लगा रखी है अर्थात् क्या शरीर शरीर लगा रखा है। यह सब जो नृत्य हो रहा है, सब कलकलका ही तो है। अतः मैं कलकलरहित हूँ। यदि मेरा कल है ही तो वह चेतना है। मेरा स्वरूप सिद्धों के समान है। वे शरीररहित हैं, अतः मैं भी शरीररहित हूँ। निज तत्त्व पर दृष्टि दी जावे (क्योंकि अस्तिकाय आदि में भी काय शब्द आया है, तो मेरा शरीर ज्ञान है।) मेरा सर्वस्व ही ज्ञान है। चेतना मेरा लक्षण है, और यदि अन्य अन्य प्रकार से अपने ऊपर दृष्टि दो कि मैं कितना लम्बा चौड़ा हूँ, तो ऐसी दृष्टि करने से आत्मानुभव नहीं हो सकता। क्या क्रोधी, मानीका परिणमन देखकर आत्माका लक्षण समझा जा सकता है? नहीं। भैया, आत्माका लक्षण तो चैतन्यस्वरूप है — चेतना। अतः आत्माका शरीर है तो ज्ञान है। ज्ञान से ही आत्मा की समझ पड़ती है और ज्ञानरूप में ही आत्मा को समझा जावे। तो समझमें आ जावे अतः जो सिद्ध हैं वही मैं हूँ।

वास्तविकता तो यही है कि मनुष्य कषाय बिना आत्मानुभव का पात्र हो सकता है। सम्यग्दृष्टि ही क्यों न हो वह भी तीव्र कषाय के रहने से आत्मानुभव का पात्र नहीं हो सकता। यदि विपदा कुछ है तो इस कषाय की ही विपदा है। मेरा तो चेतना के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। आज संसार में इस शरीर व धन दोनों का ही बहुत बड़ा महत्व है। बहुत से ऐसे प्राणी होते हैं। चाहे कितना ही धन हो पास में, दान करने के भाव भी हों, किन्तु अपने हाथ से खर्च नहीं कर सकते। स्वयं मुँह से भी स्पष्ट कह देते हैं कि मुझसे खर्च नहीं हो सकता। प्रकृति ही कुछ ऐसी है। भले ही लड़के से दिला देगा, किन्तु अपने हाथसे नहीं दे सकता। कुछ ऐसी वासना हो जाती है कि नहीं दिया जा सकता। यह हुई धनकी तृष्णा, लालसा और शरीर की तृष्णा है — मैं बहुत अच्छा हूँ, मेरा आकार ऐसा है आदि संस्कार बनाये रखना। जैसे धनके लोभ में अपने हाथ से लाभ नहीं होता, उसी प्रकार शरीर रहते हुए भी शरीर का कार्य नहीं किया जा सकता। ये दोनों ही मोह प्रबल हैं। अतः मेरा स्वरूप न तो धन है और न शरीर है।

मेरा सब कुछ ज्ञान ही है। जिसे आत्मदृष्टि है उसका भाव होता है कि सब धनादि मैं परोपकार में ही लगा दूँगा। य मन भी विनाशीक है, अतः, यही सोचें कि सब जीव सुखी होवें। अन्यथा दूसरों

के प्रति बुरे भाव रखने से अगले भव में मनरहित जन्म होगा । वचन रहित जन्म लेना होगा । यदि इस तनका दुरुपयोग किया, परोपकार में न लगाया तो निश्चय ही पृथ्वी वृक्षादि अगले भव में बनना पड़ेगा । किन्तु ज्ञानी जन यही सोचते हैं कि मेरा तन, मन, धन लगकर जनता प्रसन्न हो तो मैं ये सब उनकी सेवा में लगा दूँ। ये तो नष्ट होने वाले हैं अतः जितना भी तन, मन, धन से दूसरोंका भला हो सके करना चाहिये । और यदि कहो कि मोह वालों में लगा रहे हैं तो उससे क्या लाभ? अरे, सबको समान देखो और सबके प्रति अच्छी भावनाएं सोचो, परोपकार करने के लिए दूसरों का दुःख तन, मन, धन, वचन से दूर करने के लिए तत्पर रहो । ऐसा न हो कि कहीं इनको दुरुपयोग करने से अगले भवमें इनसे रहित अवस्था को प्राप्त हों, और रही अपनों में उपकार करने की बात, वह तो तुम उनके मोहवश स्वयं बिना किसी के समझाए भी करोगे ही । ज्ञान तो जब है जबकि सबको एक दृष्टि से देखते हुये तन, मन, धन, वचन से जहां तक हो सके दूसरों की सेवा करो । एक पंडित को परोपकार के लिए कुछ रुपया जीवदया के लिए एक बड़े फण्डके रूप में दिया गया कि परोपकार में लगा दो । बाद में जब हिसाब पूछा गया तो बोले कि मैंने परोपकार में खर्च कर दिया है, अपने घर वालों पर जो रुपया इसमें से खर्च किया, वह भी तो परोपकार ही है ।

सोचो भैया ! क्या वह परोपकार में शामिल है? नहीं । आप देखेंगे तो पायेंगे कि घूमने के समय पर भी ऐसे सज्जनों से वास्ता पड़ता रहता है कि भले ही उनके लिए आप या अन्य कोई परिचित नहीं, फिर भी नम्र वाणी से बातचीत करेंगे । जहां अवसर होगा परोपकार किये बिना चूकेंगे नहीं । उत्तम सदबुद्धि रखने से अध्यात्म मार्गपर चलने का पात्र बनो । अतः मेरा तो इस संसार में चेतना को छोड़कर अन्य कुछ नहीं । तब मैं अन्यपने की दृष्टि न लगाकर अर्थात् अन्य में उपयोग न लगाकर अपने में अपने लिए अपने द्वारा अपने आप सुखी होऊँ । इसको छोड़कर दुनिया में सुख का अन्य कोई उपाय नहीं । दुनिया में जो लेनदेन की प्रथा है, उसमें देने वाले को साहु कहते हैं । तो वह कोई भी जब रुपया नहीं लेने आता है तो उनकी इस प्रकार की कहावत हो गयी है कि 'साहु जी ठीक-ठीक बता दें आप देंगे या नहीं' । "क्योंकि हांका मरे और नाका जीवे ।" अर्थात् आपने हमारे मांगने पर हां कर दिया और समय पर न दिया तो हम बेमौत मारे जावेंगे । और यदि स्पष्ट में देने से इन्कार कर दिया तो कम से कम अपना अन्य उपाय तो कर लेवेंगे, भरोसे तो न रहेंगे । इसी प्रकार दुनिया के पदार्थों में करोगे कि हां यह भी अच्छा, इसमें भी अच्छा यदि तब तो समझो कि मरे । और यदि इस प्रकार सोचोगे, नहीं, पुत्र में भी सुख नहीं, पत्नीमें भी आनन्द नहीं, दुनिया के किसी पदार्थ में भी आनन्द नहीं । आनन्द है तो केवल अपने चेतनास्वभाव में, जो समझा वह अमर हो गया । आत्मबल ही एक ऐसा बल है जो कषी हुई अर्थात् कषाय की स्थिति में भी अनाकुलताका ज्ञान करा देता है अन्तर्ज्ञान से उठी हुई अन्तः परिणति पूर्ण होती है । जिनके अंतर्मन में श्रद्धा है वे बाहर भी वैसे ही दिखायी देते हैं । किन्तु मिथ्यात्व के कारण ही आज धर्मपर आक्षेप आता है ।

धर्म तो संदा सुख का ही हेतु है। धर्म की ओट में जो अधर्म चलता है उससे लोक धर्म पर आक्षेप करते हैं। धर्म तो धर्म ही है। जैसे कि एक किसान के तीन बैल थे। दो को तो वह जोतता था, एक बैल बंधा रहता था। जहां वह बंधता था उसके ऊपर एक अलमारी थी, जिसमें वह किसान अपना खाना रखता था एक बन्दर प्रतिदिन आता, अलमारी खोलता, खाना खाता और जूठन आदि बैल के मुंह पर मल जाता था। किसान की दृष्टि बैलपर ही रहे कि इसीने खाना खाया। यही मेरा सब खाना खा जाता है सो वह खूब उसको पीटे। १०-१५ दिन जब इसी प्रकार बीत गये तो पड़ौसिन ने उस किसान को समझाया कि भाई इसे क्यों पीटता है? यह किस प्रकार अलमारी खोल सकता है, अलमारी तो इससे ऊपर है, किन्तु वह किसान बोला कि मैं यह सब नहीं जानता। मुंह तो इसीका पुता हुआ है फिर सन्देह कैसा? उनके काफी समझानेपर छुर्पकर देखने के लिए वह तैयार हो गया। प्रतिदिन की तरह वह बन्दर आया, उसने अलमारी खोली; खाना खाया और झूठन बैलके मुंह पर पोत दी। उसी प्रकार वृषभ तो हुआ धर्म और बन्दर हुआ पाप। सो भैया! खोटी करतूत तो पाप करता है, अपयश धर्मका होता है। कितना ही बड़ी से बड़ी विपत्ति क्यों न हो, ज्ञानी तो यह विचारता है कि मैं तो चैतन्यस्वरूप हूँ, फिर कहां है विपत्ति, कहां है दुःख? इस विचार के बाद विपत्तियां दूर हो जाती हैं। ज्ञानी सम्पदा, विपदा, सुख दुखको एक ही दृष्टि से देखता है। मैं भी ज्ञानस्वरूप हूँ सो अपने चैतन्यस्वभावको पहिचानकर अपने में अपने लिए अपने आप अपने द्वारा सुखी होऊँ।

यह बात केवल शुद्ध निज चैतन्यस्वरूप की दृष्टि द्वारा प्राप्त हो सकती है। एतदर्थ हम लोग अन्य सब बातों की असारता का निर्णय कर अब अपनी ओर आये। भैया! यदि तुम इसका निर्णय करना चाहते हो तो यह तो निश्चय है कि ये धन, मित्र, पुत्र, पत्नी आदि मेरी शान्ति के कारण नहीं हैं। इतना ज्ञान दृढ़तापूर्वक करके इन सबकी उपेक्षा करो और यही सोचो कि ये बाह्यपदार्थ मेरे ज्ञान में न आवें, मेरा ज्ञान निर्मल रहे। अतः उसको निर्मल रखने के लिये अपने अन्दर इन बाह्यपदार्थों में जब तक राग दृष्टि रहेगी तब तक शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती और जहां इनकी उपेक्षा की, इनके प्रति मोह न रखा, इनमें उपयोग न लगने दिया तो अशान्ति कहीं रह ही नहीं सकती। अतः भैया! यदि सुखी होना चाहते हो, वास्तविक आनन्द प्राप्त करना चाहते हो तो इन बाह्यपदार्थों की बुद्धि न रखो। संसारी जीवों में ये छंटनी मत करो कि यह मेरा है, यह पराया है। सब पर समान भाव रखो। सबके प्रति यही भावना भावो कि सब जीव सुखी होवें, सबके प्रति क्षमा भाव रखो। तन, मन, धन, वचन से जितना परोपकार हो सके, इनका उपयोग करो। अपने आश्रित व्यक्तियों में ही नहीं, जो अपरिचित हैं उनके प्रति भी मधु-र वाणी बोलो, नम्रता से पेश आवो, उनके भले की ही सोचो, अपने परिश्रम करने से किसी को फायदा पहुंच जावे तो सामर्थ्य के अनुसार उसका उपकार करो। आत्मा तो अमर है शरीर से भैया तुमने कुछ परिश्रम भी कर यदि दूसरे की सेवा शुश्रूषा कर भी दी तो तुम्हारा क्या घट जावेगा? तुम तो शाश्वत हो, धन देकर किसी की सहायता हो तो चूको मत। आगे भी इससे अधिक जिस प्रकार पूर्वभव के पुण्यकर्म से इस जन्म में प्राप्त किया, प्राप्त किया जा सकता है। फिर भी इसकी चाह नहीं करो, ऐसा

हो जाता है सो होने दो । हां धनका दुरुपयोग करना बुरा है । या तो सदुपयोग करो या सब त्यागकर अपनी उपासना में लग जाओ ।

दुरुपयोग करने से इस लोक में भी विपदा है और भी दुर्गति ही है । यदि सत्य उपाय बन गया, तो उससे परम शान्ति प्राप्त होगी । परम विश्राम होगा एवं अपने सहजस्वभाव दर्शन भी कभी हो जावेंगे । इसका आनन्द सब सुखों की अपेक्षा विलक्षण होगा । तब वह उस स्थिति को छोड़ना नहीं चाहेगा, और यही सोचेगा कि मैं इसे किस प्रकार बनाये रखूँ? यह तो वही स्थिति है जिसे मैं आज तक खोजता रहा, जिसके दर्शन न कर नाना गतियों में घूमता रहा, किन्तु अब मैं अपने उद्देश्य को पा गया हूँ, इसी में मेरा कल्याण है । ऐसा करने पर पाप स्वयं ही छूट जावेंगे, और पापों के छूटने का नाम ही तो धर्म है अतः भैया ! अपने आपको पहिचानो फिर कोई सता नहीं सकता । समझ लो फिर बेड़ा पार हो गया । अपने आचरणों को ठीक रखने से ही मुक्ति के मार्ग पर जीव लंग सकता है । अतः व्यसनों का त्यागकर अपनी आत्माके स्वयंसिद्ध ज्ञानस्वरूपका ध्यान कर अपने कल्याण में लगे । यही तो अपना धर्म है ।

निष्कीर्तिश्चेतनाकीर्तिर्निष्कृतिश्चेतनाकृति : ।

चेतनान्यन्न मे किञ्चित् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१११॥

अर्थ- मैं कीर्ति रहित हूँ व चेतना ही है कीर्ति जिसकी ऐसा हूँ, और कृति रहित हूँ, व चेतना ही जिसकी कृति है ऐसा हूँ, मेरा चेतना से अन्य कुछ भी नहीं है, अतः चैतन्यभाव को ही चेतता हुआ मैं अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ ।

यह जीव कीर्ति चाहता है । प्रत्येक संसारी जीव चाहे वह किसी भी दशा में क्यों न हो किन्तु वह यश की कामना मन में रखता है कि सब मुझे अच्छा कहें । भैया ! यदि शरीर की कीर्ति चाहते हो तो यह तो कठोर सत्य है कि यह साथ नहीं देगा ; यह नष्ट होने वाली चीज है, तब इसकी क्या कीर्ति? जो वस्तु स्वयं ही नष्ट होने वाली है उसकी कीर्ति कैसी? और जब आत्मा को पहिचाना ही नहीं तब आत्माकी कैसी कीर्ति ? अतः मैं चैतन्यस्वरूप हूँ । मैं कीर्तिरहित हूँ । मेरा स्वरूप कीर्तिरहित है । मेरी कीर्ति यदि है तो वह चेतना ही है । आत्माके स्वभाव का कार्य हाथ पैर चलाना आदि नहीं । इसका काम तो जानना, देखना, श्रद्धान करना है । क्योंकि यह तो मात्र चैतन्यस्वरूप है । यह सब जो क्रिया हो रही है वह सब पुद्गलकी हो रही है । यह पैसा, धन, वैभव, ऐश्वर्य, पोजीशन, पिता, पुत्र, स्त्री, बन्धु, बान्धवादि का जो मोह लगा हुआ है हम इसीमें पिले जा रहे हैं, आत्मचिन्तन नहीं करते । हम जिनको पराया समझते हैं, जिनसे हमारा परिचय नहीं, जो अपरिचित हैं, उनसे हमें क्लेश नहीं पहुंचता किन्तु उन मोहियों से, जिनसे हम मोह बढ़ा रहे हैं, जिनको हम अपना हितैषी मान रहे हैं, उनके कारण ही क्लेश होता है । यदि गैर आदमी हमारी आज्ञा नहीं मानता, यदि हमें उल्टा- सीधा कह देता है तो हमें क्लेश नहीं पहुंचता किन्तु जिनसे हम मोह बढ़ाये हुए हैं, वे यदि आज्ञा न मानें या विपरीत बात कह दें तो क्लेश पहुंचता है । फिर भी मोह से उन्हें छातीसे लगाये फिरता है । क्या किया जा सकता है? जब मैं इतना भी नहीं समझता कि जिससे तू मोह कर रहा है वही तुझे अनिष्ट पहुंचाने वाला है । सबके

सुख यहाँ प्रथम भाग

प्रति समताभाव धारण कर सुखी होने की भावना न करके यों ही दुःख को सुख मानकर भटक रहा है। सुखका उपाय यदि है तो वह है ज्ञान व वैराग्य। सच्चा ज्ञान व परपदार्थों में उपेक्षा भाव ही सुख प्राप्त करा सकता है, अन्य नहीं और सब ये बाह्यपदार्थ तो संसार-समुद्र में भटकाने वाले ही हैं, पार लगाने वाले नहीं। इस जीव का परपदार्थों में कुछ भी शरण नहीं है। यदि शरण है तो वह अपना ज्ञान व परपदार्थों से उदासीनता ही है। जितना ज्ञान का विकास करोगे उतना ही सुखी होवोगे। परपदार्थों में मोह का नाम ही विपदा है। जिसने अपने आपको पा लिया वही अन्तरात्मा है और वही सुखी है।

सुख का उपाय सत्संग, स्वाध्याय, भगवद्भक्ति है। सबको समान दृष्टि से देखते हुए उन्हें अपने से गैर समझो। हम जो भी कर रहे हैं व जिनसे मोह है उनके प्रति कर रहे हैं, किन्तु सब कुछ समर्पण करना चाहिये ज्ञान व वैराग्य के हेतु। अन्यायसे, अनीति से, झूठबोलकर, तात्पर्य यह कि जिस उपाय से हम आजीविका कमा रहे हैं, उनके लिए जो हमारे कुटुम्ब के हैं, जिनको हम अपना समझते हैं, किन्तु वे ही विपदा व पतन के कारण बनते हैं। बाल्मीकिजी का काम यही था कि वे आते जाते मुसाफिरों को लूटते थे, उनका सब माल छीन लेते थे। एक बार एक साधु जा रहा था उसी मार्ग से। बाल्मीकिजी ने ललकार कर कहा कि ए मुसाफिर ! जो भी तेरे पास है, वह सब निंकांलकर यहां रख दे, नहीं तो मैं तुझे मार डालूंगा। साधु जी के पास जो भी लोटा कम्बल आदि था, सब देकर बोले कि भैया ! इनको या तो कहीं रख लो या मुझपर विश्वास कर एक काम करो कि अपने घर यह पूछकर आओ कि जो मैं यह पाप की कमाई कर रहा हूँ, उसमें तुम भी साथ दोगे या नहीं? पाप तुम भी बांट लोगे? बाल्मीकिजी अपने घर जाकर अपने मां, बाप, भाई, बहिन, पत्नी आदि सबसे पूछते हैं कि मैं जो यह पापकी कमाई रात-दिन परिश्रमपूर्वक कर रहा हूँ, इसमें तुम लोग भी साथ दोगे या नहीं? भैया ! पापका नाम ही बुरा होता है, कौन उसमें हिस्सा बांटने के लिए तैयार होगा? सबसे इन्कारीकी बात सुनकर वापिस आया वह, और उसी दिन से ज्ञानकी साधना में लग गया। वैराग्य प्राप्त हो गया, यही जानकर कि मैं जिनके लिये यह कृत्य कर रहा हूँ वे कोई साथ नहीं देंगे, हिस्सा नहीं बाँटेंगे, तब साधुजी को सब वापिस कर बाल्मीकिजी आत्मप्रगति करने के हेतु साधु बन गये। अब बताइये कौन है अपना इस आत्मा के सिवाय, चैतन्यस्वरूप के अतिरिक्त? अतः हे भाइयो, सबको चैतन्यस्वरूप देखो व सोचो कि सब जीव दुनिया के सुखी होवें, कोई दुखी न रहे और मुझसे जो भी तन, मन, धन, वचन द्वारा उपकार हो सके उसे करने में मैं न चूकूँ। इसपर बहुत विचारो कि हमारा किसी के प्रति कभी दुर्व्यवहार न हो। यह ध्यान रखो कि जो हमको प्रतिकूल प्रतीत होगा, हमारी प्रकृति से विरुद्ध जो होगा उससे दूसरों को भी तो कष्ट पहुंच सकता है, सो जिन बातों से हमें अच्छा प्रतीत नहीं होता तो दूसरों के प्रति वह दुर्व्यवहार न करें।

हमारे शरीर में यदि कांटा लग जावे या सुई चुभ जावे तो कितना दुःख पहुंचता है? फिर आजकल जो ये मांस, मछली को खाद्य बनाया जा रहा है, भोजन बनाया जा रहा है, उसमें तो मुर्गा, बकरा आदि को काटा जाता है, उनको कितना दुःख होता है, उनको कितनी छटपट लगती होगी, और वही कुछ लोगों

की स्वादिष्ट सामग्री बनती है, उनकी तो जरासी रसनाकी तृप्ति और उनका प्राणान्त और वह भी वेदनापूर्वक। हाय रे मानव ! कितना पतन हो गया है, क्यों भूल रहा है कि तेरा यह कर्तव्य नहीं, इसमें सुख नहीं, विपदा है, जन्म मरण के चक्कर हैं। बड़े अफसोस की बात है। कि यदि मानवजीवन पाकर भी तपस्या न की, तो अवश्य ही हम बुरे मार्गपर हैं। कितनी दुर्लभता से मिला है ये मानव जीवन और इसको यों ही गंवा दिया तो पछताना पड़ेगा। मनुष्य, देव, तिर्यज्य और नरक- इन चारों गतियों में यदि उत्तम गति है तो वह है मानवपर्याय, मानवगति और इसे पाकर भी यों ही गंवा दोगे तो समझो कि तुमने अप्राप्य वस्तुको पाकर मूर्खतावश उसकी कीमत न समझी अतः भैया ! इसकी कीमत समझो और समझ बूझकर, दृढ़ विश्वास कर आत्मकल्याण के मार्गपर लगो, मन, वचन, तन और धन से जितना हो सके परोपकार करो, नहीं तो क्या है, जैसे जीव जीते हैं वैसे ही हमारा भी जीवन, वैसे ही मरण, इनके बीचका जीना चलता रहेगा। फिर चौरासी लाख योनियों में भ्रमण। अतः कीर्ति को असार जानकर पारमार्थिक ज्ञानस्वरूप में उपयोग देकर सत्य कीर्ति व कृति प्राप्त करो।

जीविताशा प्रतिष्ठाशा विषयाशा जनैषणा ।

अभिर्मुग्धोविनष्टोऽहं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१५॥

अर्थ - जीने की आशा यश प्रतिष्ठा की आशा विषय प्राप्ति की आशा, लोग अच्छा कहें इस प्रकार की आशा, इनसे मोहित हुआ मैं विनष्ट हुआ अब उनसे निवृत्त होकर मैं अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ ।

ज्ञानवान् पदार्थ शरीर से जुदा है। मैं तो आनन्दस्वरूप शान्तिस्वरूप हूँ और इसी की अभिलाषा में लगा हुआ भी हूँ। केवल यही लक्ष्य है मेरा कि मैं शान्तिवान् बनूँ, अन्य की अपेक्षा नहीं। अमुक कुलका हूँ, अमुक जातिका हूँ, अमुक धर्मका हूँ, आदि बातों से प्रयोजन नहीं। मैं जो कुछ भी हूँ, शान्ति की खोज करने वाला हूँ। ऐसी प्रत्येक प्राणी की इच्छा है, किन्तु वह ज्ञान न होने के कारण व्यवहार से बाह्यपदार्थों में आकृष्ट हो, विषयवासना में आकृष्ट हो, उसी में शान्ति की कामना करता है। लोगों को आकृष्ट करने के लिए बाह्यपदार्थों में ही उपयोग लगाये रहता है किन्तु शान्ति प्राप्त नहीं होती। मैं तो शरीर से भिन्न निराला ज्ञानपुञ्ज हूँ, शान्तिस्वरूप हूँ, बस मुझे यही चाहिये, अन्य कुछ नहीं। बाह्यपदार्थों से जब उपेक्षा होगी तब समझो कि हम अमूल्य निधि को प्राप्त करने के पात्र हैं। जिस पदार्थ का जो स्वभाव है उस स्वभाव को ही धर्म कहते हैं। अपने को धर्मरूप मानना सो धर्म को ही पाना है। आत्मा का स्वभाव सो आत्मा का धर्म। अपने स्वरूप में ही उसे मानना, सो धर्म का पालन है।

धर्म का पालन बाह्यक्रियाओं से न होकर ज्ञानभावना से होगा। अन्य कोई उपाय नहीं धर्म के पालन का। धर्मपालन अपने से ही किया जाता है। तन, मन, धन वचन के सदुपयोग से जितना भी हो सके स्व-परोपकार करें। जो धर्म करने वाली आत्मा है वह शरीर में ही तो है। ज्ञानी जन तन, मन, धन वचन से जैसे भी हो सके स्वोपकार व परोपकार में ही लगा रहता है तथा सुखी भी वही है। इनके सदुपयोग में ज्ञानी जीव पथभ्रष्ट नहीं होता। और इनका सदुपयोग न करने के ही कारण ये सब विवाद लगे हुए

हैं। इनके कारण ही नाना भेद बन गये। परमार्थदृष्टि से तो ज्ञानी जीव सबके प्रति उपेक्षा भाव रख धर्म के स्वरूप को समझते हैं, अन्तर्दृष्टि बनाकर धर्म का पालन करते हैं। यह स्वभाव अनादि से अनन्त तक एक सा रहता है। शाश्वत जो सत् है वही द्रव्य कहलाता है। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि मेरा स्वभाव नहीं। इनको धर्म मानना अधर्म का पालन है। मेरा स्वरूप तो चैतन्य है, इसका कार्य ज्ञाता, द्रष्टा रहना है। बाह्यपदार्थ व परभावका मैं कर्ता नहीं यही दृष्टि धर्म का पालन है। दुर्लभ इस मानवजीवन को पाकर संयमज्ञान बढ़ाना जितना हो सके उतना ही कल्याण है। जीवन प्यारा है तो धर्म पालन से जितना हो सके उतना भला कर लेना चाहिये। जीवन प्यारा है तो वह धर्मपालन के लिए है, खाने-पीने के लिए नहीं। भैया! जीने के लिए खावो। खाने लिए जीना मानव जीवन नहीं। जीवन है धर्म पालन के लिए। सबसे बड़ा धर्मपालन तो यही है कि अंविचार आत्मस्वरूप को देखो, सब पर समता भाव रखो, क्रोधादि कषाय मत करो। कषाय करना क्या इस जीवन का स्वभाव है? नहीं। हम कहते हैं कि किसी से कहा जाय कि तुम एक घंटे तक क्रोधी बनकर रहो तो क्या वह रह सकता है? कुछ समय पश्चात् ही वह अपने वास्तविक स्वरूप में आना चाहेगा। जैसे जल को आग पर रख दो, गर्म होगा, बाद में वह अपने वास्तविक स्वरूप में नीचे रखते ही आने लगेगा। इसी प्रकार मान भी। मान करना, घमण्ड करना क्या जीव का स्वभाव है? नहीं। न माया, न छल-कपट ही जीव का स्वभाव है और न लोभ ही जीव का स्वभाव है। इनके रहते हुए आत्मकल्याण नहीं हो सकता, अपने स्वरूप का दर्शन नहीं हो सकता। अपने स्वभाव को पहिचानना है, अपने आपका दर्शन पाना है तो भैया! ज्ञान के स्वरूप को ही जानने में लगे, समता रसका स्वाद लो, सब जीवों पर समता भाव रखो। इन संसारी प्राणियों में छंटनी मत करो कि यह मेरा भाई है, यह मेरा मित्र है, मेरी पत्नी है आदि। राग भाव ही विपदा का कारण है।

जितना भी यह नाटक हो रहा है सब उपाधिका है। कषाय से कषाय मिल गयी तो मित्रता और विपरीत अवस्था में दुश्मनी। छोटे-छोटे बच्चों को ही ले लो कि जिस खेल को एक बच्चा जानता है यदि उसी को दूसरा भी जानता है तो तुरन्त पक्के मित्र बन जावेंगे, अन्यथा दुश्मनी कर लेंगे, लड़ाई हो जावेगी। जो कुछ भी आज हो रहा है, किसी से दुश्मनी, किसी से मित्रता यह सब कषायों का ही प्रताप है, उपाधिका ही नाटक है। अतः हे भाइयो! इस सबको असार जान अपने स्वरूप की ओर आवो। उसी में तुम्हारा हित होगा, और अन्य जो तू परपदार्थ में रागद्वेष की बुद्धि कर रहा है वह सब विपदा को देने वाली है, संसार का भ्रमण कराने वाली है। आत्मा का आनन्द इन बाह्यपदार्थों में नहीं। ये सब वैभव, धन, बड़े महल, पोजीशन, आत्मा का स्वभाव नहीं, किन्तु इनमें पड़कर अपनी पर्याय बिगाड़ना है, विकल्प करने से जग-जाल नहीं छूटेगा देख लो, जितने भी बड़े-बड़े सेठ साहूकार होंगे वे भी प्रायः दुःखी होंगे क्योंकि तृष्णा जिनकी अधिक रहती है, वे दुःखी होते रहते हैं। ये सब वैभव जो तुम्हें आज प्राप्त है यह पुण्यकर्म की कमाई है। पूर्वजन्म में पुण्य किया था उसी का फल है जो आज प्राप्त है। और यदि इस जन्म में यह सब पाकर परोपकार में न लगाया, बाद में धन के बीत जाने पर, शरीर ढल जाने पर पश्चात्ताप होगा, क्लेश होगा कि इनके रहते हुए मैं दान न कर सका, दूसरों का उपकार न

कर सका। यदि धन दान में देता तो कम से कम उसका सदुपयोग तो हो जाता, किन्तु धन के चोरी हो जाने पर, आग लगजाने पर, सन्तान बुरे कर्मों में फंसी हुई होने के कारण पछताता है कि मैं समय रहते न चेता। अतः ये सब तो नष्ट होने वाली चीजें हैं। इनका जितना भी परोपकार में उपयोग करोगे उतना ही सुख उतना धनादि स्वयं प्राप्त होता जावेगा। कोई यदि ये सोचे कि परिश्रम करने से शरीर घटता है सो बात नहीं, बल्कि और शक्ति ही प्राप्त होती है। यही लोक धर्म का पालन है। ऐसा करने पर उसे लौकिक संतोष प्राप्त होगा।

मुमुक्षु को विकल्पजालों में न पड़ना चाहिये। मेरी प्रतिष्ठा हो, मान हो आदि आशाएं ही विपदा हैं। इन सबमें उपेक्षा भाव रखो। विषयों की आशा करना भी निर्मूल है। ये यदि प्राप्त हो गये तो भी शक्ति न मिलेगी और यदि न मिले तो भी अशांति ही है। इन सबमें बरबादी के सिवाय हाथ कुछ न लगेगा। मैं यह सब कुछ नहीं, मैं तो ज्योतिषुज्ज हूँ— इस विचार के रहने से विपदा सब नष्ट हो जावेगी। जो अपने को इस प्रकार मानता है वह सबको चैतन्यस्वभाव वाला ही जानता है, सबकी विनय करता है। इस प्रकार स्वयं भी सुखी होता है और दूसरों को भी सुख पहुंचाता है। और इससे विपरीत दशा में तो दुःख ही दुःख है। इन बाह्य पदार्थों में क्या सुख है? यदि सुख मिलेगा तो वह ज्ञान से ही मिलेगा। अतः सब पर समता भाव रखो और सब कुछ समता दृष्टि से ही देखो। अपने आपको पहिचानना है, प्रभु के दर्शन करना है तो अपना आचार विचार व ज्ञान निर्मल बनाये रहो, बाह्यपदार्थों में वैराग्य की भावना रखो। अन्याय का त्याग, संयम से रहना, ये सारी बातें ज्ञान व चारित्र्य को निर्मल बनाती हैं। आशा कुछ रखो तो अपने निर्मल परिणामों से रखो। अन्य आशायें रखना केवल विपदा में गिरना है। यही प्रयत्न व यही उपयोग हो कि मैं सर्व आशाओं को त्यागकर नैराश्य की आशा कर अपने में अपने आप सुखी होऊँ।

भवेऽप्यस्मिन् मुहुर्ना दुःखं प्रापं क्व रक्षकः ।

को भूतः कस्य भूतोऽहं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१११६॥

अर्थ— मैंने इस भव में भी बार-बार नाना तरह के दुःख पाये, इस दुःख के समय में मेरा कहां कौन रक्षक हुआ, और किसका मैं रक्षक हुआ, अब स्वयं रक्षित अपने आप मैं अपने लिए अपने आप सुखी होऊँ।

मैंने इस भव में भी तो नाना प्रकार के दुःख पाये, उनमें बताओ कौन रक्षक हुआ? भैया, किसी से रक्षा की आशा मत करो, रक्षक कोई हो ही नहीं सकता, क्योंकि हमारी परिणति ही कोई अन्य बदल नहीं सकता। यदि बदलेगी भी तो स्वयं की स्वयं में हुई परिणति से ही बदल सकती है। देखो जन्म से ही विचार कर लो, जब बच्चा था तब अपनी इच्छा व्यक्त न कर सका था, तब भी आत्मा पूर्ण ही था किन्तु इन्द्रियों के कारण बोल नहीं सका। बचपन में भी क्लेश हुआ है, कुछ इच्छा के अनुकूल प्राप्त न हुआ कि झट रो दिया। अब बताओ, कौन रक्षक हुआ इसका? कुछ बड़ा हुआ तो स्कूल भेजा गया। खेलकूद में मन लगता था उसे छुड़ाकर स्कूल में भेजा तो वह भी उसके अनुकूल न हुआ अतः दुःखी हुआ। तब भी इसका कोई रक्षक नहीं हुआ। पढ़ने में रत भी हुआ, पढ़ने में चित्त भी लगाया तो अपने

से अधिक दूसरे के नम्बर देखकर दुःखी हुआ। विफल होने पर तो कई छात्र क्लेश की अधिकता के कारण आत्महत्या तक कर लेते हैं। जवानी में शादी का दुःख, सगाई-शादी के प्रति उत्सुकता, उसमें दूरी होने से क्लेश पाया। कहीं से शादी न हुई तब दुःख पाया। यदि हुई तो ब्रह्मचर्य का खंडन हुआ, फिर बच्चे हो गये तो ऐसा दबा कि फिर वह ज्ञान की बात सोच ही नहीं सका। कहीं लड़की उत्पन्न हो गयी तो फिर दुःखों का कहना ही क्या है? और जिसकी दो-चार लड़कियां हो जायें तो वह तो शुरू से आखिर तक उसी ऊहापोह में लगा रहता है, कहां कहां की चिन्ता करनी पड़ती है? यदि लड़का हो गया तो दुःख कैसे? कुपुत्र हुआ तब तो दुःख है ही, सुपुत्र हो तब भी दुःख ही दुःख है क्योंकि उसके लिए यही चिन्ता करता रहता है कि इसके लिए ऐसा कुछ प्रबन्ध कर जाऊं ताकि यह दुःखी न हो, उसके मोह में दुःखी होता रहता है। केवल ज्ञानवान् ही दुःख नहीं मानता, वह सब परिस्थितियों में सुखी रहता है, क्योंकि उसमें सच्चा ज्ञान है, अतः अपने ज्ञानबल के कारण ही आत्मा आनन्द पाता है। फिर यह भी तो सोचो कि मैं ही किसका रक्षक हुआ? भैया! यह सब भ्रम है। किसी का किसी से प्रेम है तो दुःख और बैर है तो दुःख। अन्य पदार्थों की ओर उपयोग गया कि दुःख है और अपनी ओर गया, अपने स्वरूप की ओर ध्यान दिया तो सुख ही सुख है। सबसे बड़ी विपदा तो संकल्प, विकल्प, अज्ञान, विषयवासना इनकी है। यदि किसी ने कुछ कह दिया तो क्या हो गया, उसका उसमें परिणामन हुआ मुझे क्या? किसकी ताकत है कि मुझे दुःखी कर दे और किसकी ताकत है कि मुझे सुखी कर दे? खुद का ही परिणामन दुःख पहुंचाता है और खुदका ही परिणामन सुख पहुंचाता है। वे बिरले ही ज्ञानी जीव हुआ करते हैं जो समता परिणामन रख सोचते हैं कि मेरा कौन और पराया कौन? जिसे हम अपना मानते हैं वही तो दुःख का विपदा का कारण बनता है, अन्य पराये क्या बनेंगे, जब कि उनमें उपेक्षाभाव है। तो सबसे अधिक विपदा तो इनसे ही है, जिन्हें हम अपना मान-मानकर दुःखी हो रहे हैं।

वास्तव में देखा जावे तो ये ही मेरी आत्मा का स्वरूप न जानने देने वाले हैं, ये ही बाधक हैं। वे मेरे हैं नहीं, उन्हें मानना भ्रम है और यदि कुछ हैं तो दुःख के देने वाले हैं। उन्हें प्रेम से देखो तो दुःख और विरोध से देखो तो दुःख। सुख प्राप्त हो सकता है तो ज्ञानबल से ही हो सकता है। जहां ज्ञान नहीं वहां दुःख ही दुःख है। ज्ञानी तो द्रष्टा है। ज्ञानबल में जैसे-जैसे वस्तु का स्वतन्त्र स्वरूप समाता जाता है वैसे-वैसे ही विषयों से राग हटता जाता है। अतः सुख के लिए जो अनेक प्रयत्न करते हैं यदि हम उनकी अपेक्षा यह प्रयत्न करें कि जो वस्तु का स्वरूप है वह हमारी दृष्टि में अधिक से अधिक आवे तो अधिक सुख अथवा शुद्ध आनन्द मिलेगा। हम स्वयं ज्ञानवान् हैं, पूर्ण हैं। कहां तो मेरा चैतन्यस्वरूप और कहां विषयवासनाओं में फंसा हुआ मैं। जैसे गीदड़ों में फंसा हुआ शेर अपने को गीदड़ मानता है किन्तु उसे यदि यह ज्ञान हो जावे कि मैं शेर हूँ तो फिर देखो। वही दशा मेरी भी है। मेरा तो स्वरूप भगवान् जैसा है। भगवान् के दर्शन करने का यही तो प्रयोजन है और है क्या? यदि इच्छा रखकर दर्शन किये कि भगवान् हमें सुख दुःख देने वाले हैं, इनकी पूजा करें तो क्या सुख दे देंगे। तो इन परिणामों में निर्मलता कहां, ये तो मिथ्यात्व है, अज्ञान है। निर्मलता तो वहां है जहां आत्मा का सच्चिदानन्द स्वरूप

सोचा जा रहा है। मेरा स्वरूप तो केवल ज्योतिपुंज है, चैतन्यमात्र है, ऐसी उपासना कर कि जिससे यह ख्याल आवे कि मेरा भी वही स्वरूप है जो तुम्हारा है, वह परमात्मतत्त्व का भक्त है, परमात्मस्वरूप का दर्शक है। क्योंकि द्रव्यत्व वही है किन्तु व्यक्त नहीं है। जैसे दो बर्तन नये लिये, दोनों एक जैसे हैं, उनमें से एक चूल्हे पर चढ़ा दिया तो वह काला हो गया। जो उनमें भेद आ गया बस वही भेद प्रभु में और मुझमें है। स्वभाव तो एक ही है किन्तु मुझमें कलंक लगा हुआ है और प्रभु उसी प्रकार शुद्ध हैं। हम परपदार्थों में लगे हुए हैं और वे इन सबसे उपेक्षाभाव रखते हैं। जानते सब कुछ हैं किन्तु जानते हुए भी उपेक्षाभाव रखते हैं। किसी के मर जाने पर यह प्राणी करुण विलाप करता है और कहता है कि हाय, मैं तो मर गया, मेरा तो घर ही उजड़ गया, मेरा दुनिया में कोई न रहा। हे आत्मन् तेरा स्वरूप तो अरहन्त सिद्धों वाला है। सोचो। कहां तो यह महत्ता और कहां ये विचार कि मैं लुट गया। हे भैया! तेरा लुट क्या गया? तेरा स्वभाव तो तेरे अन्दर है। जो कुछ है वह स्वयं में है, अन्तर्दृष्टि से मन, वचन, काय की प्रवृत्तिको एकाग्र करके देख तो सही। किसी काम को करेंगे तो वह होगा और यदि बात ही करते रहेंगे तो क्या वह होगा? घर में यदि कूड़ा इकट्ठा हो जावे तो क्या वह बातें बनाने से दूर हो जावेगा? वह कार्य तो खुद के श्रम करने से ही होगा। अतः हे आत्मन् तेरे अन्दर आनन्द तो पूरा भरा हुआ है, आनन्द से लबालब है, किन्तु अन्तर्दृष्टि से उपयोग करे तभी तो पान कर सकेगा। ऐसा भाव जगावे तो उसका बेड़ा पार है अन्यथा भटकते रहना होगा इन्हीं चौरासी लाख योनियों में। मैंने इसी भव में नाना दुःख सहन किये, बताओ कौन हुआ मेरा रक्षक और किसका मैं रक्षक हुआ? मैं तो सबसे भिन्न चैतन्य स्वरूप मात्र हूँ। इसका जितना भी दृढ़ विश्वास होगा, दृढ़ श्रद्धान् होगा उतना ही सुख पावेगा यह जीव। सब प्राणी अलग-अलग हैं, अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव में परिणमन करते हैं। एक जीव का दूसरे पदार्थों से अत्यन्ताभाव है। जो त्रिकाल में भी मेरा कुछ नहीं हो सकता उसमें अपनेपर की बुद्धि करना विपरीत मार्ग में लगना है। और जो उस विपरीत मार्ग पर चलेगा वह विपरीत अवस्था को प्राप्त होगा, दुःख उठायेगा। नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव, इन चारों गतियों में भ्रमण करते हुए दुःख सहन करेगा। मैं तो सब जीवों से, इस शरीर से, रागद्वेष के भावों से इन सबसे न्यारा हूँ, मैं तो चैतन्य शक्ति मात्र हूँ। यह अन्यत्र कहां प्राप्त होगा? यह तो यही ही है। मेरा यह सर्वस्व है।

जो इसकी भावना करेगा सो सुखी होगा। अतः मैं इसे प्राप्त कर आत्मा का कल्याण करता हुआ अपने में अपने लिए, अपने द्वारा अपने आप सुखी होऊँ।

दुस्त्याज्याचेद्व्रतिस्त्यक्ता मृतत्यक्तकुटुम्बिनाम्।

स्वातन्त्र्यं स्यानि किं स्वस्य स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् १७-१७१।

अर्थ— जब मैंने मरे व छोड़े हुए कुटुम्बियों का दुस्त्याज्य, (मुश्किल से छूट सकने योग्य) स्नेह छोड़ दिया तो अब किसमें स्नेह करके अपनी स्वातन्त्रता नष्ट करूँ, अतः सर्व अर्थों से राग हटाकर अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

जो आज नहीं हैं अर्थात् मर चुके हैं या अलग हो गये हैं, उनमें मेरा सबसे अधिक स्नेह था, मोह था, अब जब वही छूट गये तो इन छोटे-छोटे विषयों में क्या राग करना? जिस कुटुम्ब में जिससे भी सबसे अधिक मोह होता है फिर एक दो साल बीत जाने पर याद भी नहीं करते, तब कहां गया वह मोह? फिर जब तूने सबसे अधिक मोह को ही, ममता को ही छोड़ दिया, फिर इन अन्य बाह्यपदार्थों की ओर क्यों आकृष्ट होता है? आखिर छूटेंगे तो ये सब भी एक न एक दिन, तब क्यों इनमें राग बढ़ाकर दुखी होता जा रहा है। ऐसी प्रकृति क्यों बना रखी है कि एक से छूटकर दूसरे में मोह करने लगे। जैसे तुझे सबसे अधिक स्नेह जिस किसी में था, उसकी मृत्यु हो गयी, तब कहां गये वे सुख विलास, कहां गया वह मोह, ममता? जब तुझसे इतना बड़ा ही मोह बीत गया, छूट गया तब इन बाह्यपदार्थों में फिर से क्यों राग-द्वेष की वृद्धि करता है, छूट तो ये भी जावेंगे एक न एक दिन। फिर इनमें पड़कर क्यों स्वतन्त्रता खो रहे हो? क्यों न इनके प्रति मोह ममता की, द्वेष की बुद्धि को नष्ट करूं? मरने पर, किसी के बीत जाने पर सोचता है कि मेरा शरण कोई न रहा, मैं लुट गया हे प्राणी! चेत और विचार कर तो देख तेरा क्या लुट गया, तेरी शरण है कौन ? तेरा सब कुछ तेरे में ही है। तेरी शरण भी तू ही है। उपादान ज्ञान बिगड़ा हुआ है अतः एक बात के, एक पदार्थ के बीतने पर तू दूसरे के प्रति मोह करता है, व्यर्थ में स्वतन्त्रता खोता है, मामूली बातों में अपनी स्वाधीनता खोता है। अब अपना ज्ञान इतना निर्मल बनाओ ताकि बाह्यपदार्थों में रागबुद्धि ही न जावे। जब अपनी योग्यता ठीक नहीं है तब प्रत्येक स्थानपर दुःख ही प्राप्त होगा। अपनी आत्मा का ध्यान करो और सुखी होओ। सबसे बड़ा सुख स्वतन्त्रता है। इसका यह मतलब नहीं कि उदण्ड हो जाओ। दूसरे के साथ उदण्डता से पेश आओ, कर्म की आधीनता न रहे उसे स्वतन्त्रता कहते हैं। व्यवहार में भले ही स्वच्छन्द हो जाओ किन्तु कर्मों का उदय होने पर तो पराधीन ही है। अतः अपने स्वरूप को पहिचानो और पर पदार्थों से स्नेह हटाओ, इसी का नाम स्वतन्त्रता है। अपने स्वभाव का भान हो, सम्यक् दर्शन उत्पन्न हो, उसका नाम स्वतन्त्रता है। कितनी ही आपत्ति क्यों न आवे तो भी ज्ञाता द्रष्टा रहो, ऐसी सदबुद्धि अन्तरंग में आवे तो उसका नाम सच्ची आजादी है।

जब जिससे तीव्र मोह था उससे ही मोह छूट गया, तब इन छोटी-छोटी बातों में क्यों राग करते हो? जैसे एक सेठ का किसी व्यक्ति पर एक लाख रुपया चाहिये था। वह हो गया गरीब, तो अन्य व्यक्तियों ने सेठजी से कहा कि बेचारे की वह दशा न रही अतः अब केवल ५००) ही ले लो, ६६५००) छोड़ दो। तो सेठजी ने सोचा कि जब सभी छोड़ दिया तब ५००) के लिये क्यों लेने का नाम करना? इसी प्रकार सोचना चाहिये कि जब हमें जिससे कुटुम्ब में सबसे अत्यधिक राग मोह था वही बीत गया तब इन थोड़ी-थोड़ी बातों में क्या राग करना, क्यों ममता करना? मोह जन इष्ट के बीत जाने पर बहुत अधिक शोक करते हैं— हाय मैं लुट गया, मैं मर गया। अरे, तेरा क्या लुट गया, तेरी आत्मा तो तुझमें है, उसका भजन कर। यदि एकाकी जीवन मिला तो उसमें खेद क्यों? अब तो बल्कि और खुशी होना चाहिये कि भगवान् का ध्यान करने की योग्यता तो आ गयी, मेरे भाव अब निर्मल बनेंगे, ऐसा विचार

करना चाहिये उस परिस्थिति में, न कि दुःख करना चाहिये। रामचन्द्र जी को सबसे अधिक मोह लक्ष्मण से था। ऐसा कि उसके मरने पर भी उस मृतक देह को लिये-लिये फिरे और जब उससे ही उनका मोह छूट गया तब किसी से मोह न रहा। फिर वे दिगम्बर निर्ग्रन्थ मुनि हो गये और मुक्त हो गये। अतः जब सबसे बड़ा मोह ही बीत गया फिर छोटी-छोटी बातों में क्यों पड़ना? मोही जीवों में ऐसी आदत पड़ी है कि यदि बड़ा राग छूटा तो भी छोटे में प्रवृत्ति करके राग बढ़ा लेता है। आचार्यों ने कहा है कि रागी होगा तो कर्मों से बन्धेगा और वीतरागी होगा तो कर्मों से छूटेगा। कर्ममुक्त होना है तो राग छोड़ दो। जिनकी हम पूजा करते हैं, दर्शन करते हैं, उन्होंने और किया क्या? अपने को निर्मल बनाया, अपना ज्ञान निर्मल रख, वीतरागी रहे, ज्ञान-दर्शन शक्ति अनन्त प्रकट हुई, स्वच्छ हो गये, कर्म रहित हो गये, परम आनन्द को पाया, तब वे परमात्मा हो गये। अतः उनके दर्शन कर यही विचार पैदा करो कि जैसा तुमने किया है वैसा ही मैं भी करूँ और वह होगा भेदविज्ञान से। भेदविज्ञान के बल से परपदार्थ से हटकर निज आत्मा में लगें। चैतन्यमात्र अपने आपको निरखा, यह उपाय किया, कर्म बन्ध टूटे, आत्मा में विकास हुआ। सब पदार्थों को जानकर भी अपने आनन्द के रस में लीन रहे। यह विचार कर दर्शन करना चाहिये। ऐसा नहीं कि मेरे बाल बच्चे सुखी रहें, इस भाव से दर्शन करें; इससे परतन्त्रता बढ़ती है।

अपने भावों से ही यह प्राणी पराधीन होता है और अपने भावों से ही स्वाधीन होता है। वैसे परमार्थ दृष्टि से देखा जावे तो यह किसी के आधीन है नहीं, किन्तु अज्ञानवश काल्पनिक अपने भाव बनाकर आधीन बनता है। यह आत्मा तो ज्ञान आनन्द का पुञ्ज है। न इसमें ज्ञान बाहर से आता न आनन्द ही। वह तो स्वयं ज्ञानमूर्ति है। ऐसा अपने को सोचे तो आनन्द प्राप्त हो। सब जगह घूम आओ, आखिर में अपने को ही बड़ा पाओगे। अपना ही सहज स्वभाव बड़ा मिलेगा। राग छोड़ दो तो उपद्रव रहित हो जाओगे अन्यथा क्लेश ही प्राप्त होगा। राग के कारण ही अन्तर में ऐसा भाव का वातावरण बनता कि मरण के बाद फिर भी शरीर को पाता है जो कि दुःख का मूल है। अब शरीर के भी राग को छोड़ कर अपने वास्तविक स्वरूप को पहिचानो, उसका ध्यान करो। मोह भी करो और ध्यान का आनन्द भी मिल जावे— यह दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं। अतः राग त्याग कर अपने स्वरूप को पहिचानकर मैं अपने में अपने लिए अपने आप सुखी होऊँ।—

देखो— यह रागभाव जो कि दुस्त्याज्य बन रहा है, क्या है? केवल कल्पना का फैलावा है। वस्तु का विचार करो तो राग न तो आत्मा की चीज है, न कर्मों की चीज है और न विषयों की चीज है। फिर भी इस माया में कैसा बानक बन रहा है कि विषयों का तो आश्रय है, कर्मोदय का निमित्त है और आत्मा का उस क्षण का वह एक परिणमन है। परमार्थ से देखो तो कुछ भी तथ्य नहीं है। ये विषय भी छूटेंगे, टलेंगे। जो परपदार्थ हैं इनका संयोग अललटप है, कोईकायदे से या सिलसिले से या खातिरी से नहीं है। वे कर्मोदय भी उसी क्षण मिट जाते हैं जिनका कि निमित्त पाकर ये रागादि भाव होते हैं, अगले क्षण अन्य कर्मोदय हो जाते हैं। इतनी विडम्बना रहती है जिसका परिणाम यह है कि बन्धन चलता

रहता है। ये रागादि भाव भी एक क्षण होकर मिट जाते हैं। यह बात और है कि और और रागादिभाव निरन्तर होते चले जाते हैं। इन भावों में तथ्य कुछ नहीं है। रागादिभाव असार हैं, दुःख रूप हैं। मिटते तो ये हैं ही, ज्ञानबल से खुद मिटा दिया जाय तो आनन्दमय प्रभु के दर्शन भी होंगे। इन रागादिभावों के कारण ही स्वतन्त्रता का विनाश है। वास्तविक स्वतन्त्रता का विनाश है। वास्तविक स्वतन्त्रता का विनाश होने पर भगवान् का दर्शन असंभव है। सो अब रागादिभावों से भिन्न अपने ज्ञायकस्वरूप को लक्ष्य में लेकर स्वतन्त्र होऊँ और स्वयं स्वयं में आनन्दमग्न होऊँ।

ज्ञात्वा रागफलं दुःखं जीवानां भ्रमतामिह ।

रागं मुञ्चानि नो? मुक्त्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयं ॥१७९८॥

अर्थ— इस लोक में भ्रमण करने वाले जीवों के दुःख को राग का फल जानकर क्या मैं राग को नहीं छोड़ूँ? नियम से छोड़ूँगा ही, तब राग को छोड़कर मैं अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

जितने भी जीव घूम रहे हैं यह सब राग का फल है। इनको दुःख ही रहा ममता के कारण, मोह के कारण। ये आज तक भी क्लेश भोग रहे हैं। इन्होंने सुख प्राप्त नहीं किया। किसी को भी बिठाकर उसकी कहानी सुन लो, सब कुछ सुनने के बाद अन्त में परिणाम यही निकलेगा कि किसी में राग है, अतः दुःखी है। अपने दुःख की जितनी भी कहानी बतावेगा उसमें किसी न किसी से राग मिलेगा। बस उसी राग के ही परिणाम के कारण वह दुःखी है कोई दुःख की कहानी में यह बतावेगा कि मेरी समाज में इज्जत न हुई, कोई यह बतावेगा कि जैसा मैं चाहता था वैसा न हुआ। यह सब दुःख रागादिक के ही कारण तो हुआ है, अन्य कुछ नहीं। जिसे दुःख नहीं चाहिये उसे राग, मोह, ममता छोड़ देना चाहिये। शादी हो गयी, बच्चे हो गये, अब करना तो सब पड़ेगा ही। किन्तु हे भैया! सब कुछ करते हुए भी यही भाव रखो कि ये मेरे कोई नहीं, मैं इनका कुछ नहीं, न ये मुझे सुख पहुँचा सकते हैं, न मैं ही इन्हें सुख पहुँचा सकता हूँ। इनसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, ये तो मुझे करना पड़ रहा है, ऐसा विचार करने से दुःख न होगा। इन सब दुःखों को देखकर तथा अपने दुःखों को विचारकर क्या मुझे राग नहीं छोड़ना चाहिए? अवश्य ही त्याग करना चाहिये। शराब पीने वाला शराब की दुकान पर शराब खरीदने जाता है तो कहता है कि देखो भाई, मुझे विलायती असली माल चाहिये, मुझे बढ़िया वाली शराब चाहिये। तब वह उसको यही दिखाकर कहता है कि क्या तुझे इन बेहोश पड़े हुए अपने बाप, चाचा को भी देखकर विश्वास नहीं होता कि मेरी शराब बहुत बढ़िया व अच्छी होगी। अतः हे भाइयो! यदि राग का फल देखना है तो स्वयं के दुःख देखो और इन सब संसारी प्राणियों के दुःखों को देख लो कि राग के कारण कैसे-कैसे कष्ट उठाये जा रहे हैं, और तूने स्वयं कैसे-कैसे कष्ट झेले? अब क्या ये देखकर भी तुझे विश्वास नहीं होता कि यह राग-बुद्धि छोड़ने योग्य है। यदि जानने में आ गया कि मैं तो स्वचतुष्टयरूप हूँ, तो कोई क्या इस ज्ञान को नष्ट कर सकता है, विपरीत कर सकता है? कोई कुछ नहीं कर सकता। जितने भी

दुनिया के जीव हैं उन सबसे मैं निराला हूँ । ये सब राग के परिणाम देखकर यही धारणा बनावें कि मैं तो चैतन्यस्वरूप अपने सहजस्वरूप में रहने वाला अनाद्यनन्त हूँ । अतः मैं इन सब को त्यागकर ज्ञायक भगवान के दर्शन करूँ । यह जीव भगवान के दर्शन ज्ञान से ही तो करता है और उपयोग में यदि राग बसा हुआ है तो भगवान कैसे दिख सकता है? उपयोग में राग न हो तो भगवान के दर्शन हो सकते हैं । जब राग पर उपयोग है तब स्वभाव पर नहीं और जब स्वभाव पर उपयोग है तब उपयोग राग पर नहीं है । तब मैं राग छोड़कर अपने में अपने लिए अपने आप सुखी होऊँ ।

भैया ! यह राग तो एक न एक दिन छोड़ना पड़ेगा, तथा रागद्वेषरहित वीतरागअवस्था को एक न एक दिन तो अवश्य ही धारण करना पड़ेगा, तभी मुक्ति प्राप्त हो सकेगी । तब क्यों अपना समय नष्ट करके दुःख में रूतता फिरूँ ? इसके लिए कोई अवस्था विशेष निश्चित नहीं कि वृद्धावस्था में ही राग द्वेष छोड़ना चाहिये या अमुक अवस्था में त्याग करना चाहिए । ये तो जितना शीघ्र छूट जावें उतना ही अच्छा है । जैसे- जैसे राग बुद्धि करोगे वैसे ही कर्मबन्ध होते जायेंगे, और जैसे-जैसे वीतरागी होओगे तो कर्म स्वयं ही तड़ातड़ टूटते चले जावेंगे । अतः हे आत्मन् ! तू अपना आत्महित पहिचान, तेरा स्वभाव पापरूप नहीं । स्वयंका सहजस्वभाव चेतन है, ज्ञानपुञ्ज है । भैया ! राग था शादी की, राग था बच्चे पैदा हुए । अब इनके फन्दको स्वयं ही तो भोगेगा । अन्य कौन भोगेगा ? आनन्द का घातक राग है । आनन्द का और राग का बैर है । एकके होने पर दूसरा नहीं ठहर सकता । जब ये शरीर भी अपना नहीं तब दूसरों को अपना मानना कहां की बुद्धिमानी है? सोचो तब अपना कैसे हो सकता उनका शरीर? और जब दूसरे जीव अपने नहीं बन सकते फिर ये अचेतन पदार्थ, धन, वैभव आदि कैसे अपने हो सकते हैं? जब अपना कुछ है ही नहीं तब ऐसा मान लिये तो छूट जावेंगे । “मानने में ही राग है, और मानने में ही त्याग है ।” माने बिना तो रहते ही नहीं, सो मानते जावो, किन्तु मानो सच्ची बातको ही । जिसने अपने भीतरमें ऐसा उपयोग कर लिया तो बेड़ा पार है । चाहे कर न सको, किन्तु अन्तरंग मान तो लो । ज्ञान सम्यक् रखो, स्वयं सुखी होवोगे ।

एक शिष्य था । पढ़ लिखकर बोला कि गुरुजी ? मैं तीर्थाटन करने जाता हूँ । गुरु बोले — क्या करेगा जाकर अपने अन्दर तो सब हैं । शिष्य नहीं माना, बोला कि मैं तो जाऊंगा ही । गुरुजी ने आज्ञा दे दी कि ठीक है चले जाओ । जब वह चल दिया तो आगे रास्ते में उसे एक बारात मिली । दूल्हे को उसने देखा तो पूछा कि भाई यह सब क्या है, क्योंकि बचपन से गुरुजी के पास रहा था , अतः वह ये सब जानता था नहीं । तब उसे बताया गया कि ये एक बारात है । फिर पूछा कि बारात क्या होती है? तो वे बोले कि भैया ! इसमें एक दूल्हा होता है, उसकी शादी होती है, औरत घर में आती है, फिर बालबच्चे पैदा होते हैं । इतना सुनकर वह आगे चल दिया और आगे जाकर एक कुएँ पर सो गया , तो उसे वही सब दृश्य सपने में दिखायी देने लगा कि मेरी शादी हो गयी, औरत घर आ गयी

सुख यहाँ प्रथम भाग

और वह पास में लेटी है, बीच में बच्चा लेटा है, औरत कह रही है कि थोड़ा उधरको सरक जाओ वह वास्तव में सरक गया। फिर वह बोली कि थोड़ा और सरक जाओ, तब वह जैसे ही सरका कि कुए में गिर पड़ा। पानी में गिरने से उसकी आंख खुल गयीं, तब वह सोचने लगा कि अब इससे बाहर कैसे निकला जावे? कुछ समय बाद उस गाँव का जमींदार लोटा लेकर पानी भरने आया। जैसे ही उसने लोटा कुएँ में लटकाया कि उस शिष्य ने पकड़ लिया और बोला कि भैया ! मैं भूत नहीं हूँ तुम मुझे बाहर निकालो तो मैं सब कहानी बताऊंगा। उसने उसे बाहर निकाला व पूछा - अब बताओ क्या बात है? कहाँके रहने वाले हो? कैसे कुए में गिर गये ? तब वह शिष्य बोला कि आप हमारे उपकारी हैं, मुझे बाहर निकाल कर उपकार किया है, अतः आप पहिले अपना परिचय दीजिये। तब वह जमींदार बोला कि मैं इस गांव का जमींदार हूँ, मेरी इतनी जमीन है, इतनी दौलत है और भरा पूरा परिवार है। तब वह शिष्य कभी उसे नीचे से देखे, कभी ऊपर से। वह जमींदार बोला कि तुम मुझे इस प्रकार क्यों देख रहे हो? शिष्य बोला कि मैं तुम्हें नहीं देख रहा हूँ। मैं तो यह सोच रहा हूँ कि जब मैंने तो स्वपन में ही गृहस्थी बसायी, तो कुए में गिर गया और तुम इस प्रकार अपना समाचार बता रहे हो। अतः मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि तुम जिन्दा कैसे हो ? सो भैया ! जिन्दा तो वही है जो अपना धर्म पालता है, वही जीवन है। वह जीव क्या जिन्दा, जिसे अपना धर्म ज्ञात भी नहीं। अब तक इस जीवने अनन्त भव प्राप्त किये, अनन्त जन्ममरण किये। आज यह जन्म है सो इसकी भी गिनती क्या ? जीवन तो तबसे मानो जबसे निज सहजस्वरूप की दृष्टि बने कि मैं तो स्वतः सिद्ध अनादि, अनन्त अहेतुक, नित्य, अन्तःप्रकाशमान, चैतन्यज्योति हूँ। यह मैं स्वयं ज्ञानघन एवं आनन्दमय हूँ। मैं अपने में ही अपने आप स्थिर होकर आनन्दमग्न रहूँ।

द्रष्टारं स्वयमात्मानं पश्य पश्य न चेतारम् ।

तिष्ठानि निर्विशेषं चेत् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१११६॥

अर्थ- तुम स्वयं अपने आपको द्रष्टा देखो, मानो, अन्य किसी को द्रष्टा - देखने वाला मत देखो, जिस कारण आत्मा ही द्रष्टा है उस कारण यदि मैं विशेष रहित विकल्प रहित ठहरा रहूँ, तो अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ ॥

हे आत्मन् ! तू अपने को ज्ञाता व द्रष्टा देख और अपने स्वरूप को अपने में पहचान। तू मात्र जानता-देखता है, शुद्ध स्वभाव वाला है। तू ज्ञान स्वरूप सर्वस्व है, तू ज्ञानी है। तेरा काम केवल ज्ञान है, अर्थात् ज्ञानमात्र रहे, यह तेरा काम है, इसके अतिरिक्त और कुछ काम नहीं।

तू परिपूर्ण है, तू अपनेको ज्ञानमय देख, अपने स्वरूप से आगे बढ़कर जहाँ किसी तरंगरूप अपनी श्रद्धा हुई वहीं पर क्लेश है, जन्म मरणकी परम्परा है, संसार का रोना और नाना दुःख उठाना है।

वह सब पर्यायबुद्धिको लिए हुए है, सामान्यस्वरूप में कोई क्लेश नहीं। जैसे किसी बिरादरी की

पंगत है, उसमें गरीब भाई, करोड़पति, लखपति भाई बहुत से बैठे हैं, परन्तु उस समय पर कोई अपनेको नाना रूप नहीं समझता, केवल अपनी जातिका एक सेवक समझता है, वहाँ करोड़पति, गरीब व पंडित सभी एक हैं, वहाँ नानापन न रहे, यदि रहे तो उनका तिरस्कार हो जाये, उनकी शोभा नहीं होती। इसी तरह से इस जगत् के अन्दर जितने जीव हैं वे सब एक जाति के हैं, चैतन्यस्वभावमय हैं, इनमें परस्पर एक दूसरे में अन्तर नहीं है। जो अन्तर यहां है वह उपाधि साथ लिये रहने से आ गया है। फिर भी जो परिणतिको अपनाता नहीं है, उस अन्तर की उपेक्षा करता है और चैतन्यस्वभावमात्र रूपसे सबको निरखता है, वह जीव मोक्षका मार्ग पाता है। किन्तु मोहीं अपनी पर्यायबुद्धि के कारण स्वभाव से विपरीत अपनेको नाना रूप मान लेता है, मैं अमुक कार्य वाला हूँ, यशवाला हूँ, कुटुम्ब वाला हूँ, लड़के बच्चों वाला हूँ, इज्जत वाला हूँ। किसी भी प्रकार से अपनेको बेकार करना, बस यही वज्र की चोट- उसके गले पड़ी इससे फिर आगे जन्म मरणका चक्कर लग गया। सो भैया ! विकल्प छोड़कर सब जीवों को समान देखकर जो अपने को ज्ञाता-द्रष्टा मात्र देखता है वह मुक्तिका मार्ग प्राप्त कर लेता है।

यदि अपने आपको केवल द्रष्टा देखें आरे सबप्रकार की विधि से अपने को प्राप्त करता रहे याने सामान्यरूप रहे तो अपने आप सुखी हो सकते हैं। सुखस्वरूप तो हम हैं ही, सो यदि सुखस्वरूप अपनेको जाने तो यह पूर्ण सुखी हो जायेगा। मैं केवल ज्ञानमात्र हूँ, इस आत्माका किसी भी पदार्थसे किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है, मैं स्वतन्त्र हूँ, अविनाशी हूँ, ऐसा अपने को भावने का निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये।

जो कुछ मुझे दीखता है वह सब रूप, रूप ही तो है, और जो आत्मा पदार्थ है वह शरीरसे परे बहुत बड़े गुप्त अनूप जातिमय एक वस्तु है। वह सब किसीको दीखता नहीं है। ऐसा वह बढ़ता ज्ञान मानो शून्यरूप में बदलना चाहता है। देखो, जो दिखता है वह जानने वाला तत्व नहीं, व जो जानने वाला है वह दिखने वाला तत्व नहीं है। इससे हम स्वयं कह सकते हैं कि अब बोलनेकी कोई गुञ्जाइश नहीं, इस जगत्में बोलने का कोई स्थान नहीं। जो दीखता है वह जड़ है, उससे बोलने से लाभ क्या, जो जानने वाला है वह दिखता नहीं, उससे बोला ही कैसे जा सकता है, और जो जानने वाले तत्व हैं उनके यथार्थरूप विचारो तो केवल ज्ञानमय प्रतिभास ही है, उसका कार्य ज्ञान ही है, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ कार्य ही नहीं है, वह तो अनन्त, अविनाशी, चित् है, इसका कोई नाम ही नहीं है।

जैसा यह प्रभु है एवं ज्ञानरूपसे साकार यह ज्ञानमय पदार्थ है, ऐसा इस तत्व को न जानकर और इसको नाना रूप मानकर यह नाथ दुःखी हुआ है। इस जीवको आत्मस्वरूप दिखाने वाला दुनियामें अन्य कोई उपाय नहीं है, यह स्वयं देख लेता है। जैसे एक कथानक है कि एक आदमी ज्ञानी आदमी के पास गया। कहता है कि महाराज, मुझमें ज्ञान भर दीजिए, ज्ञानी बोला कि यह तो मामूली बात है, जो उस नदी में मगर रहता है, उसके पास जाओ और उससे पूछ लो। वह वहां गया, जब मगर निकला तो उससे

आदमी बोला कि मेरे में ज्ञान भर दीजिए। मगर बोला भाई कुएं से जरा पानी ले आइये मुझे प्यास लगी है। प्यास बुझा लूं, तब तुम्हें ज्ञान बताऊंगा। आदमी कहता है कि तुम तो नदी में बैठे हुए हो फिर प्यास कैसी? मगर कहता है कि भाई तुम भी तो ज्ञान स्वरूप आत्मा हो, तुम स्वयं ज्ञानस्वरूप हो, फिर ज्ञान प्राप्ति की प्रार्थना कैसी?

इस ज्ञानमय पदार्थमें ज्ञान है ही, मैं जानता हूँ, इसके अतिरिक्त और कोई कार्य ही नहीं है, जाननेके अतिरिक्त यह जीव कुछ नहीं करता; तुम अपनी स्वरूपमय आत्मा हो, जगत्के सारे पदार्थ अपने स्वरूपमय हैं, आत्मामें तो उसका अपना ही काम है, वह अपने स्वरूपसे बाहर कुछ नहीं करता। आप अपने अन्दर ही स्वयं देख सकते हैं, स्वयं यह ही ज्ञाता है, बाहरसे आंख मूंदकर अन्तर में देखो, क्या महसूस होता है? बाहर गये कि उस जाल में फंसा, मैं सत्य कुछ देख ही न सकूंगा। बाहर से भीतर की वस्तु का बन्धन कैसे लगेगा, बाहरी स्वरूपका बन्धन कैसे लगेगा? वस्तुतः हम अपने ही कल्पना जाल में बंधते हैं।

कहते हैं, एक बार राजा जनकके पास एक व्यक्ति गया, बोला कि मैं बहुत फंसा हूँ, परिवार ने मुझे बांध डाला है, महाराज! उस बन्धनसे छुड़ाये। राजाने कोई उत्तर नहीं दिया, क्या किया कि सामने जो लोहेका डंडा खड़ा था उसके पास गया और डंडेको अपनी जेबमें भर लिया व बोला—मुझे इस खम्बेने पकड़ लिया है, इस बन्धनसे छूटूं तब तुम्हें उत्तर दूंगा। उस व्यक्तिने कहा कि खम्बेने तुम्हें पकड़ लिया है कि तुमने खम्बेको पकड़ लिया है। राजा जनक बोले—यही तो तुम्हारा उत्तर है, अरे भाई, तुम्हें परिवार ने जकड़ लिया कि तू ही कल्पनासे उन्हें जकड़े है। तेरेमें तो तेरा स्वरूप है, प्रभु है और दूसरा कोई नहीं। तू ही अपने स्वरूपको भूलकर कल्पनाका जाल पूरता है और खुदको बन्धन में बांधता है।

यह तो अपने - अपने ज्ञान की बात है, जीवोंका उद्धार कहां से होता है? ज्ञान ही उनकी शक्ति का कारण बनेगा। जैसे-जैसे उस ज्ञानका आंदर करेगा वैसे वैसे ज्ञान बढ़ेगा, जैसे जैसे हम बाहरी बातों में उपयोग लगायेंगे वैसे वैसे ज्ञान का तिरोभाव बढ़ेगा। सो भैया! इतना ऊंचा पद पाया है, उत्तम कुल पाया है, इतना साधन होनेपर भी हम अपने ज्ञानका सुधार नहीं करते तो क्या है? सब व्यर्थ है, अन्तमें पछताना ही हाथ आयेगा।

प्रभो! तू केवल ज्ञानमय तत्व है, तेरे में दूसरे पदार्थका कुछ नहीं आता। जो तुझ पदार्थमें है वह बाहर नहीं जाता। तुम अपनेको स्वयं देखो, अपने आपको जानने की पद्धति प्राप्त करो। कहीं कोई भी अन्य तत्व इस नाथ में नहीं है। इसका स्वरूप ज्ञानघन है, आनन्दमय है, इस प्रभुसे अन्य पदार्थका सम्बन्ध नहीं है। और ऐसा ही देखें तो इसकी दुनिया अलौकिक हो जायेगी और फिर उस भावसे समस्त विपदायें समाप्त हो जायेंगी।

जगत् के प्राणियोंको जितना भाव क्लेश है वह सब रागका ही क्लेश है। जैसे इच्छा हो कि क्लेश

को दूर करना चाहिये, तब उसका अर्थ यह समझो कि राग दूर करना चाहिये । इसका भी उपाय सोचना चाहिये कि रागको कैसे मिटाना है? राग मिटे तो क्लेश मिटेगा और राग न मिट सका तो क्लेश नहीं मिट सकता । राग मिटनेका उपाय क्या है? उसका उपाय यह है कि अपने स्वभाव को रागरहित देखना चाहिए और अन्य उपाय करो तो यह राग दब तो जायगा पर मिटेगा नहीं, जैसे किसी वस्तुका राग है तो उसके खिलाफ किसी काममें लग जावें । तपमें, पूजा में, परोपकार में लगें और कोई उपाय है तो उसे करना चाहिये जो कोई और उसका उपाय है वह सब करना तो चाहिए परन्तु इस उपायसे राग दब तो जायेगा, पर राग मूलसे नष्ट न होगा । मेरा रागमें रहनेका स्वभाव नहीं है यह तो सब मोहकी लीला है । अपने को रागरहित ज्ञायकमात्र देख सकता है । यही शान्ति व राग मिटने का मूल उपाय है । जो इसके आगे देखता है, अपना वैभव कुटुम्ब आदि देखता है, यह सब उसके मोह के मोहकी लीला है ।

हे आत्मन् ! तू मात्र ज्ञानस्वरूप है, तू अपने को केवल ज्ञानस्वरूप तो देख, इतना तेरा सर्वस्व है, इतनी यह उसकी सारी दुनिया है, इसके अलावा और मैं कुछ नहीं हूँ, इस रूपसे तू अपनेको देख, इतना तो साहस कर कि एक बार समस्त पदार्थों की उपेक्षा करके, मैं ज्ञानमात्र हूँ, ऐसा अनुभव कर । विकल्प जब दूर होगा तो विपदायें सारी दूर होंगी जगत्के पदार्थों से इसको विपदा नहीं आती, यह प्राणी अपने विचारों को बनाकर स्वयं दुःखी हो जाता है, बस इसी का नाम विपदा है । बाहरी तो बाहरी ही है । बाहरी पदार्थों से कैसे विपदा आयेगी? विपदा तो उसके ही अन्दरसे आती है, विकल्पका नाम ही विपदा है । कोई मानता है कि उसके पास धन कम है, धन कम होने से विपदा नहीं है, किन्तु धन से अपना हित समझकर, फिर धनकी कमी सोचते रहना ही विपदा है । इसलिये विपदा तो ज्ञान से दूर होगी । भ्रमसे उत्पन्न हुई विपदा का नाश भ्रमनाशक ज्ञान से होगा । इसका एकमात्र उपाय है—रागरहित अपना स्वरूप देखे ।

जैसे किसी पुरुष को किसी बात का भ्रमहोनेसे वह दुःखी हो जाय तो दुःख दूर करनेका उपाय केवल भ्रम दूर कर लेना ही है । जैसे कि स्वप्न देखनेसे दुःख हुआ, स्वप्न में खोटी बात देखी, खोटी बात से जो दुःख उत्पन्न होता है उसका नाश नींद खुल जानेसे होता है । जैसे स्वप्न में देखा कि मैं जंगल में घूम रहा हूँ । देखा कि एक सिंह सामने आ रहा है, वह मुख बाये चला आ रहा है, यदि यह देखते हैं, तो क्लेश होता है । उस दुःखको मिटाने का कोई उपाय है, सुन्दर हवा चले तो क्या क्लेश दूर हो जायगा, क्या माता पिता पास बैठे हों तो क्लेश दूर हो जायगा? उसका कोई उपाय नहीं है, इसका केवल एक उपाय यह है कि नींद खुल जानी चाहिए । यदि नींद खुले तब जानें कि यहां जंगल आदि कुछ नहीं, तब उसे आराम मिलेगा ।

यह परिवार मेरा है, यह दौलत मेरी है, ये मित्रजन मेरे हैं, मेरी लोगोंमें इज्जत ऐसी है—इस बातको देखने से सारे क्लेश स्वप्नवत् रहेंगे । बीचमें इज्जत को धब्बा लगा तो क्लेश है । धनको उपार्जन करनेका

क्लेश, रक्षा में क्लेश, नाश में क्लेश, किसी भी प्रकार के विकल्प बनाए जाते हैं तो वहां पर प्रारम्भ में भी क्लेश, बीच में भी क्लेश। भ्रमसे होने वाले क्लेश को दूर करने का क्या यह उपाय है कि किसी तरह से इज्जत को दुगुनी बना ले? नहीं, यह कोई उपाय नहीं है। स्वयं सत्यस्वरूप को देख लो, तब क्लेश अनायास ही दूर हो जायगा। उसका तो केवल ज्ञानस्वरूप है, ज्ञान से तो और कुछ नहीं होता। धन, इज्जत, परिवार आदि से इसको लाभ नहीं है, बल्कि हानि है। यदि ज्ञानस्वरूप आपको देखकर आपमें संतुष्ट रहे तो सब क्लेश मिट जावेंगे। उस ज्ञानको ज्ञान के द्वारा खुद जानता है यह ज्ञानी। ज्ञानके लिए यह जानता है, इससे अधिक उसका कुछ कर्तव्य नहीं है, ऐसी भावनाके बलपर जो ज्ञानी ज्ञायकस्वरूपका अनुभव करता है, उसको जो अनुपम आनंद मिलता है वह न तो इन्द्र को प्राप्त है और न चक्रवर्तियों को ही प्राप्त है। वह तो एक प्रभु का जैसा आनन्द है। तपस्याओं एवं अन्य बड़े- बड़े लौकिक कामों में भी वह सामर्थ्य नहीं है, जो सामर्थ्य ज्ञानीकी है। जो क्लेश है उसे तो दूर करना है सो भैया निश्चय कर लो कि क्लेश केवल राग वश है दुख दूर करना है तो रागको छोड़ दें, राग करना दुःख ही है। बाह्यपदार्थ कुछ बाधक चीज नहीं। वह तो अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावरूप हैं, क्या कोई बाहरी पदार्थ तेरे साथ आया है? अच्छा वह चेतन है या अचेतन। क्या कोई भी पदार्थ तेरे साथ होगा। मेरे में तो मेरे ही स्वरूपका विश्राम है। राग तो कल्पनागत है। भगवान् और इस आत्मा में अन्तर क्या है? केवल राग हो या न हो यही अन्तर है। जहां राग नहीं है वहां भगवान् है, जहां राग है वहां प्राणी है। राग करनेपर लाभ कुछ नहीं रहता है, बल्कि उससे भी अधिक टोटेमें रहता है। अपनी स्वतन्त्रता का ख्याल कर राग छोड़ दें तो वह भगवान् हो जानेके सम्मुख है। जो रागमें और स्वरूप में अन्तर नहीं जानता है वह संसार में राग का काम करता है।

हे आत्मन् ! तू अपने आपको स्वयं द्रष्टा देख, जो देखने वाला है वह तू है, जो जानने वाला है वह तू है। जाननेसे आगे न तू है और न तेरा काम— ऐसा सोचकर चिन्ताओं को दूरकर, आराम से तो ठहर, आराम वहां होता है जहां हृदयमें आराम हुआ। हे चिन्तामणि महापुरुष ! तू जिसके उपयोग में आया वह तो आराममें रहता है। नहीं तो वह निमित्तरूप शिकारियों के बीच में पड़ा विकल हो जाता है। भैया ! परपदार्थ से तो वह स्वयं बद्ध न होता है और न मुक्त होता है।

भगवान की भक्ति करते हैं, सो भाई भगवान् स्वयं जा जाकर किसीको आराम नहीं दिया करता है। कुछमें ज्ञान है तो भगवान्को ही जान लें, आनन्दका मार्ग मिलेगा। भगवान्को प्रसन्न करना भगवान् काम नहीं, यह तो भक्तका काम है। भगवान् न तो किसी से प्रसन्न होता है और न किसीसे क्रोधित होता है। यदि ऐसा करने लगे तो वह भगवान् ही न रहे, हमारी ही तरह अनाथ प्राणी ही रहे। कैसा भी कोई पापी है, भगवान् उसपर क्रुद्ध नहीं होते। भगवान्के ज्ञानपर परिणतिकी झलक आ जाती है। सच पूछो तो जो परभगवान् है उसको न तो प्रसन्न ही किया जा सकता है और न उनकी प्रसन्नता से कोई लाभ

है, किन्तु जो अपनेमें बसा हुआ भगवान् है उसे मैं प्रसन्न कर सकता हूँ और उसके प्रसन्न करनेसे मुझे लाभ है। उसकी प्रसन्नता ज्ञानके बलपर है। मैं अपने सत्यस्वरूपको अपने ज्ञानमें रखूँ तो भगवान् मुझपर प्रसन्न हैं, केवल अपने स्वरूपमात्र में रहकर केवल ज्ञानमय विशुद्ध तत्व रहूँ, ऐसा बल उसमें है तो भगवान् उसपर प्रसन्न होगा। अब उसे क्या चाहिए? उससे बढ़कर और कुछ नहीं।

हे आत्मन् ! तू अपनेको राग रहित देख। तेरे में तो राग करने का स्वभाव ही नहीं, तेरेमें तो राग करनेका कोई काम ही नहीं, तू जानता चला आ रहा है, जानता है। जानने से आगे मत बढ़ तो तेरे सारे क्लेश समाप्त हो जायें और तू अपने आप सुखी हो जायगा। सुख पानेका यह उपाय है कि तू रागको दूर कर।

अहंकाराहिना दष्टः कर्ता भोक्ता भवेन्न मे।

ममत्वाहंत्वभावोऽपि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१९-२०॥

अर्थ- अहंकाररूपी सर्पसे डसा हुआ यह जीव कर्ता भोक्ता होता है। किन्तु मेरे में तो ममत्व और अहंत्व भाव भी नहीं है, इस लिये अहंकारपने को छोड़कर मैं अपनेमें अपनेलिये अपने आप सुखी होऊँ ॥

जगत् का यह प्राणी अहंकाररूपी सर्पसे डसा हुआ है। जैसे सर्पसे डसा हुआ व्यक्ति बेहोश हो जाता है, नई-नई तरह की चेष्टाएं करता है, इसी प्रकार अहंकारसे डसा हुआ पुरुष मोह करता है, झगड़ा करता है, बेचैन होता है, नये-नये प्रकार की चेष्टाएं करता है। अहंकार के वश प्रायः सभी जीव हो रहे हैं। एक बच्चे को देखो वह भी अहंकारी होता है। जवान बूढ़ों को देखो वह भी अहंकारी होते हैं। शरीर को माना कि मैं हूँ मैं अच्छी जातिका हूँ, अच्छे कुलका हूँ, यह अहंकारकी बात है। लोग मुझे जानें, यह सब विकल्प अहंकार की बात है।

हे आत्मन् ! तू अपना स्वरूप तो देख, तेरे स्वरूपमें अहंकार नहीं है, किसी भी प्रकार का विकार नहीं है, तू केवल ज्ञायकस्वरूप है, चेतनास्वरूप पवित्र वस्तु है। तू अपनेको क्या है इसको तो समझ, तू एक ज्ञानमात्र वस्तु है। लोकमें ज्ञान ही पवित्र चीज है, तुझसे पवित्र कौन है? तू पवित्र भगवान् रूप होकर, माया में फंसकर जन्ममरण के क्लेश सह रहा है, तू अहंकार से डसा है। अहंकार की बात भी नहीं फिर भी अहंकार से डसा है। एक बार राजा भोजकी सभा में चतुर आदमी बैठे थे। राजा ने किसी एक चतुर से कहा कि तुम बड़ी बढ़िया कविता पेश करो। उस चतुर आदमी ने केवल कोरा कागज देकर, जिसमें कुछ नहीं लिखा था, कहा कि तो यह सर्वाधिक सुन्दर कविता है, परन्तु महाराज जो शुद्ध है उसे ही कविता दीखेगी, राजा ने देखा, तो कुछ था ही नहीं, परन्तु मैं अशुद्ध न कहलाऊँ इस कारण कह दिया कि यह बड़ी सुन्दर है, खूब सुन्दर कविता है। पास में जो बैठे थे, उनको राजाने दिखाया पूछा कि कैसी कविता है? देखकर वे भी बहुत गुस्सा हो गये, सोचा कि इसमें कुछ लिखा ही नहीं, बड़ा गजब है, लेकिन शानमें कहना यही पड़ा कि बड़ी सुन्दर है। यह अहंकार की ही तो बात है। लोक में जितनी

सुख यहाँ प्रथम भाग

भी घटनायें ऐसी होती हैं कि बात कुछ भी न हो किन्तु शान में कुछ दिखाना पड़ता है। अहंकारने इस प्राणी को डस रखा है, सो निरन्तर इसमें अहंकार भरा रहता है। मैं बड़े गौरवका हूँ, मैं बड़े घरानेका हूँ, लेकिन अपनेको जो समझता रहता है वह सत्य जानता है कि यह दृश्यमान तू है क्या खाक? परवस्तु क्या तेरे आनन्द की, ऐश्वर्य की बात है? यह माया भी केवल तेरे स्वरूप में नहीं है। तेरा कुल तो इतना ऊँचा है कि ऐसा और नहीं, लेकिन इस जीव को तो अहंकारने ही बर्बाद किया है। अहंकारको छोड़ दे, अर्थात् जैसे सब हैं वैसे ही मैं हूँ, जैसे सब जीवों का स्वरूप है ठीक वैसा ही मेरा भी है। जैसे भगवान का स्वरूप है वैसा मेरा भी स्वरूप है। मेरी जैसी पवित्र कोई वस्तु नहीं है, किन्तु अपना पवित्र स्वरूप नहीं देखता है। देखो अगर कोई लुट जाता है, किसीका कुछ बरबाद हो जाता है कोई दुनिया में अचानक मर जाता है, चलते-चलते हार्ट फेल हो जाता है, सो मानता है कि दूसरों का हो जाता है। यह सब अहंकार का फल ही तो है। तूने इस संसार में अपनेको महान् और अन्य को नीच समझ रखा है इन सब बातोंको देखकर तू सोचता है कि यह सब तो औरों का हुआ करता है मेरा नहीं तू भगवान्स्वरूप है, वैसे ही सब भगवान्स्वरूप हैं, जो यह दशा है यह सब प्रकृति का विकार है। उसमें उलझने से एक तो जो ये भगवान् हैं, उन सब जीवोंका निरादर करता है और दूसरे अपने स्वरूप को भूलता है।

अरे तुझे अहंकाररूपी सर्पका विष चढ़ गया है और इस अहंकारके वश होकर तू गर्व करता है, कर्ता बनता है। सोसायटी के करने वाला नये नये कामों को करने वाला तू अपनेको मानता है, अपने स्वरूपको नहीं देखता। जो केवल ज्ञानमात्र है, चेतनामात्र है, जो केवल जाननेका ही काम करता है, इसके अतिरिक्त और कुछ काम नहीं करता। इस निज नाथ में कुछ स्वरूप नहीं है, मैं स्वरूप को भूल गया हूँ, मैं अमुक काम करता हूँ, मैं अमुक काम करूँगा आदि विकल्प विपदामें अपनेको लाता है। तू अपने स्वरूपको तो देख। इस चैतन्यप्रभुका कुछ करने का स्वभाव नहीं है, केवल जानने का ही स्वभाव है।

इसमें अहंकार नहीं है, अहंकार स्वभाव से नहीं है उसको तू करता है। करता तो तू है नहीं, मात्र मानता है कि मैं अमुकको करता हूँ, तो स्वतंत्रताका आनन्द कैसे होगा? यह तेरा कोरा भ्रम है कि विषय का आनन्द मिलता, देखनेका आनन्द मिलता, सुननेका आनन्द मिलता। तू तो ज्ञानमात्र है, केवल ज्ञान करता है, ज्ञानके अतिरिक्त तेरा कोई काम नहीं। भोजन क्या उसका कोई अंश भी तुझे आनन्द देता है? भोजन का तो ज्ञान होता है, उसके साथ मोह है। अमुक वस्तु मीठी है, उसका कुछ ज्ञान हुआ, मोहसे मीठी वस्तुका आकर्षण हुआ, भोजन का आनन्द नहीं। तूने जो कल्पना की उसका कुछ आनन्द है। जैसे कोई किसी को बताये कि भाई तेरे घर में लाख रुपयेका धन है। इतनी बात सुनते ही वह मौज में आ गया। मौज उसकी कल्पना की है। धन धन का है। क्या मौज धन से आती है या ज्ञान से आती है। चार आदमियों ने प्रशंसा कर दी तो वह वहाँ सुख मानता तो क्या वह सुख चार आदमियों

की चेष्टा से आता है या उसकी कल्पना बनी कि देखो चारों आदमी भला कह रहे हैं, सो उस कल्पना से उसकी मौज आयी। मैं ज्ञानस्वरूप आनन्द को जान रहा हूँ। अपने ही ज्ञान से अज्ञान की चर्चा करने वाले आनन्दमग्न हैं। बाह्य आनन्द क्या आनन्द है? बाहरी वस्तुएं क्या आधीन है? पुत्र मित्र आपके आधीन हैं क्या, जो आपके पास रहें, धन क्या आपके आधीन है? आपका तो आप में भी अधिकार नहीं रहा। दूसरे पर अधिकार करेगा क्या? अपने को जैसा बनाना चाहता है, बना। अपना है क्या? कोई किसी को नहीं बना पाता। आपका आप में क्या कुछ अधिकार है? नहीं है। आप दूसरे पर अधिकार करना चाह रहे हैं, परन्तु अपने में अधिकार नहीं, जिस पर अधिकार नहीं किया जा सकता है उसकी बात सोच रहे हो।

एक देहात में पटेल था। वह गांव का मुखिया था। एक पंचायत जुड़ी, उसमें एक ऐसा सवाल आ गया कि भाई ५० और ५० कितने होते हैं? पटेल बोला कि ५० और ५० अस्सी होते हैं। लोगों ने कहा कि १०० होते हैं। उसने कहा कि हमारी यह चार भैंसें हैं वह छोड़ देंगे आपको, अगर ५० और ५० मिलकर ८० न होते हों। अब स्त्री ने भी सुन लिया कि पंचायत में ऐसा हुआ। पटेल पूछता है कि तू उदास क्यों है? उसने कहा कि तेरी करनी का फल है। मेरी चार भैंसें चली जायेंगी, बच्चे क्या खायेंगे? कहां से अन्न खरीदेंगे? पटेल कहता है कि तू बेवकूफ है। पंच सारे के सारे कह रहे हैं कि ५० और ५० मिलकर १०० होते हैं, जब हम अपने आप कहें कि ५० और ५० मिलकर १०० होते हैं तो ही तो भैंस पायेंगे, देखो कौन भैंस ले पावेगा?

यह जीव भी जानता है कि संसार में अन्य कोई हितू नहीं, कोई शरण नहीं है, किसी के मोह से गुजारा नहीं होगा इसी कारण प्रभु का ध्यान भी करते हैं, धर्मपालन का परिश्रम भी करते हैं। सब कुछ करते हैं मगर भीतर से आत्मा इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं होती है कि दो मिनट भी ऐसा उपयोग बना लें कि मैं जगत् के अन्य प्राणियों के समान ही सामान्य वस्तु हूं। केवल देखना, जानना उसके सामने रहे, दो मिनट का भी उपयोग बन जाय तो स्वयं ही इस आनन्द को स्वरूप में पाकर आनन्द में तिरेगा, सारा क्लेश निकल जायगा। क्लेश कुछ है ही नहीं, किसी खोम्चा ढोने वाले आदमी से तुम कह सकते हो कि वह मुश्किल से पेट भरता है सो दुःखी है, किन्तु धनिकों व आफिसरों को तो यह गरीबी नहीं, फिर वे क्यों दुःखी हैं? वे बैठे-बैठे कल्पना से ही दुःखी हो रहे हैं। इसको यह कहा इसने नहीं माना, वह नहीं हुआ। जैसे सोचो कि मैंने नौकर से कहा कि तू झाड़ू दिया कर, नौकर भी स्वतन्त्र आजाद जाति का है। नहीं किया तो तुम्हारा क्या घटा? बाहर से चाहे काम करना पड़े, कोई भी क्रोध करना पड़े पर अन्तर में समझना चाहिये कि मेरा संसार में कुछ भी नहीं है, दूसरे से मेरा लाभ हानि नहीं है। बैठे-बैठे दुःखी हो रहे हो। गरीब बेचारे तो परिश्रम कर दुःखी होते हैं। पर यह तो बैठे-बैठे दुःखी हो रहे हैं। क्या कष्ट है? विकल्प का कष्ट। यह ऐसा नहीं चल रहा, यह ऐसा नहीं कर रहा, मेरा इसपर अधिकार है। अरे भाई तू कहीं का मालिक नहीं, तू अपना मालिक बन, जगत् के किसी पदार्थ

सुख यहाँ प्रथम भाग

पर तेरा अधिकार नहीं। मैं अमुक कार्य करता हूँ, मैं अमुक हूँ। अहंकार अहंकार में ही दुनिया बरबाद होती है। क्या करते हैं कि बढ़िया भोजन बनाया। आपने थोड़ा खाया पर १० को चखा दिया। उसने समझा कि १२ को भी पता चल जाना चाहिए कि यह कैसा भोजन करता है? लोग ऐसे होते हैं जो अहंकार में अपना तीव्र अहंकार भरे रहते हैं, खुद ही खाते हैं। वे चाहते हैं कि मैं ही सारा भोग भोग लूँ। उनके कार्य किसी के लिए भी किए जावें वे सब अहंकार के हैं।

मैं चैतन्य स्वरूपमात्र हूँ, मेरा करने व भोगने का कुछ भी स्वभाव नहीं है। ऐसा निश्चय कर लें तो भगवान् के होने के मार्ग को प्राप्त कर लें। इसलिए यह समझो कि मैं ज्ञानमात्र हूँ सर्व जीवों के समान हूँ, मैं सबसे अलग कुछ नहीं रहा। इसलिए सब में अपने आपको समाया समझो, यह स्थिति शुद्ध योग की है। जहाँ अहंकार का भी विकल्प न हो वह अहंकाररहित अवस्था है। अपने को किसी रूप में भी 'यह मैं हूँ' ऐसी मान्यता रहे वहाँ तक अहंकार की मात्रा है। ऐसा निरहंकार तो स्वयं आत्मा है। अहंकार तो औपाधिक पर्याय है, विनाशीक चीज है, निर्मूल चीज है। आत्मा के किसी शक्ति के स्वभाव से अहंकार नहीं होता, इसलिये तो अहंकार आत्मा की चीज नहीं और कर्मों में अहंकारभाव आने का मादा ही नहीं, अतः अहंकार मर्म की चीज नहीं। यह तो कर्मोदय के निमित्त से होने वाली आत्मा में एक झलक है। इस विभावरूप झलक को देखकर चैतन्य स्वभाव का ही अनुगम करना चाहिये। ऊपर तैरने वाले कुतत्व से दृष्टि हटाकर अन्तर में शाश्वत प्रकाशमान आधारभूत मर्म का अवलोकन करना चाहिये। सुख यहीं अन्तर में मिलेगा सुख का ठौर अन्यत्र कहीं नहीं है। अन्यत्र सुख खोजना ही क्लेश है।

वाञ्छन् गृह्णन् त्यजन् हर्षन् शोकन् क्रोधन् वर्तते ।

यत्रास्ते तत्त्वसाम्राज्यं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् । १९-२१॥

अर्थ— जो भाव वाञ्छ करता हुआ, ग्रहण करता हुआ, त्याग करता हुआ, हर्ष करता हुआ, शोक करता हुआ, क्रोध करता हुआ नहीं रहता है, और जिस स्वभाव में ठहरता है, वह आत्मा का साम्राज्य है, उस ज्ञायकभाव मात्र अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ ।

मैं वह आत्मतत्त्व हूँ जहाँ मेरा स्वयं का सहज अनादि सिद्ध साम्राज्य है। वह मैं न तो इच्छा करता हुआ वर्तता हूँ, न किसी वस्तु को ग्रहण करता हुआ हूँ, न किसी वस्तु को छोड़ता हुआ हूँ, न हर्ष करता हूँ, न शोक करता हूँ और न क्रोधादि करता हूँ, वह मैं आत्मतत्त्व हूँ। इच्छा का मुझमें स्वभाव ही नहीं है। इच्छा तो प्रकृति के उदय का निमित्त पाकर चेतन भूमिका में भासित होती है। यही बात हर्ष, शोक, क्रोध आदि विकारों की है। बाह्यपदार्थ का तो मुझमें अत्यन्ताभाव है। उसका ग्रहण करना व त्याग करना तो दूर ही रहो। मैं इनको किसी रूप में नहीं वर्तता हूँ। मैं तो ज्ञानानन्दस्वभावमात्र हूँ। निजस्वभाव में स्थिर होने में कोई क्लेश नहीं है।

जगत् के प्राणियों को जितना भी क्लेश है, वह है सारा राग का क्लेश । जब हम क्लेश को दूर करना चाहें तब हमें ऐसा सोचना चाहिये कि हमें राग को मिटाना है । राग को मिटाया तो क्लेश मिट गया । राग नहीं मिटा सके तो क्लेश नहीं मिट सकता । तो फिर राग को मिटाने का उपाय क्या है? उसके मिटाने का उपाय है रागरहित अपने स्वभाव को देखना । और भी उपायों से राग थोड़े काल को दब तो जायेगा पर मिटेगा नहीं । जैसे तपस्या की, पूजा की, तीर्थ किये । सो भैया ! इन उपायों से राग दब तो जायेगा परन्तु राग मूल से नष्ट न होगा । राग मूल से नष्ट होगा तो मात्र ज्ञान से, रागरहित स्वभाव की ओर दृष्टि बनाने से । मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, ज्ञानमय हूँ, ज्ञान को छोड़कर मैं अन्य कुछ भी नहीं हूँ । उस ज्ञान में ज्ञान ही है, ज्ञान जानने का ही स्वरूप है, इससे अन्य कुछ नहीं ।

यहां आज सब लोग जो अपने में राग, द्वेष, क्रोध आदि किया करते हैं, मित्र, कुटुम्ब, धन, वैभव आदि देखते हैं वह सब मोह की लीला है । वस्तुतः ज्ञान में ये नटखट कुछ नहीं है, ऐसा मात्र ज्ञानस्वरूप है । अपने में केवल ऐसा ही ज्ञान का स्वरूप देखना जानना मात्र उसका काम है । जानना यह कि यह सारा कुटुम्ब है, जानना यह कि यह इज्जत है, जानना यह कि यह दुनिया है । जान लो, सब जान लो । जानने के अलावा और कुछ विकल्प न करो । जानने के अलावा और कुछ मैं नहीं हूँ । यही तो मोह है और यही प्रकृति का विकार है कि जिस ज्ञान से जानते उसकी तो खबर नहीं और बाहर रमते हैं, किन्तु इस जानने के बारे में यदि और अधिक सूक्ष्म जानने का कुछ साहस करें और देखें कि समस्त चराचर का पीछा करने पर भी व्यक्ति का परमाणुमात्र भी उसका नहीं है तो अपने आप में आप का प्रकाश मिल जावेगा ।

वास्तव में अपने आपको जानना ही तो ज्ञान है । मैं मात्र ज्ञाता द्रष्टा हूँ, ऐसा अनुभव करने से ही कर्म सब दूर होंगे, विपत्तियां सारी दूर होंगी । विचार करें, विपत्तियां दुनिया में हैं कहाँ? ये जितने बाह्य पदार्थ हैं, कोई मनुष्य के आधीन नहीं । सो जब वे पदार्थ हमारी इच्छा के माफिक नहीं होते तो दुःख हो जाता है कि यह माफिक नहीं चले, यह उसकी तरह नहीं बने । बस इसी वितर्क के कारण विपत्तियां हैं । प्रथम तो तेरी इच्छा भी तेरे आधीन नहीं है । इच्छा औपाधिक है, पराधीन है । राग प्रकृति का उदय होने पर चेतनभूमिका में एक भासना होती है वही इच्छा है । इस इच्छा का वास्तव में कोई अधिकारी नहीं है । इच्छा न मेरा स्वभाव है और न मेरा सहज सिद्ध परिणमन है । इस रूप वर्तता हुआ जो कोई है वह माया तत्व है, मैं आत्मतत्व उसरूप नहीं जब इस निकटतम विकार का भी मुझमें सत्त्व नहीं है तो अन्य सर्व बाह्यपदार्थों की तो कथा ही क्या? किसी भी बाह्य को न तो मैं ग्रहण करता हूँ और न मैं छोड़ता हूँ । उनमें तो मैं कुछ कर भी नहीं सकता । त्रिकाल में भी बाह्यपदार्थ अपने नहीं हो सकते । बाह्य तो बाह्य ही हैं । उनका तो कोई भी अंश मुझमें नहीं आता । बाह्य पदार्थों से कैसे विपत्तियां आईं? विपत्तियां तो उस मोही के अन्तर में ही उठती हैं । जो हम विकल्प करते हैं वही क्लेश है, यह ध्रुव सत्य है । जैसे कोई मानता हो कि उसके पास धन कम है, यह विपत्ति है । धन का कम होना विपत्ति नहीं है । धन में अपना हित समझकर धन कम है ऐसा विकल्प करना विपत्ति है । यह विपत्ति ज्ञान से दूर

होगी। अज्ञान से आई हुई विपत्ति का नाश ज्ञान से ही होगा, इसका अन्य कोई उपाय नहीं है। जैसे किसी पुरुष को किसी बात पर भ्रम हो जाय तो वह भ्रम से दुःखी रहता है। उस दुःख का उपाय केवल भ्रम का नाश है। भ्रम दूर नहीं होगा तो दुःख का नाश न होगा। जैसे कि स्वप्न में देखी हुई खोटी बात से जो दुःख उत्पन्न होता है उस दुःख का नाश नींद खुल जाने में होता है, उसका और उपाय नहीं है। जैसे मान लो आपको नींद में ऐसा स्वप्न आया कि जंगल में घूम रहे हैं, एक सिंह सामने खड़ा है। अपना ही कुशल नहीं, यह जान पड़े कि वह चला आ रहा है मुंह बाये, खाने आ रहा है। स्वप्न में यदि ऐसी बात देखते हैं तो कितना क्लेश होता है? उस क्लेश को मिटाने का और कोई उपाय है क्या? बिजली का पंखा चला दिया जाय तो क्या वह क्लेश दूर हो जायगा? उस क्लेश को दूर करने का इसके अलावा और कोई उपाय नहीं कि उसकी नींद खुल जानी चाहिये। नींद खुली कि देखा न जंगल है, न शेर है। बस उसे आराम मिला।

इसी प्रकार जगत् के प्राणी मोह की नींद में सो रहे हैं और उनकी नींद से स्वप्न दिख रहे हैं कि यह नगर उसका है, यह दुकान उसकी है, यह दुकान उसकी है, यह परिवार उसका है, यह दौलत उसकी है, ये मित्रजन उसके हैं, उसकी इतने लोगों में इज्जत है इत्यादि नाना स्वप्न दिख रहे हैं। इन्हीं बातों को देखने से पल-पलपर कष्ट हो रहा है। अगर इज्जत का स्वप्न देख रहे हैं तो इज्जत संभालने का क्लेश, इज्जत बढ़ाने का क्लेश, अगर इज्जत में कुछ धक्का लगा तो उसका क्लेश। धन का स्वप्न देखते हैं तो एक तो धन के संभालने का क्लेश, धन बढ़ाने का क्लेश और धन में हानि पड़ती है तो उसका क्लेश। किसी भी प्रकार के विकल्प जो बनते रहते हैं। इस क्लेश को मिटाने का कोई उपाय है क्या? धन से होने वाले दुःख को दूर करने का क्या यह उपाय है कि उसे दुगुना कमा कर रख लें? नहीं इससे भी यह क्लेश नहीं मिटेगा। क्या इज्जत से होने वाले क्लेश को दूर करने का यह उपाय है कि किस प्रकार इज्जत को दुगुना बना लें? नहीं, यह भी उपाय नहीं है। उपाय केवल एक ही है कि मोह की नींद तोड़ दें। अपने सत्यस्वरूप को देख लें, क्योंकि मेरा तो केवल ज्ञान से ही स्वरूप है। ज्ञान के अतिरिक्त तो कुछ भी नहीं। मेरा लाभ ज्ञान से ही है। धन, इज्जत, परिवार आदि से मेरा लाभ नहीं है बल्कि हानि ही है। यदि ज्ञान जब ज्ञानवृक्ष बनकर बढ़ता है, फलता है, तब अनुपम आनन्द होता है।

विकारभाव पाप है। इच्छा हो, हर्ष हो, शोक हो, क्रोध हो, पर के ग्रहण का विकल्प हो, पर के त्याग का विकल्प हो, मानादिक हों, सभी ये विकार हैं, पाप हैं। तथा इन पापों से भी बढ़कर महापाप है इन विकारों में आत्मबुद्धि करना, इन्हें ही स्वयं जपना समझना, इन रागादिक विकारों में राग करना। इच्छा करता हुआ ही वर्तने वाला मैं हूँ, पर का ग्रहण व त्याग करता हुआ ही वर्तने वाला मैं हूँ, क्रोध मानादिक करता हुआ ही वर्तने वाला मैं हूँ, इस प्रकार के विकारों में आत्मीयता का होने वाला भाव महापाप है। देखो— दार्शनिक मैदान में, जब रागद्वेषादि भावों का परीक्षण किया जाता है तो कुछ भाई यह उत्तर देते हैं कि रागादि भाव पुरुष(आत्मा) में नहीं होते, ये प्रकृति के विकार हैं, प्रकृति की चीजें

हैं। जब तक यह भ्रम रहेगा कि ये रागादि मुझ में हुए तब तक संसार है। तब आगे यह भी जानना चाहो कि भ्रम किसमें है? क्या पुरुष में भ्रमभाव होने की बात कही तो जो भ्रमी है वही दुःखी हो, तब तो प्रकृति दुःखी है, मोक्ष प्रकृति का कराओ। यदि पुरुष में भ्रमभाव होने की बात कहो तो रागादि पुरुष में न हुए तो न सही, किन्तु भ्रमरूपी महापाप तो पुरुष में हो गया। सर्व आपदाओं का मूल यही पर्यायबुद्धि है, यही भ्रम जाल है सो अब इच्छा, विकल्प, क्रोध, शोक आदि किसी भी पर्याय में आत्मबुद्धि न करो। मैं तो वह हूँ जहाँ मेरे ज्ञान, आनन्द आदि निजी वैभवों का साम्राज्य है।

वास्तव में ज्ञेय को ही जानता हूँ, जानने के लिये ही जानता हूँ, जानना मुझमें ही जानना है इससे आगे मेरा कुछ और कर्तव्य नहीं है, ऐसी भावना के बल पर जो अपने आप में रम जाया करते हैं, उन्हें जो अनुपम आनन्द मिलता है वह न तो इन्द्र को नसीब है और न महाराजाओं को। वह तो प्रभु जैसा आनन्द में सामर्थ्य है कि कर्म कट जायेंगे। तपस्या से अथवा अन्य बातों में भी वह सामर्थ्य नहीं है जो सामर्थ्य सम्यक्ज्ञान में है। इसीलिए यदि किसी मनुष्य को दुःख दूर करना है तो वह निश्चय कर ले कि दुःख केवल राग में है, जिस किसी पदार्थ में जो राग है उसी में दुःख है तथा दुःख दूर करना है तो तुरन्त राग को दूर कर दे। राग करना मूर्खता है। कारण जिस बाह्यपदार्थ से राग करते हैं वह अपने नहीं हैं। उनका रंच भी सम्बन्ध नहीं है। क्या कोई बाह्यपदार्थ तेरे द्वारा आया है? क्या कोई भी बाह्य पदार्थ तेरे साथ आयगा? क्या कोई भी बाह्य पदार्थ जिसे कोई कितना भी चाहे क्या उसके साथ जायेगा? क्या कोई बाह्य पदार्थ उसके सुख दुःख में यहां या कहीं भी साथी होगा? यह केवल आत्मा ही है और अपने में ही बना रहता है, इतना ही तो इसका मर्म है, इसके आगे इसकी कोई गति ही नहीं। राग करना निपट अज्ञान है कि नहीं? किससे राग किया जाय? भगवान् और आत्मा में अन्तर क्या है? केवल राग होना या न होना, यही अन्तर है। जहां राग नहीं है वहां केवल हैं भगवान् और जहां राग है वहां है केवल प्राणी। राग करना तो व्यर्थ का काम है क्योंकि राग करने से हाथ लगता तो कुछ नहीं अर्थात् राग करके आराम में तो कोई आता नहीं। जो वस्तु के स्वरूप का ज्ञान करके राग छोड़ देता है वह भगवान् बनने के समान है और जो वस्तु के प्रति राग बढ़ाता है, राग रखता है, वह संसार में रूलने का काम करता है। आत्मन् ! तू अपने आपको ही स्वयं द्रष्टा देख या देखने वाला जो है वही तू है। जो जानने वाला है वही तू है। जानने से आगे न तू है, न तेरा काम। ऐसा सोचकर चिन्ता दूर कर, विकल्पों को दूर कर, आराम से कुछ ठहर। आराम के मायने हैं 'प्रभु राम आ।' चैतन्य महाप्रभु मेरे उपयोग में आ। जब जब आप मेरे उपयोग में रहे, मैं आराम से रहा। जब तू मेरे उपयोग से हटा तो मैं विषयकषायरूपी शिकारियों के चक्कर में पड़े हुए हिरन के बच्चे की भांति विहल हो जाता हूँ। जिन बाह्य पदार्थों से मैं घिरा हूँ, वे मेरे लिये शिकारीवत् हैं। एक तुम मेरे उपयोग से हटे कि मेरा आराम चला जाता है।

आराम भगवान् स्वयं किसी को नहीं दिया करते। भगवान् तो न किसी पर प्रसन्न होते हैं, न किसी पर क्रुद्ध होते हैं। यदि वे ऐसा करने लगें तो वह भगवान् न रहें, हमारी तरह अनाथ प्राणी हो जायें। कैसा ही कोई भक्त हो उस पर भगवान् प्रसन्न नहीं होते और कैसा ही कोई पापी हो उसपर भगवान्

सुख यहाँ प्रथम भाग

क्रुद्ध नहीं होते हैं। हां, भगवान को यह ज्ञान रहता है कि यह भक्त-आत्मा कितना पवित्र है या यह पतित आत्मा है। परन्तु वे न तो प्रसन्न होते हैं और न क्रुद्ध होते हैं। और सच-पूछो तो जो कर्ममुक्त भगवान हैं उनको प्रसन्न नहीं किया जा सकता। हां उसकी प्रसन्नता अपने आप में ज्ञान के बलपर निर्भर है, वह भी है अपने सत्य स्वरूप से। यह ज्ञान जो कि जगत् के सब पदार्थों से न्यारा केवल अपने स्वरूपमात्र, परमज्योतिर्मय, केवल ज्ञानमय, विशुद्ध तत्व है वही सारतत्व मैं हूँ, ऐसा अनुभव वह अपने में करे तो उसे परम प्रसन्नता होगी। जब मेरे यहां मेरे भगवान मेरे प्रभु प्रसन्न हो गये तब क्या चाहिए? उससे बढ़कर और है क्या? इसलिये हे आत्मन्! तू अपने को राग रहित देख। मेरा तो राग करने का स्वभाव ही नहीं। तेरा भी राग करने का कोई काम नहीं। तू तो ज्ञानस्वरूप है, तू तो जानता चला जा, सब कुछ जानता चला जा। जान कर रह, जानने से आगे मत बढ़, तो तेरे सारे क्लेश समाप्त हो जायेंगे और तू अपने में अपने आप सुखी हो जायगा। सुखी होने का मूल उपाय यही है कि राग को नष्ट कर। राग करके कष्ट दूर नहीं हो सकते। सबसे बड़ा विकट राग तो यही है कि अपने को नाना विकारों रूप मानना। परमार्थतः मैं शुद्ध ज्ञायकस्वरूप हूँ। परपदार्थ का प्रतिभास होता है, इससे पर का न कोई सम्बन्ध है और न मुझमें पर की कोई करतूत है। यह तो ज्ञान का सहज विलास है। ज्ञान ऐसे ही रूप को लिए हुए है। मैं इसी सहज ज्ञान मात्र हूँ सो ज्ञान द्वारा ज्ञानमय निजस्वरूप में ज्ञान के लिये ज्ञानमात्र वर्त कर स्वयं सुखी होऊं।

यदाऽज्ञता तदासीन्मे प्रीतिभोगे स्वविभ्रमात् ।

दीनवज्जोपि धावानि? स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१-२२॥

अर्थ— जिस समय मेरे अज्ञान का असत् भाव था तब भोगों में आत्मा का या आत्मीयता का भ्रम होने से मेरी प्रीति हुई, अब ज्ञानस्वभाव होकर भी— मैं दीन अर्थात् भ्रमी जीवों की तरह क्या आत्मा के उपयोग से बाहर परपदार्थ में दौड़ूँ? मैं तो अपने में अपने लिये अपने आप स्वयं सुखी होऊँ ।

यद्यपि यह जीव ज्ञान और आनन्द से परिपूर्ण है तब भी अपने इस स्वरूप को न जानने के कारण इसको अपने आप में संतोष तो मिलता नहीं तब बाहर संतोष ढूँढ़ता है, किन्तु बाहर कैसे संतोष मिले? इसका सुखी होने का स्वभाव है। भीतर तो सुखी होता नहीं, तो सुख बाहर के पदार्थ में ढूँढ़ता है। बाहर सुख ढूँढ़ने में त्रिकाल में भी सफलता नहीं प्राप्त होगी, क्योंकि बाहर के जितने भी पदार्थ हैं वे सब अपनी-अपनी सत्ता में हैं, वे अपने बाहर कुछ नहीं करते, उनका उनसे बाहर कुछ नहीं आता तब उनसे आशा करना विपत्ति ही तो है। जब तक यह कुज्ञान था कि परपदार्थ से उसे सुख मिलेगा तब तक भोगों में प्रीति थी किन्तु अब स्वयं यह जान लिया कि दूसरे पदार्थ से सुख नहीं मिलता, सुखस्वरूप हम ही तो हैं, जब यह ज्ञान वाले हुये तब उनके भोग में प्रीति नहीं रहती। किसी धोखे वाली जगह में प्रीति तब तक होती है जब तक उस विषय का सच्चा ज्ञान नहीं होता है। परिवार का आज्ञाकारी होना, सैकड़ों हजारों कोसों में यश और कीर्तिका फैलना यह सब माया है और इसमें फंसे तो आत्मीय आनन्द से हाथ धोये। जैसे अन्य लोग कहा करते हैं कि किसी ने जब बड़ी तपस्या की तो इन्द्र को डर लगा कि कहीं उसका

आसन न छुड़ा ले तब कोई सुन्दर अप्सरा उसने भेजी कि वह रूप हाव भाव नृत्य दिखाकर नाना उपाय कर ऋषि को चिगा दे। अब देखो वे सब राग के कृत्य अपने में देखने में बड़े अच्छे लगते हैं, परन्तु यह सब धोखा है, उस धोखे में गये तो बस तप श्रम उनका बाद में खत्म हो जायगा।

इसी तरह आत्मा में उत्कृष्ट आनन्द भरा है, अनन्त आनन्द स्वभाव हैं। उस आनन्दस्वाभावमय परमात्मतत्त्व को अपने स्वभाव के दर्शन द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। स्त्री पुरुष भले ही उसे मिले तो क्या मिले, वे स्वयं दीन आत्मा हैं, उनसे हममें दुःख ही होता है। कुटुम्ब अच्छा मिला तो क्या मिला? तुम्हारी तो आत्मा ही साक्षात् भगवान है, यह स्वयं वैभव है। यह माया कुछ नहीं, केवल भूल है। अपने स्वभाव की उपासना में लगे और इन भोगों से दृष्टि हटे तो वहां जानना है। यहां के पदार्थ तो यों ही मिले हैं और यों ही जावेंगे। एक कथानक है कि एक चोर ने किसी सेठ के यहां से घोड़ा चुरा लिया और बाजार में खड़ा कर दिया। ग्राहक बोलते हैं बोलो क्या दाम है इसका? उसने कहा— ६०० रुपया है। तिगुना दाम बताया सो सब लौट गये। इस तरह दसों लौट गये। ग्यारहवीं बार दूसरा आया, उसने भी दाम पूछा तो उससे भी कहा— ६०० रुपया है। उसने समझ लिया कि इसने चोरी की है। ग्राहक बोला इसमें ऐसी क्या बात है, चोर कहने लगा— इसकी चाल बढ़िया है। ग्राहक चाल देखने के लिये घोड़े पर बैठ गया, मिट्टी का हुक्का उसको पकड़ा दिया। उसको कहा— जरा पकड़ो तो और आप घोड़े पर जा बैठो। ग्राहक घोड़े को बहुत दूर ले गया और उड़ा ही ले गया? दूसरे लोग आये, कहा— भाई, तुम्हारा घोड़ा बिक गया? कितने में बिक गया? बोला— जितने में लाये थे उतने में बिक गया। पूछा— मुनाफा क्या मिला? कहा— तीन आने का यह मिट्टी का हुक्का।

इसी तरह ये सारे पदार्थ एक पैसे से लेकर खरबों रुपये तक हैं। ये सारे के सारे मुफ्त में ही मिले हैं चीज तो न्यारी है, तो भैया यह सब जो पाया है सो मुफ्त में ही मिला है और मुफ्त ही में जायगा, हाथ कुछ नहीं रहेगा। क्या भाव बना कि यह मेरा है, परिवार मेरा है, ऐसा उन्होंने परिणाम बना लिया, परन्तु ज्ञानी पुरुष जानता है दुनिया में मिला मुफ्त में यह है और मिटेगा भी मुफ्त में यह। कोई साथ में नहीं रहेगा, पर भाव मिटने को आये हैं और मिटने में ही जायेंगे। कुछ मुनाफा मिला कि नहीं मिला, न कुछ गया। कहते हैं कि मिलेगा क्या? पाप का हुक्का। जो जो मिला है वह नहीं रहेगा, किसी के पास नहीं रहेगा। अरबपति, लखपति के पास नहीं रहेगा, पंडित के पास भी नहीं रहेगा, कुली के पास भी नहीं रहेगा, पहलवानों के पास भी नहीं रहेगा। पर जो पुण्य पाप जिन्दगी में किया वह साथ रहेगा, उसके अनुसार सुख दुःख के साधन सब मिलेंगे।

भैया! जब अज्ञान था, भोगों के प्रति प्रेम था, ठीक है, पर अब तो ज्ञान है, तू तो एक चेतनामय स्वरूपमात्रसर्वस्व है, केवलज्ञानमात्र है, सबमें मिला व सबसे जुदा एक आनन्दमय पदार्थ है। सर्वसाधारण एक पदार्थ है, जिसका नाम भी नहीं है, जिसका भाग ही नहीं है, परन्तु एक पदार्थ है उसे तो भूल गया और आगेकी दुनिया में दृष्टि रखकर इस माया की दुनियामें लग रहा है और आनन्दके स्वप्नों को सत्य समझ रहा है। इसीसे दुःख होते रहते हैं। अब तक तुमने कितने भव व्यतीत कर डाले? अब केवल

एक इस भवको ही भोगरहित व ज्ञानसहित बिताओ कोई हर्ज नहीं । यह एक भव जो अब पाया है तो यह समझ लो कि इसको पाया ही नहीं है, पाया है तो अपनेमें गुप्त रहकर ही धर्मसाधनाके लिये पाया समझो तो मुक्ति का मार्ग मिल जायगा, शान्ति और आनन्दका मार्ग मिल जायगा फिर तू सदाके लिये मिट जायेगा? बल्कि सुखी हो जायगा । एक मोह को छोड़ दे तो सदाके लिये तेरे क्लेश मिट जायेंगे ।

हे आत्मन् । तू ज्ञानस्वरूप है, तेरे में जन्म नहीं, मरण नहीं, तू तो एक ज्ञान स्वभावमात्र है । इस स्वभावमें न जन्म है, न मरण है, न क्लेश है, न दुःख उस तेरे स्वभाव में कुछ भी तो विकार नहीं है । तू अपने इस स्वरूपको देख सबसे निराला बन, केवल तू ही यह स्वयं आत्मज्ञानमात्र है, आनन्दमय है, कोई झगड़ा नहीं, कोई विवाद नहीं । उस स्वरूपको देख, सबसे निराला बन । उस स्वरूपसे जरा भी हटे, जरा भी चिगे, जरा भी शिथिलता डाल दी तो गलतियाँ बढ़ती चली जायेंगी । जहाँ कहीं सवाल के हल करने में पहले पहले कोई गलती कर दे तो वह गलती बढ़ती ही चली जाती है । इसी तरह स्वयं में गलती करते आये तो यह गलती बढ़ती ही चली जाती है । जितना भी यह क्लेश होता है वह तेरे भ्रम से होता है जब यह भ्रम होगा कि मैं कुछ नहीं हूँ किन्तु दूसरे के बलपर मेरा जीवन रहता है, दूसरे के बल से ही सुखी होता है, दूसरेके बल पर ही मेरी जिन्दगी का ठौर होता है, जब ऐसा मिथ्याज्ञान तेरे में आयेगा तो अपने आप में कहीं संतोष कैसे पायगा ? जैसे किसी से कोई कहे कि तुमको जो कुछ चाहिये सो ले लीजिए २४ घंटे बाद दूंगा, तो वह २४ घंटे उसके पीछे सोचमें ही बरबाद होगा उसको एक घंटा भी सुख न हो सकेगा । उतनी बात की आशा में उसको इस २४ घंटे की परेशानी हुई, अब क्या ठिकाना जब २४ घंटे पूरे होंगे, तब कहा कि बोल क्या चाहता है । तो कहा माफ करें अब जब तक मांगा भी नहीं, तो कल्पनामें २४ घंटे खराब गये और अब मैं तुमसे ले लूंगा कुछ, तो जिन्दगी ही खराब हो जायगी ।

कोई कहता है कि जीव हवा है, कोई कहता है, कि साँस है, अनेक रूपमें इस जीवकी कल्पना होती है । परन्तु ऐसा कुछ नहीं है कि हवा है या साँस है । आया सो आया गया सो गया, ऐसा कुछ नहीं है । यह जीव तो ज्ञानानन्दघन पदार्थ है, केवल ज्ञानमात्र है, भावमात्र है, केवल चैतन्यभाव मात्र है, ठोस है, ज्ञानघन व आनन्दसे परिपूर्ण है, धोखेकी कोई बात नहीं । जो उसको साररूपमें नहीं पकड़ता उसके लिये धोखा है । शरीर में जीवका बना रहना क्षणिक है किन्तु शरीर जिन परमाणुओं से रचा हुआ है न तो वे परमाणु क्षणिक हैं और न यह जीवतत्त्व ही क्षणिक है । जीव क्षणिक नहीं वह तो ठोस पदार्थ है, वह आनन्दघन है, मजबूत तथ्य है । उससे बढ़कर संसार में कुछ है ही नहीं । जो इसको समझ लेता है वह आनन्दमग्न हो जाता है । जो नहीं समझ पाता वह जगत् में सब जगह ठोकर खाता है । बाह्य पदार्थ की हानि से अपनी हानि समझता है । वाह्यको अपना सब समझता है । अकिंचन भाव रहा तो यह आत्मा वैभवपूर्ण है । इसका और कुछ है ही नहीं । जो बाहरमें अपना कुछ मानते हैं । वे ही परकी उधेड़बुन में पड़ेंगे । मेरा कुछ है ऐसे भाव में बहता चला जाता है वह तो टोटे में रहता है और जो उसका कुछ नहीं है ऐसा निर्णय करके सबसे पृथक् होकर केवल आत्मारामसे नेह लगा लेते हैं इनके लिये

सर्वोत्कृष्ट वैभव प्राप्त होते हैं । इस महत्व से ही परमात्माकी हम पूजा करते हैं । बतलाओ क्या है उनके पास दूसरी चीज, एक पैसा नहीं, एक धागा नहीं, एक अनाजका दाना नहीं, जरासा कुछ नहीं । जब भी आप उनकी उपासनामें लीन होते हैं । भैया ! बाह्यपदार्थों की जिद न करो जो कर्म आपने किया है, जो गति बंध गई है, सारी बातें यहाँ तैयार कर ली हैं मरण के बाद तो उसमें अब बस नहीं चलेगा, मैं एक इन्द्रिय नहीं होना चाहता हूँ, ऐसी जिद न चलेगी मरते समय अगर कीड़े मकौड़े बनना है तो मैं नहीं बनना चाहता हूँ यह जिद न चलेगी । इस भव में चाहे पुण्यवश कुछ भी थोड़ी जिद कर लें जैसे किसी ने मना भी कर दिया तो यहांपर जिद चल जाती है, मगर मरणके बाद की भी बात सोचो भैया अपना स्वरूप देखो, मैं तो इस जगत् का सबसे निराला जीव पदार्थ हूँ, यदि यह सत्य स्वरूप उपयोग में बसा लूं तो अपनेमें अपने आप स्वयं सुखी हो सकूंगा ।

सुखका घातक तो अज्ञानभाव है । अज्ञानका अर्थ है वस्तुके यथार्थ स्वरूपका पता न होना । वस्तु जगत में अनन्त हैं । अनन्त जीव हैं, अनन्त पुद्गल हैं, एक धर्मद्रव्य है, एक अधर्मद्रव्य है, एक आकाशद्रव्य है, असंख्यात कालद्रव्य हैं । इनमें से किसी भी एक पदार्थ को देखें, प्रत्येक पदार्थ अपनी अपनी सत्तामें है, अपने अपने ही प्रदेशों में अपने अपने ही स्वरूप में अपनी अपनी एक अवस्थाका उत्पाद करता है व उसी समय पूर्व एक पर्यायको विलीन करता है और वह सत् स्वयं वहीका वही बना रहता है । इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ निज निज गुणात्मक है । इस कारण किसी भी पदार्थ का किसी भी पदार्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है । किन्तु इस वस्तु मर्मका जिन्हें ज्ञान नहीं है और इसी कारण सम्बन्धबुद्धि, कर्तृत्वबुद्धि भोक्तृत्व बुद्धि आदि रूप अवगम है, सो चूंकि जीव तो किसी न किसी पद में रमनेका काम करेगा ही । तो यों अब वह भोगों में रमने लगा, भोगों में हित बुद्धि की, इसी कारण दीन पुरुषकी भांति बाहर बाहर ही दौड़ लगाता रहता है यह । हाय बड़े कष्टकी बात है कि ज्ञानस्वभावमय होकर भी मैं दीन की भांति परपदार्थों में दौड़ लगाता हूँ, नाना आशायें रखकर । अब ऐसा नहीं होगा । जब तक मेरे अज्ञान था तब तक मेरे भोगोंमें प्रीति थी, अब अज्ञान मिटा तब अब अन्यत्र मैं नहीं दौड़ूंगा । मैं तो अब अपने आप में ही रमकर स्वयं सुखी होऊंगा ।

ज्ञातृत्वं मयि सर्वेषु स्वायत्तं साम्यसंयुतम् ।

कस्य कः ज्ञातृतां दृष्ट्वा स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१७-२३॥

अर्थ- अपने ही आधीन समतासि संयुक्त ज्ञातापन मुझमें और सबों में विद्यमान है, किसका कौन है, इसलिये ज्ञातापन को देखकर के मैं अपनेमें अपनेलिये स्वयं सुखी होऊँ ।

जीवका स्वरूप है ज्ञातापना ज्ञानस्वरूप होना, प्रतिभसास्वरूप होना । वह ऐसा स्वरूप है कि समता तो उसमें अपने आप ही भरी हुई है । केवल जानना जो है उसमें रागद्वेष नहीं होता । रागद्वेष होता है तब जब जानने से आगे बढ़ता है केवल जानने से राग नहीं, द्वेष नहीं । ऐसी समता वाला ज्ञान आत्माका जो स्वरूप है वह स्वाधीन है, जो स्वाधीन स्वरूप है उसमें संतोष व आनन्द उत्पन्न होता है और जो स्वाधीन नहीं है, पराधीन है उसकी उपासना विपदा उत्पन्न करती है । लोकमें भी देखो जो बात पराधीन

है उसकी इच्छा से विपदा है, जो अपने स्वाधीन है उसमें उतनी विपदा नहीं । यद्यपि लोकमें बाहरी चीज कोई स्वाधीन नहीं, सब पराधीन हैं तब भी एक मोटा दृष्टान्त दिया । पराधीनतासे दुःख है, सब पराधीन हैं, धन वैभवका मिलना पराधीन है । और कषाय विषय का होना पराधीन है, धन वैभव का मिलना भी पराधीन है । आत्मा ज्ञानस्वरूप है, जो ज्ञानस्वभाव है उसके बसकी बात नहीं है कि कषाय कर ले । कषाय उत्पन्न होती है वह भी कर्मोदयकी आधीनता है । शरीर मिलता है वह कर्मके आधीन है । स्वाधीन चीज तो कुछ मिलेगी ही नहीं । परपदार्थ में कुटुम्बके लोग हैं, वे भी अपनी न्यारी सत्ता वाले हैं, वे अपनी- अपनी परिणति के आधीन हैं । मित्रजन हैं जिन्होंने कुछ उपकार किया वे भी पराधीन ही हैं । यह सब कुछ मेरा नहीं, मेरा धन तो अपना अनन्त आनन्द चैतन्यस्वरूप है । सत्यकी दृष्टि में कोई धोखा नहीं, खतरा नहीं, कोई क्लेश नहीं । आत्मस्वरूप की दृष्टिमें कोई धोखा नहीं, खतरा नहीं, कोई क्लेश नहीं । आत्मस्वरूपकी दृष्टिसे जो चिग जाते हैं उनको तो वैभव भी विपत्ति ही है । मोह में जीव को सर्वत्र मूढ़ता है और मोही जीव को सम्पदाके बीचमें भी विपत्ति है, मोह है । इसलिए मोही कहा जाता है । वैसे तो मोह, मूढ़ता व अज्ञान सब एकार्थक हैं, किन्तु लोग मोही सुनकर तो बुरा नहीं मानते, लोग मूढ़ सुनकर बुरा मानते हैं, बात एक है । मूढ़ तो मोह करनेसे बना है, कुछ कहने से नहीं ।

एक आदमी था बेवकूफ । उसका नाम मूरखचन्द रख दिया लोगों ने । उसे सब लोग मूरखचन्द कहते थे । वह गाँव के बाहर भग गया और रास्तेमें एक कुंवा था उसमें पैर लटकाकर बैठ गया । इतनेमें एक आदमी निकला और उसे इस तरह जब देखा तो बोला—अरे मूरखचन्द कहां बैठा है? उसने प्रेमसे उसको गले लगाकर कहा, कैसे आपने जाना कि मेरा मूरखचन्द नाम है ? किसने तुम्हें बताया कि मेरा नाम मूरख चन्द है? वह मुसाफिर बोला कि तेरी करतूत ही बताती है कि तुम्हारा नाम मूरखचन्द है? सो भैया ! उपादान हम लोगों का अशुद्ध है तो मोही ही हैं । जिनका उपादान है जिस-जिस रूप, उनका नाम वैसा पीछे पड़ा । करतूत है तब नाम पीछे है, यह नहीं कि नाम पहले रखा है कर्तव्य पीछे । करतूत पहले, नाम बाद में । ज्ञान उसको ही कहते हैं जो अपने ज्ञानके स्वरूपको जान जाये उसका नाम है ज्ञान और जो अपने ही ज्ञानको स्वयं न जाने और दुनिया के सारे पदार्थों को जानता है उसको कहते हैं अज्ञान । यह मोक्ष मार्ग में ज्ञान और अज्ञानकी पद्धति है कोई कितने ही ठाट-बाट बना ले, कितनी ही सम्पदा जोड़ ले, परन्तु शान्ति तब तक नहीं मिलेगी जब तक अपने सहज ज्ञानस्वरूप ही मैं हूँ, इतना स्वयं में ही यह न मान जाय । मैं ही स्वयं का स्वयं मैं सब कुछ हूँ यह प्रत्यय हुए बिना शान्ति नहीं है । अपने आप जैसी सत्ता है वैसा न माना जाय तो अपने में तब तक शान्ति नहीं मिलेगी, लेकिन मोही प्राणी ने अपनेको बीसों तरहका मान रखा है, यह एक तरह का सर्वसाधारण चेतनामात्र एक रूप । परन्तु मान रक्खा है । बीसों तरह का अपने को । अमुक आकार का मैं हूँ, मैं अमुक जातिका हूँ, ऐसा अनुभव है । अफसर हूँ, मैं ऐसी इज्जत वाला हूँ, बाप हूँ, मामा हूँ, बच्चा हूँ, कितने तरह का मान रखा है कि गिनती तक नहीं करायी जा सकती है । भीतर से इतने विकार विकल्प उत्पन्न होते हैं जितना कोई बयान नहीं कर सकता । तो बोलो कितने रूप अपनेको मान रक्खा है? अनगिनती रूप अपनेको माना है । है

तो यह एक रूपका, जैसा भगवान् वैसा मैं चेतनामात्र हूँ, किन्तु मान रखा है अन्य रूपों में ज्ञानको। कैसी मूर्खता है, मूर्खता, मूढ़ता, मोह सब एक ही बात है, जरा भी अन्तर नहीं है। चाहे मोही कह लो, चाहे मूढ़ कह लो। मैं स्वयं अपने आप कैसा हूँ इसका निर्णय ही सच्चा ज्ञान है। इतना ज्ञान हो जानेके बाद फिर लौकिक ज्ञान भी चलता रहे तो भी यह जीव अज्ञानी नहीं कहलाता, क्योंकि वास्तविक ज्ञानके कारण मोक्षमार्ग का ज्ञान प्रकट हो गया है। मैं प्रभु समान चैतन्यस्वरूप एक पदार्थ हूँ, इसका किसी से सम्बन्ध नहीं, इसको किसीकी अपेक्षा नहीं। यह तो बिल्कुल स्वतन्त्र है, ऐसा अपना स्वरूप अनुभव में आये तो मुख्य ज्ञान तो हों ही चुका, लौकिक बातोंका ज्ञान न हो सके, नहीं सही, उससे मोक्षमार्ग में बाधा नहीं आती। एक यह ज्ञान हुआ कि बाद में फिर सभी बातें ठीक होती चली आती हैं। एक बर्तन सीधा नीचे रखें तो तुम उसके ऊपर सारे घड़े सीधे रखते चले जाओ, तीसरा घड़ा रखोगे सीधा आयगा, उल्टा कोई नहीं आयगा।

तेरी आत्माको स्वयं ज्ञान हो गया तो जो तू करेगा सो ठीक होगा, बनावटकी बात ज्ञानमें नहीं आयेगी। जो केंद्री हो सीधा केंद्री क्योंकि मूल में अपने में सीधा बना रक्खा है। यह सत्परिणाम रक्षक है उसका। दूसरा तो दूसरा ही है, उसका तो उसमें अत्यन्ताभाव है, उससे मेरी रक्षा हो ही नहीं सकती। उसकी रक्षा यही है कि बनावट, सजावट, दिखावट इससे दूर रहे, इसीसे सारा जीवन उसका ठीक होता चला जाता है। उसका स्वभाव है ज्ञाता बनना, जान लेना, यहां तक कि उसमें विकार नहीं कुछ। पवित्र तो मैं हूँ, इतना काम करनेसे तो मैं स्पष्ट पवित्र हूँ, कितना कि जान लो। केवल जानना ही जिसका स्वरूप है उतना जान लो। जानना आत्माका स्वभाव है उससे आत्माको अलग नहीं किया जा सकता है, पर जानने के अतिरिक्त, जो परिणाम पैदा होते हैं, राग करनेके, पक्षपात करनेके भाव बनते हैं तो विपदा ही विपदा है सारा काम बेकार है, अपवित्र है, इसकी बरबादीके कारण हैं। सो भैया! यही भाव रखो कि केवल ज्ञाता बनना है और यह ज्ञाता स्वयंके समझनेके लिए होना है। आत्मा का सहजस्वरूप शुद्ध है, रागद्वेष क्लेश भी जहां नहीं है और यह सभी स्वाधीन है। बाकी यह सब बातें जो सबको आसान लग रही हैं श्रम करके होती हैं। देख लो कैसा उसका स्वरूप है, कैसा आपका स्वरूप है, कैसा जीवका स्वरूप है, किन्तु मोही जीव-यथार्थ न देखकर आपको अन्यथा देखता है। यह पर्याय धुन अनित्य है ऐसा अपने बारे में तो सोच नहीं पाता, दूसरेको जरूर अनित्य समझ लेता है यानी दूसरेकी अनित्यता तो मनमें भर रखी है कि यह उसका है, मिट जाता है, लड़के उसके हैं वे मर सकते हैं यह दूसरा है मर सकता है किन्तु मैं कह मरने वाला हूँ अपने पक्षका खण्डन कुछ नहीं कर सकता हूँ। दूसरोंके परिवार, धन, बच्चों के प्रति यह लेता कि इनका है क्या, भला अपने घर वालोंको ऐसा कह पाता है क्या, उस जीवका स्वरूप विलक्षण कुछ अलग बैठा है क्या? किसका कौन है? कोई आदमी अपने देश से भागकर लुटिया डोर लेकर चला, दो एक रुपया लेकर चला। किसी शहरमें ठहर गया। वह १०-५ वर्ष में हो गया लखपति। उसने यह नहीं सोचा अपनेको कि यह लाखों का धन मेरा नहीं है। किसी सालमें आ गया टोटा। रह गये कोरे, तब उसने समझ लिया कि मैं लुटिया डोर लेकर ही तो आया था मेरा

सुख यहाँ प्रथम भाग

क्या है? ऐसे ही आया ऐसे ही गया, इसी तरहसे वियोग होने पर तो हमने समझ लिया कि हमारा कुछ नहीं है, न मेरा कुछ होगा, पहले भी कुछ नहीं था । पुण्योदयसे जो जो मिला है वह सब हमारा कुछ नहीं है । यह सब तो परवस्तु हैं, यह बात तब समझमें आती है जब उसका वियोग हो जाता है जैसे दादा, दादी वगैरह जो मर चुके हैं उनके बारेमें तों यह निर्णय कर लिया है कि वे मेरे नहीं थे किन्तु जो अभी समागम में हैं उनको नहीं सोच पाता कि ये मेरे नहीं हैं । सत्य विश्वास हो जाना कि उसका कुछ नहीं है यह कठिन है। सत्य है, विश्वास न करें तो भविष्य में भी जरा भी संतोष नहीं होगा । अपने यथार्थस्वरूपको समझता है जो उसी को ज्ञानी कहा है । जो वर्तमान में मिला है वह अत्यन्त भिन्न है, इसका कोई स्वरूप मुझसे नहीं है ऐसी दृष्टि वर्तमान में मिली हुई पदार्थों में आ जाय उसे कहते हैं ज्ञानी । जिसने यह कर लिया उसका बेड़ा पार और नहीं कर लिया तो यहां भी दुखी और मृत्यु के समय भी दुःखी और जहां जन्म लेगा वहां भी दुःखी, सब जगह दुःखी ।

ऐसे ही यह अज्ञान है इस अज्ञान में हर जगह दुःख है। जिस समय अज्ञान है तब तो दुःख होगा, मरण के समय वियोग है तब दुःख होगा, मरने के बाद जो भव पाया वहां दुःख । सो भैया! अज्ञान से हटकर अपने स्वरूप का निर्णय कर लो । पैसा अपने पास न्याय से थोड़ा श्रम करके जितना आये उसी में हिम्मत करके गुजारा करो । अपने हाथ के परिश्रम में जो आता है , उसका संतोष कर शर्म छोड़ दे कि दुनियां को कुछ दिखाना है । केवल भगवान् को देखो तुम्हारे ज्ञान में यह प्रभु आया कि नहीं । जो न्याय से मिले उसमें गुजारा करना एक तपस्या है, कुछ क्लेश है और क्लेश कुछ भी नहीं, तब तो इसका आनन्द समझ में आयेगा, नहीं तो धोखा खायेगा । अपने को ही देख ले मेरा भगवान् स्वरूप मेरी रक्षा कर सकता है दूसरा कोई नहीं जब धरेलू कार्य धंधे बढ़ते हैं तो इसके मोक्ष मार्ग में बाधा डालते हैं । सादगी से रहना मोक्षमार्ग की बाधाओं को दूर करना है । जब शान शौकत कम करदी जाती है तब सन्मार्ग में बुद्धि चलती है । जो ज्ञानी जीव है उस जीव को इतनी फुरसत कहाँ कि वह शरीर के शृंगार करे । ज्ञानी तो गृहस्थी में रहता जरूर है किन्तु जल में कमलवत् भिन्न है. उसको तो लौकिक काम करने पड़ते हैं, किन्तु भावना यह है कि कब घर छोड़कर अपने स्वरूप में रम स्वयं ज्ञातामात्र बनूं । ऐसा ही स्वरूप सब जीवों में है । जो सर्वस्व मेरा स्वरूप स्वाधीन है समता से भरा हुआ है, मैं अपने स्वाधीन उस शान्त स्वरूप को देखकर अपने में अपने आप स्वयं सुखी होऊं । दूसरों की आशा न करें कि यह जीव उसे सुखी कर देगा, यह पदार्थ सुखी कर देगा । जब भी सुखी होंगे तब अपने ज्ञान से अपने में स्वयं ही सुखी होंगे ।

यत्रैव भासते विश्वं सोहं विश्वं न साकृतिः ।

ज्ञाता द्रष्टा स्वतन्त्रोऽहं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१९-२४॥

अर्थ— जहां ही सारा विश्व अर्थात् पदार्थ प्रतिभासित होता है, वह तो मैं हूं किन्तु मैं विश्व नहीं हूं, और न साकार अथवा प्रतिभासित पदार्थ की उस आकृति रूप हूं, मैं तो जाननेवाला देखनेवाला स्वतन्त्र हूं, सो अपने ही तन्त्र रहता हुआ मैं अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊं ।

मैं क्या हूँ, जहाँ यह सारा विश्व प्रतिभासित होता है वह मैं हूँ। ज्ञान का काम जानना है, थोड़ा जानना नहीं, बस जानना है सब जानना है, क्योंकि आत्मा का स्वभाव जानना है। उस जानने में सीमा नहीं है, कितना जानना उसका तो जानने का स्वभाव है और जानना कोई सापेक्ष नहीं है कि सामने की ही जाने, जान जावो सामने की, ठीक है, किन्तु उसके हिसाब से जानना नहीं है किन्तु यदि कोई वस्तु है उसको जानना है, सत् के हिसाब से जानना है, सामने के हिसाब से जानना नहीं है, १०, २० कोस के हिसाब से जानना भी नहीं है, किन्तु है तो वह सब जानन, चाहे वह क्षेत्रकाल की दूरी के रूप से है चाहे किसी तरह से है, है तो जान लेना। फिर आत्मा के ज्ञान का कितना जानने का स्वभाव है? कितना है? कितना जानने का काम है? सब जो कुछ भी सत् होता है वह सब जानने में है किन्तु यहाँ मुझमें जगत् नहीं है और आत्मा में ज्ञेयाकार बन गया, प्रतिभास बन गया वह भी मैं नहीं, ऐसा मैं शाश्वत हूँ, किन्तु दुःख की बात है कि उस पर दृष्टि नहीं, जहाँ पर सारा विश्व प्रतिभासमान होता है जहाँ सारा विश्व प्रतिभासित होता है वह तो मैं हूँ पर मैं प्रतिभास नहीं, क्योंकि मैं आनन्दनिधि ज्ञान चेतना मात्र हूँ, शक्तिमात्र हूँ। आत्म-समरण करके ज्ञान में ज्ञान समझा तब योगी महासुखी हुए। संसार में रहता तो किसी का कुछ है नहीं, सब मिटेगा, सबका बिछुड़ना होगा, लेकिन जब यह मिलता है उस समय ऐसा समझ लें तो उसका बेड़ा पार है और यदि उल्टा समझ लें और मरण के समय छोड़ना पड़े तो सब बेकार है। जगत् में ठाट बाट हैं, मोह के साधन हैं, पैसा है, धन है, नौकर हैं, चाकर हैं, अच्छे अच्छे महल बने हैं, मगर समझाने वाला विवेक जब भीतर से आता है तो आराम के साधन सब विष लगने लगते हैं। समझने वाला कोई हो तो छोटे बड़े की अपेक्षा ही नहीं। जब भविष्य अच्छा है तो उसका ज्ञान बढ़ेगा, विरति होगी, आत्मदृष्टि जगेगी, भीतर की प्रेरणा ही इस जीव को समझा सकती है।

गुरुजी एक कथा सुनाते थे कि एक बाजार में कुजड़िया थी, भाजी बेचने वाली। बादशाह सामने से निकला। देखा कुजड़िया की लड़की भी वहाँ बैठी थी, बादशाह ने इच्छा की कि शादी हो जाय। वजीर ने कुजड़ी को बहुत समझाया कि बादशाह की ऐसी इच्छा है कि हमारी शादी इस लड़की से हो जाये। कुजड़िया के यहाँ की भड़वे-भड़वे की बोली, सो कुजड़ी यही गाली देकर बोली कि लड़की की शादी वहाँ होगी जहाँ १० बातें गाली की भी सुनाई जावेंगी, बादशाह के यहाँ ऐसी कुछ बोलचाल ही नहीं। दीवान गया, और भी लोग गये सबको गाली सुनाई। एक सिपाही बोला—महाराज, अभी मैं ठीक कर सकता हूँ। उसे क्या चाहिये था? बस, सिपाही गया, कुजड़िया की चोटी पकड़ी और खूब झटकारा। कुजड़िया ने कहा बात क्या है आखिर बताओ तो क्या बात है? बात क्या है, देख यह बात है कि तेरी लड़की की शादी बादशाह से की जायगी, कुजड़ी बोली कि ठीक है, सिपाही बोला कि तू तो पहले करनेको तैयार ही नहीं थी। कहने लगी—भड़वों का भड़वा कोई समझाने वाला नहीं मिला। जैसा मोहियों ने चाहा वैसा किया कर्तव्य करना हो तो विवेक उसको संभाल सकता है। पर अन्य कोई ऐसा जीव नहीं है जो उसकी रक्षा कर सके। विवेक ही रक्षक है। संसार में हम अपनी परिणति को देखते हैं तो अभी हीन हैं, पराधीन हैं। इस परिणतिका क्या है कुछ धन हो गया, क्या मिला? तू तो ऐसा स्वरूप

सुख यहाँ प्रथम भाग

वाला है कि सारा विश्व तुझमें प्रतिभासित है । सर्वदृष्टा बन, इतना बड़ा तू है । मगर इस बड़प्पनको भूल गया, लौकिक इज्जत को क्या समझता? यदि मरकर कीड़े-मकोड़े बन गये तो फिर क्या होगा ? अपने आप कैसा है शुद्ध, सबसे निराला, चेतनामात्र, नामरहित एक आत्मतत्त्व है, एक ऐसे जीवत्वं से उसका जरा सम्बन्ध नहीं । अगर मैं मानूँ कि परिवार मेरा है तो यह भी मूर्खता का नाम है । सब वस्तुओं में से उत्कृष्ट तो निज भगवान् है, परिवार को समझा कि यह मेरे हैं ? साधु इत्यादिको समझा कि मेरे हैं, वहाँ मोह है । जहाँ भगवान्को समझा कि मेरा है वहाँ भी मोह है । केवल एक शुद्ध मैं ज्ञानस्वरूप द्रष्टा हूँ, यहाँ मेरा क्या है ?

मेरा तो मान लिया औरों को कि यह मेरा है । सबसे निराला जो आत्मस्वरूप है उसे तो समझा ही नहीं । किसी को अच्छा खाना मिलता है । कुछ बढ़िया खाना मिला तो क्या हो गया ? इससे बढ़िया काम, तो आत्मस्वरूपके दर्शन हैं, क्योंकि विषयकषायोंसे पूरा तो नहीं पड़ सकता, पूरा तो पड़ेगा आत्म-विश्वास से । पर देखो यह सारा विश्व कितना बड़ा है? ५२६-६/१६ योजन और एक योजन होता है २ हजार कोसका । ऐसे ५२६ योजनका यह भरतक्षेत्र है । यह क्षेत्र जम्बूद्वीप में है यह सब माप इसलिए बता रहे हैं कि यह ध्यान में आ जाय कि इतना बड़ा यह सब लोक है और इसमें एक भी प्रदेश ऐसा नहीं बच जाता है जिसपर यह मैं अनन्तों बार जन्ममरण न कर चुका हो । इस जम्बूद्वीप के चारों ओर समुद्र है । इस तरह समुद्र के बाद द्वीप चलते चले जाते हैं । अरब, खरब, नील, दस अरब, शंख, महाशंख, शंखसे अधिक आजकी भाषा में संख्या नहीं, किन्तु इनसे कई गुणा असंख्य याने जिनकी गिनती नहीं है इतने द्वीप समुद्र हैं । अन्तमें स्वयंभूरमण समुद्र है यह सब मिलकर भी एक राजू नहीं कहलाते । इस तरह ३४३ घन राजू दुनिया है । इतना बड़ा यह सारा विश्व है । इस सारे विश्वके बीच अगर एक कोने में आ गये याने १०-२० मीलकी इस एरिया से परिचित हो गये तो क्या बड़ी बात हो गयी? जगत् में अनन्तानन्त जीव हैं । इन अनन्त आत्माओं में मनुष्य कितने हैं? अनन्तानन्त जीवोंके मुकाबलेमें सारे मनुष्यों की कुछ गिनती नहीं । समुद्र में तो एक बूंदकी फिर भी गिनती है थोड़े से जीवमें अपना आत्म बोध करके अगर कुछ अपने हितका यत्न कर रखा है तब तो तुम्हारी तारीफ है और अपने इस थोड़े समय बाद आयु समाप्त हो जाय और जन्म मरण के झगड़े लगाये रखें इसमें कुछ बुद्धिमानी है क्या? अच्छा बताओ कोई ऐसा समय था कि जिससे पहले समय ही नहीं था । क्या यह हो सकता है कि कोई भविष्यमें ऐसा समय आयेगा कि उसके बाद कोई समय ही न रहे । ऐसे अनन्तकाल के बीच में यह ५० वर्षका समय बीत जाता है । यह ६०, ७०, ८० वर्ष का समय क्या कुछ गिनती में रहता है? फिर थोड़े से समय ५०-६० वर्ष के लिए इतना उत्पात मचाना, गर्व करना, पक्षपात करना बाहरी पदार्थों में झपटते रहना और उसमें अपनेको एकमेक समझना क्या यह विवेक है?

सो भैया ! यह सब मायामय चीज हैं । अपने अन्तर में स्वयं को देखो और शुद्ध ज्ञानमात्र बनो । कैसा भी समय हो अपने भीतर की दृष्टि से भावात्मक निज में उपयोग कर लो स्वरूप में केवल आनन्द ही आनन्द है, दुःख का नाम नहीं है । ऐसा चैतन्यभावात्मकरूप जहाँ कोई लोग कहते हैं — 'ब्रह्म है और

एक है'। यह चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्व जब भावदृष्टि से ही दृष्ट हो तब इसमें अनुपम आनन्द है। हम अपने चैतन्यस्वरूप को देखें वह एक भी नहीं है, अनेक भी नहीं है, वह तो स्वरूप ही स्वरूप है वह अन्य अन्य रूपों में नहीं और एक भी नहीं है। मैं स्वरूपमात्र हूँ ऐसा वह तत्त्व है। जहाँ लोग पुरुष या ब्रह्म या ईश्वर मानकर उपासना करते हैं। ऐसा शुद्ध तत्त्व मैं हूँ, ऐसा मानकर अपनी ओर दृष्टि करे तो मुझे सुख है। जहाँ विश्व प्रतिभासमान होता है वह तो मैं ईश्वर, विश्व मैं नहीं हूँ, वह ज्ञेयाकार भी मैं नहीं हूँ, बाहरी कोई भी चीज सुखके लिए नहीं है। रागमें अन्धा बनकर चाहे कुछ भी कर लें। विवेकसे सोचो तो कौनसा सम्बन्ध सुख है वैभव का या परिवार का सम्बन्ध इस सुख के लिए है कोई भी नहीं है, सब सम्बन्धों में दुःख ही दुःख हैं। मैं ही स्वयं हितरूप हूँ, सहज अनन्त आनन्दमग्न हूँ, सर्वदर्शी हूँ, मैं तो ज्ञानी हूँ, द्रष्टा हूँ, अतः मैं अपने इस ज्ञानस्वरूप से अपने में अपने लिए स्वयं सुखी होऊँ। किसी भी बाहरी पदार्थ में दृष्टि की या अगर किसी की आशा की तो इतने ही में याने वाह्यवस्तुकी आशा करने भरमें ही दुःख हो गया। भैया ! अपने ज्ञानस्वरूप को देख उसमें सुख है। मैं आत्मा ज्ञानस्वभावमात्र हूँ, यह नहीं समझता, इसलिए चमत्कार वाह्यपदार्थ में सब कुछ देखना चाहते हैं जहाँ यह सारा विश्व प्रतिभासित हो वह मैं हूँ, मैं तो उसे जानने वाला हूँ। बस जान लिया, अपने ही को जान लिया, इसमें समस्त ज्ञान आ आयगा। लोक में भी देखो यदि इतना ही कहो कि हम तो जान गये, कोई पूछे क्या जान गये, उत्तर दो। बस जान गये, सब जान गये, हम तो जान गये तो वह इतना समझेगा कि वह क्या क्या जान गया, सब जान गया होगा। आत्माका यह स्वरूप ऐसा महत्वशाली है कि यह ज्ञानमें आ जाय तो सर्वोत्कृष्ट वैभव मिल गया। बस मोह करना मिटा दे कि ज्ञानचक्षु काम में आये। मैं ज्ञानस्वरूपकी आराधना करूँ उसमें ही आनन्द है।

स्वभिन्नम् न हितं किञ्चिदद्वैतोऽहं हिते क्षमः ।

द्वैताश्रिता मुधा बुद्धिः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् १७-२५॥

अर्थ— अपने से भिन्न कुछ भी पदार्थ हितरूप नहीं है मैं अद्वैत अर्थात् केवल, हित कार्यमें समर्थ हूँ, द्वैत अर्थात् अन्य पदार्थ व विकल्पका आश्रय करने वाली बुद्धि निष्फल होती है अतः मैं अपनेमें अपनेलिये अपने आप सुखी होऊँ ।

अपने से भिन्न कोई भी पदार्थ अपनेहितरूप नहीं। एक ही यह मैं अपना सर्वस्व हूँ, अपना हितस्वरूप ही मैं हूँ। मैं ही अपना हित करता हूँ और मैं ही अपना अहित करता हूँ, जहाँ विषय कषायों में लगे वहाँ अपना अहित कर डाला और जहाँ अपने सहज शुद्ध स्वभाव में झुक गये कि अपना हित कर डाला, हित और अहितका उपाय इतना ही मात्र है। यावन्मात्र विषय कषाय परिणमन है वह सब अहित हैं। उन विषयों में छटनी कर ले कोई कि ये हित करने वाले हैं व ये अहित करने वाले हैं वह सब अज्ञान के स्वप्न हैं। जो भी समस्त विषय हैं वे सब हानि करने वाले हैं। आनन्द तो ब्रह्मरुचि में है। प्रभु जैसी आनन्दकी झलक हो और सब व्यर्थकी बात है। धन, वैभव बढ़ गया, चार लोग पूछने लगे इस बात से क्या लाभ है, कुछ आनन्द नहीं होगा, सब जंजाल विपदाएं हैं, शुद्ध ज्ञानसे आनन्दका अनुभव है।

सुख यहाँ प्रथम भाग

सो वह काम उसका स्वभाव है। अन्तर से विकल्प विपदा को हटा दिया जाय तो उसका हित है। इसका सुख आत्मानुभव ही है, इसका सुख किसी अन्य के आधीन नहीं। मैं केवल यह मात्र अद्वैत अपनेमें अपना कार्य करने में समर्थ हूँ। मुक्तिका नाम मिल-जुलकर तो कोई भी काम नहीं होता है, पर फिर भी दुनिया मिल-जुलकर करती चलती दिखती है। लोगों में मोक्षका काम मिलकर होगा क्या ? शांतिका उपाय एक ही अद्वैतभाव है। जब रामचन्द्रजी तपस्या कर रहे थे वह सीताका जीव प्रतीन्द्र आया, इसने तपस्यामें बड़ी बाधा डाली इसलिए कि इन्हें अभी मोक्ष न हो जाय; फिर हम दोनों मिलजुल कर ही मोक्ष जावेंगे। सो भैया ऐसा हो जायगा क्या ? जहां मिलने-जुलने की बात है वहां मोक्ष बन्द है और जहां केवल अपने आपमें अकेला रह जाना है वहां मोक्ष पदार्थ है। मेरी हानि करने वाला मैं ही स्वयं हूँ कोई दूसरा नहीं। परतन्त्रताका तनिक भी अनुभव न करना, स्त्री है तो क्या, बच्चे है तो क्या, बड़ा है तो क्या, परतन्त्रताका अनुभव न करो। हां यह बात जरूरी है कि जब जब व्यवहार लगा है तो प्रेम युक्त विनय व्यवहार करो। एक दूसरे से ठीक बोलना, जहां तक बने अपने आप कष्ट उठाये रहना, दूसरों को कष्ट न देना, जहां तक हो सके दूसरों की सेवा उपकार कर देना, ठीक वचन बोल देना, पर अन्तरंग में दूसरों की अपेक्षा का अनुभव न करना कि मेरी रक्षा करने वाले ये हैं, यह पिता हैं, मेरी रक्षा करने वाले हैं, यह पति है, मेरी रक्षा करने वाले हैं, यह स्त्री है मेरी रक्षा करने वाली है। मेरा भगवान ही मेरी रक्षा करने वाला है। कायरता का अनुभव न करो, नहीं तो यह जीवन दुःखी हो जायेगा।

देखो भैया ! अपनेको मिला भी क्या है ? वह तो प्रगट न्यारी वस्तु है। उसमें सम्बन्ध ही क्या ? दुनियावी दृष्टिसे मन वचन कायका संयोग है। इनका सदुपयोग करो, अपनेको ही पुण्य बना लो, ईमान साफ रखना। फिर कभी कोई गलतीकी बात भी नहीं की हो और यदि लोगों में पक्षपात है जिससे तुम्हारा अपमान हो तो भी मान अपमान क्या मानना ? अहंकार है तो किस बातका है ? तुम्हें तन मिला है, मन मिला है वचन मिला है, धनकी तो कोई बात कहना ही नहीं, धनकी तो विचित्रता है, किसी के पास धन है किसी के पास नहीं, पर तन मन वचन तो सबके पास हैं, वे तो विनाशीक हैं उनका सदुपयोग कर लो। वह जीवन सुखमय होता है जब तक तनमें बल है तब तक जो दूसरोंकी सेवा करे दूसरोंका उपकार करे। और न करे तो इस तनमें बल का संचय हो जायगा क्या और करोगे सेवा तो हानि नहीं हो जायेगी, करोगे तो लाभ होगा। तो वचन मिला बोलनेको तो प्रिय हितकारी वचन बोलो। प्रियवादीको कहीं विपत्ति नहीं और अप्रियवादीको जगह जगह विपत्ति है। एक ऐसा कथानक है कि एक बार दांत और जीभमें झगड़ा हुआ। दांत बोला, तू क्या इठलाती है तू तो अकेली है हम ३२ हैं। तू अकेली है हम ३२ के बीचमें, जिस दिन मनमें आयेगा बस तू खत्म हो जायेगी। बड़ बड़ मत कर, जीभ बोली। ३२ हो तो क्या हुआ हममें तो वह कला है कि हम बल्लीसों को तुड़वा दें। सो देख लो भैया, तुम अप्रिय किसी से बोल दो, फिर तू दो चार मुक्कों में ही बल्लीसी झड़ जायगी। आपको मिला है भिन्न और विनाशीक तन, मन, वचन। सो भैया, तनसे सेवा नहीं करेगा तो तन बेकार है, करेगा तो सफल है, नहीं करेगा तो नहीं। मन है अच्छा, अच्छा विचार कर लो, सोच लो दूसरोंका सबका हित सोच लो। दूसरोंका

बुरा सोचा तो अपना कल्याण करेगा ? दूसरोंका अहित सोचनेसे तेरा मनोबल कम हो जायगा, दुःखी हो जायगा। जीवनमें एक गुण तो यह आना ही चाहिए कि हम तन, मन, वचन को बरबाद न करें। परमार्थसे तो तू अपने दर्शन कर आत्मरूप में रम। अपने बलमें विश्वास करो तो तुम्हें अलौकिक आनंद प्राप्त होगा। वह आनन्द बाहर कहाँ रक्खा है जिनमें तू मोह करता है। सबसे विरक्त रह व्यवहार जरूर हित मित प्रिय वचनका कर। ममतापूर्वक दूसरों की ही सेवा में तू क्या पावेगा ? दूसरों से सुख नहीं होगा यदि ठीक भी बोले तो क्या ? सभी बार ठीक बोल लेंगे परिवार के लोग और यदि दो बार कड़वा कहा तो अच्छाई खत्म हो जायेगी। जैसे कि बढ़िया बढ़िया भोजन बनाकर खिला दो और फिर बादमें कहो कि तुम्हारे बाप, दादाने कभी ऐसा अच्छा खाया है, बस सेवायें की और एक छोटा वचन बोला तो जितनी सेवा होगी वह सब बेकार हो जायेगी।

सो भैया ! आप पहलेसे ही समझते जायें कि यह लड़का जुदा है। इसका पालन-पोषण करने वाला अन्य कोई नहीं है यह अपने पुण्यसे पलता है फिर आपका तो यह मात्र कर्तव्य है कि उसको पालपोस लें, अगर बापसे बढ़कर पुण्यवान् लड़का है तो फिर क्या है भाग्यसे ही तो यह लड़का इतनी सेवायें पाने वाला हुआ। बापसे भी बढ़कर पुण्यवाला लड़का हो क्या यह नहीं हो सकता। कैसा ही हो मगर बच्चेकी जो रक्षा होती रहती है उसमें ऐसा सोचना आसान है—लड़का मेरा है मैंने ही तो पाला है, इसका कुछ ठिकाना लगाया कुछ बेड़ा पार किया। मोह अगर बढ़ जावेगा तो उसका फल घोर दुःख ही है। यदि ज्ञान पहले ही से बना रहेगा तो जीवनमें क्लेश न होगा। आपसे न्यारा कोई अन्य पदार्थ आपको हानि कर दे ऐसा कदापि नहीं हो सकता। प्रत्येक पदार्थ अलग-अलग स्वरूप लिये हुये हैं, अपने अपने ही में-वे परिणति करते हैं, एक बात जरूर है एक भले संगमें रहने से संगमें रहने वाले भी भले हो जाते हैं और बुरे संगमें रहनेसे खराब हो जाते हैं, पर भाग्य सबका न्यारा है। एकत्वका आश्रय ही अद्वैतका आश्रय है, मेरी रक्षा करने वाला मैं ही हो सकता हूँ और वह कैसा है सहज स्वरूप लिए हुए, सहज सत्ता लिए हुए है ऐसा मैं हूँ, स्वयं स्वरूप लिए हुए हूँ, यह है अद्वैत बुद्धि और अपना स्वरूप भूल कर दूसरा ही मेरा सर्वस्व है ऐसी बुद्धि करना सो द्वैतबुद्धि करना है। दूसरोंका आश्रय करके जो विकल्प करने वाली वस्तु है, उससे अहित ही होता है। अन्य की ओर दृष्टि करनेसे विकल्प होते हैं, विकल्पसे मलिनता बढ़ती है।

एक कोई ब्राह्मण का लड़का था, पढ़ लिख गया, उसने कहा हम शादी करेंगे तो अन्धी लड़की के साथ करेंगे, हमारी अन्धी से शादी हो। शादी हो गयी, उस स्त्री ने कहा तुमने ऐसा क्या कर लिया। कुछ दिन बाद में दो तीन लड़के हो गये। बाद में वह अन्धी जिद करने लगी कि मेरी आंख खोल दो, तुम तो मंत्र बहुत जानते हो उसने आंखें खोल दीं। दो तीन वर्ष बादमें एक बच्चा और हो गया। एक दिन उस स्त्री ने कहा कि तुम मेरी आंखें पहिले क्यों नहीं खोलते थे ? पुरुष बोला अच्छा, आज एक काम करना, रोटी मत बनाना लड़के आयें और कहें कि रोटी क्यों नहीं बनायी तो कहना कि तुम्हारे बाप हमें गाली देते हैं, नाराज होते हैं इस कारण हमने रोटी नहीं बनायी, फिर जो वे उत्तर दें मुझे बताना।

सुख यहाँ प्रथम भाग

उसने रोटी नहीं बनायी । बड़ा लड़का आया बोला माता जी आज रोटी नहीं बनायीं, मां बोली कि तुम्हारे बापने गाली दी है इससे रोटी नहीं बनाई । लड़का बोलता है कि आप माता हैं और वे पिता हैं आप लोगों के बीचमें हम क्या कह सकते हैं किन्तु दुःख नहीं सह सकते, हम भूखे नहीं रह सकते हैं ।

दूसरा आया, तीसरा आया, वही बात हुई । चौथा लड़का आया और बोला अम्मा आज रोटी क्यों नहीं बनाई ? मां ने उत्तर दिया कि हमें तुम्हारे बापने गालियां दी हैं, इससे रोटियां नहीं बनाई । तो वह चौथा लड़का बोला कि अम्मा, बाप बाप को हम अभी देख लेंगे, तू तो रोटी बना, हमें तो भूख लगी है । देखो भैया ! आंख खुलने के बाद स्त्री में चतुराई आयी, लोगों को देखा विकल्प बढ़े, विकार बढ़ा, उस ही का फल देखो चौथे लड़के ने क्या कहा ? भैया ! यहां कोई आनन्दका साधन नहीं, आपको जो आनन्द आता है वह लौकिक एवं विनाशीक आनन्द है । आपको चाहे जो समय हो, कुछ भी साधन हो सर्वत्र जो आनन्द मिलता है वह आनन्द स्वयंका ही मिलता है ।

इस वास्ते ऐसा निर्णय करके मेरे वास्ते मैं ही जिम्मेदार हूं, मैं अपने परिणाम को सदा शुद्ध बनाता रहूँ, अपने स्वभावकी दृष्टि कर सकूँ ऐसा भाव बनाए रहें । किसी भी प्राणी का अकल्याण मनमें न आये ऐसा भाव बना लें तो बेड़ा पार है अन्यथा दुःख ही है । भैया मनुष्य कुछ कर तो सकता नहीं, केवल भाव करता है । जैसे बच्चोंकी पंगत होती है तो है क्या उनके पास, कुछ नहीं और कहते हैं पत्ते परस कर कि रोटी खावो, केवल कंकड़ परोस कर कहते हैं गुड़ खावो । अरे जब कल्पना ही करना है तो पत्तोंको रोटी कहकर क्यों परोसते हो, पूड़ी कहकर परोसो, कंकड़को लड्डू कह लो । इसी तरह केवल सोचना ही है तो बढ़िया कल्पना करो । वहां तो भैया ! परमार्थ नहीं, यहां तो परमार्थ है, सत्य है । सो मनुष्य कुछ कर नहीं सकता सिवाय सोचनेके, तब बुरा ही क्यों सोचे, अच्छा सोचे, अपना निधि अपना भगवान् अपना स्वामी जो कुछ है वह मैं ही अपने आप हूँ । इसलिए मैं अपने आप अपनेमें अपने लिए स्वयं दृष्टि करूँ और कष्टमुक्त होऊँ ।

सहजानन्दभावः क्व क्वेमे रागादिवैरिणः ।

सहजानन्दसम्पन्नः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१९-२६॥

अर्थ— कहां तो सहज आनन्दमय परिणाम और कहां ये राग आदि वैरी, मैं तो निश्चयसे स्वाभाविक सहजानन्दसे सम्पन्न हूँ, इसलिये मैं अपनेमें अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ ।

मेरा सहज आनन्दस्वभाव है, उस आनन्दस्वरूप में जो करता हूं वह मैं हूँ । यदि रागमें बैरी व्यभिचारी भाव नहीं उठा तो आनन्दमें कमी नहीं हो सकती, परन्तु जो इनमें किसी विकार में झुक गया वह आकुलित ही होता है । आत्मन्, तू निज आनन्दस्वभाव व विकार परिणति इनका अन्तर तो देख, कहां तो इसका आनन्दस्वभाव है और कहां यह रागद्वेष ? यह राग भाव दुश्मन है । इस जीवका कोई बैरी है तो यही राग है और कोई पदार्थ दुनिया में इस जीवका बैरी नहीं है । अपने आपमें उठा विकार ही बुरा है और कोई बुरा नहीं । अन्य सब तो पदार्थ हैं, चेतन अचेतन पदार्थ हैं । जो वाह्यदृष्टि करता है और बुरा समझता

है उसे दुःख है। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व प्रदेशत्व व अगुरुलघुत्व,—इन ६ गुणों को लिये हुए पदार्थ हैं। वह भी एक वस्तु है। आप कहेंगे कि यह मेरे लिए खिलाफ परिणति कर रहा है। किसी जीवके कषायके अनुकूल अपनी परिणति कर रहा है। किसी जीवको तू अपने से बुरा मत समझ। तेरा बुरा कोई नहीं है दुनियामें, वह तेरे खिलाफ नहीं परिणम रहा। वह अपने कषाय के अनुकूल अपना परिणमन कर रहा। वह तो उसके अपने कषायका पोषण है। कोई तेरा बुरा नहीं है। तेरा बुरा है रागभाव। रागके कारण सर्वज्ञता का स्वभाव ढका हुआ होता है। रागादि वैरीके निमित्तसे ही तो देखो परमार्थस्वभाव ढक गया। इससे बढ़कर बैरी और तेरा कौन हो सकता है? तेरा बुरा है राग। यदि बैरी पर तुझे झुंझलाहट होती है तो तू अपने रागपर झुंझला ! और कोई तेरा दुश्मन नहीं। राग तो इस जीवको बर्बाद करता है। राग एक पर्याय है, पराधीन है। कर्मके उदय से होता है। तेरा स्वयंका कुछ अस्तित्व नहीं, फिर तुझे तेरा ख्याल बर्बाद कर रहा है। अथवा मुझे कौन बर्बाद करता है? मैं ही अपने आपकी कलासे सुखी व दुःखी हूँ।

जरा अपने स्वभाव में और इस पराधीन परिणति में अन्तर तो देख, एक अपने को देख, कुछ ही समय सही ऐसा उपयोग बना ले, इसका सारा सुख, दुःख अपने हाथ है। यह सब कुछ ज्ञान की कलाके आधीन है। जो लोग मानते हैं कि ईश्वर की जो इच्छा होती है कि मैं सृष्टि कर लूँ— इतनी इच्छा करनेसे सब सृष्टि हो जाती है। सृष्टि कैसे बनती है? जगत् में ये एक ईश्वर ही तो है। यह इच्छा करता है कि मैं ऐसा बन जाऊँ तो हो जाता है। आखिर प्रभुका स्वरूप ही तो है। इसकी प्रभुता विकाररूपमें विकसित हो रही है। पर हे भैया ! जरा अपना स्वभाव तो देख। कुछ तो मेहरबानी कर अपनेपर। बहुत कुछ बर्बाद हुआ। बहुत मरा, बहुत पिटा, कुछ तो अपनेपर करुणा कर। इस दुनियामें तू अकेला है, तेरा कोई साथी नहीं। भ्रमजालको भुला दे। तेरा साथी केवल तू ही है। अगर अच्छे ढंगसे चला तो स्वयं तेरा साथी तू है और अगर खराब ढंगसे चला तो तू ही तेरा बुरा है, दूसरा कोई कुछ नहीं करता। अपने ही उस सहज आनन्द को देख। कैसा यह तेरा स्वभाव है और कैसा वह रागद्वेष बैरी है? यह मिट जाता है, तो स्वभाव मिटता नहीं। यह अज्ञानमय है तो स्वभाव ज्ञानमय है। यह स्वभाव तो सदा रहता है और यह विकार सदा नहीं रहता है। जो सदा रहता है, स्वाधीन है, आनन्दसे भरपूर है, ऐसा तू ज्ञानमय है, विकटस्वरूप विराजमान है। ऐसे अपने भगवान् स्वभावको देखना भूल गया और इन झगड़ोंमें रम गया। वहीं वहीं स्वभाव देखता है, वहीं वहीं सारा देखता है। उसीमें बुरा होता है। बुरे विचारसे बाहरी पदार्थ बुरे हैं। जब तेरे लिए तू दुश्मन बनेगा तो तेरे लिए तू बुरा है। इसलिए तू तेरे लिए भला है तो दुनिया में तेरा कोई बुरा नहीं।

एक श्रावक व श्राविकाकी घटना है कि वे स्त्री और पुरुष चले जा रहे थे दूसरे गांवसे। आगे पुरुष था और स्त्री पीछे। पुरुष ४०-५० कदम आगे निकल गया, स्त्री पीछे रह गयी। आगे देखा पुरुष ने कि ३०-४० मोहरें पड़ी हुई हैं। सोचा कि पीछे स्त्री आ रही है, उसका दिल न दुःखी हो जाय। इन मोहरोंमें इसका परिणाम न आ जाय कि मोहरें ले लूँ ऐसा सोचकर मोहरों में धूल डालने लगा। इतने

सुख यहाँ प्रथम भाग

में थोड़ी देर में स्त्री पास पहुँची तो स्त्री ने कहा कि क्या कर रहे हो ? पुरुषने कहा कि ३०-४० मोहरें पड़ी थीं तो मैं उनपर धूल डाल रहा हूँ। स्त्री कहती है कि चलो आगे बढ़े चलो, क्या धूलपर धूल डाल रहे हो? तो पुरुष के परिणाम में यह आया कि मोहरें हैं और स्त्री के परिणाम में यह आया कि यह धूल है परिणाम अपने आपका अपनेमें होता है। परिणाम ही रक्षक है हमारा और रक्षक कोई नहीं। बुरा परिणाम करके करोड़का धन आया। यह परिणाम कुछ नहीं है। अच्छा परिणाम करके अगर कुछ टोटा पड़ता है तो कुछ टोटा नहीं। अच्छे परिणामका फल मिलेगा। परिणाम निष्फल नहीं जाता। भला परिणाम है तो भला फल मिलेगा और बुरा परिणाम है तो-बुरा फल मिलेगा। देखो सबसे ऊँचा परिणाम क्या है? जब सत्य ज्ञात हो जाता है तो विश्वका प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है, अपने अपने अस्तित्व में है। किसी पदार्थ का किसी पदार्थ से कोई कार्य नहीं होता है। प्रत्येक पदार्थ स्वतः परिणमता रहता है। इसमें परिणति करनेका स्वभाव है। किसी का किसी अन्यके साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। ऐसा स्वरूपमें भी मैं एक वस्तु हूँ। मैं स्वतः हूँ और स्वतः परिणमनस्वभाव लिए हुए हूँ। मेरेसे दुनियाका कोई सम्बन्ध नहीं, ऐसा ज्ञानी हूँ मैं फिर जब ऐसा परिणामस्वभाव है तो फिर अब किसको बिगाड़ सकूँ, किसको अपना सकूँ, किसे छोड़ सकूँगा? वस्तु तो सब पृथक्-पृथक् ही हैं। उनका तो किया ही क्या जा सकता है? हाँ विकल्प ही किए जाते हैं। जैसे विकल्प छोड़ना है। अब विकल्प को छोड़ दें तो सर्वसिद्धि है। निर्विकल्पता के साधनमें जो आनन्द आता है वह अनुपम आनन्द है। देखो अभी यहाँ कुछ महिलाएं जाप भी कर रही, कोई पाठ भी पढ़ रही हैं। देखो एक बातका ही विकल्प कर लो और कहीं किसीकी बातमें न लगे। जो अपना है उसमें ध्यान दो। और संयम क्या है? अगर ऐसी इच्छा न करो कि हमारे चारों काम हो ही जायें, पूजा भी हो जाय, पाठ भी हो जाय, नियम भी हो जाय, सुबह के प्रवचनमें भाग भी लें, चारों की चिन्ता न करो। मगर एक ही काम करो कि रागको अपनेसे बाहर करना है। और करनेका काम क्या है? बाहरके काम न करो, तेरा साथी है ही कोई नहीं। तेरा साथी तू ही है। तू भले परिणामसे रहा तो तेरा साथी तू ही है और यदि राग के परिणामसे रहा तो तू ही अपना बैरी है।

बच्चे लोग यह खेल खेलते हैं कि एक घड़ेमें पानी भर दिया और दो खिरनी के डंडे तोड़ लिए एक-एक हाथ बराबरके, दोनों डंडोंको कलम की तरह का बना लिया। उन दोनों डंडोंको जोड़ दिया। उसमें लगा दी मिट्टी। एक डंडा डाल दिया घड़ेमें। बाहरसे जो डंडा दूसरा है उसे मुंहसे जरासा चूस लिया। अब उसमेंसे पानी पिया। अब मुंह दूर कर लिया फिर भी पानी गिरता जायगा। सारा घड़ा खाली हो जायगा। एक बार ऐसा आना चाहिये कि विकल्प छोड़कर, अपने आपके विकृत व विकल्पको छोड़कर अनुभव तो करना चाहिए एक बार जीवनमें। फिर बार बार तू अनुभव करेगा। वही आनन्ददाता है। एक बार ही यदि आत्मीय आनन्द का अनुभव हो गया तो आनन्द के स्मरण में भी सुखी रहेगा। आनन्द की उपेक्षा न कर। उसका ज्ञान ही जीवन भर आनन्द देता रहेगा। पर वह आनन्द कैसे आये? बाहरके सारे पदार्थों में मोह न डालो मोह डालकर नफा नहीं मिलेगा। अच्छे परिवार आदि में लग लो। ज्यादा से ज्यादा १०-२० वर्ष तक होगा क्या? १०-२० वर्ष के बाद प्रथम तो यह बात है कि १०-२०

वर्ष में भी मन नहीं भरेगा । दिनमें कुछ परिणाम है, सुबह कुछ परिणाम है, शामको कुछ परिणाम है । यह तो पराधीन व विकृत चीज है । मोह किया तो संसारमें दुःख ही रहेगा । अब छूटा तो छूटा सही । सो मैं अपनी इन राग, द्वेष बुराइयों से हटकर स्वाभाविकरूप स्वभाव में आकर अपनेमें अपने लिए अपने आप सुखी होऊँ ।

यह निश्चय समझो कि मेरा आनन्द मेरेसे दूर नहीं है । बाहरके किसी भी पदार्थ से आनन्दकी किरण नहीं आती कि जिसमें आनन्द भरा हुआ हो, ऐसा परचैतन्यपदार्थ से भी आनन्द नहीं आता । उनका आनन्द उन्हींमें है, मेरा आनन्द मुझमें है । कोई किसीका नहीं है । जो मोह के समय बड़ा अच्छा लगता है । उस प्रभुकी प्रभुताकी दुर्गति करने वाला तू ही एक है । यदि मोह नहीं है तो यह प्रभु आनन्दमय बनेगा । यदि मोह है तो इस जागत् में जीव नाना संकट सहता रहेगा । निःमोहताकी प्रशंसा में श्री समंतभद्राचार्य स्वामी ने बताया है —

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान् ।

अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ।

निर्मोही गृहस्थ मोक्षमार्ग में स्थित है, पर मोही मुनि मोक्षमार्गस्थ नहीं । इस कारण मोही मुनिसे निर्मोही गृहस्थ अच्छा है । मोह क्या है कि भीतरमें यह भाव आ जाना कि यह चीज मेरी है और मेरा जीवन इनसे ही है । मेरा हित इनसे ही है, मेरा बड़प्पन इन चीजोंसे ही है— ऐसा भाव है, तो यही मोह दुश्मन है, बेरी है । अहो ! यह मोह अंधेरा इतने बड़े जीवोंके है कि पछताने की भी गुञ्जाइश नहीं । इतनी बड़ी विपत्तिमें पड़ा है । यदि यह अंधेरा है कि यह जितने भी पदार्थ हैं इन्हींसे मेरा जीवन है, ये ही मेरे सब कुछ हैं, तो मनुष्य होना व्यर्थ है । यदि परिणाम बुरा है तो मनुष्य होकर नम्बर भी क्यों खोया ? कीड़े मकोड़े ही बनना अच्छा था । मनुष्य बननेकी गिनती तो नहीं आती । २ हज़ार सागरके बीच मनुष्य बनकर २३, २४ बारके मौके तो आते, मगर मनुष्य बन गया तो मनुष्यके कार्य तो करने थे । अगर यह विषयकषाय करना ही था तो कीड़े मकोड़े बनते । एक कहावत है कि ये दिल्ली रहे, १२ वर्ष रहे । क्या काम किया ? भाड़ झोंका । अगर भाड़ झोंकना था तो क्या भाड़ यहीं गांवोंमें न झोंक दिया जाता । विषयकषायोंमें रहे, बुरे कामों में रहे तो मनुष्य होकर क्या किया ? संझी बनकर खोटा बना तो उसकी दुर्गति ज्यादा होती है । अंतरसे देख, हम कैसे आनन्दमय हैं, हम कैसे ज्ञानमात्र हैं ? जो भगवान है वह मैं हूँ इतना पवित्र मैं हूँ । अपने स्वरूपको भूलकर बुराइयों को अपना लिया, इन धोखे वालोंको अपना लिया । भेद करना है तो धन उसका नहीं, दौलत उसकी नहीं । यह तो ऊपरी बात है । भेद यह करो कि रागद्वेष अपने नहीं है । हे राग बैरी अब तू नष्ट होने के लिए ही तो आया है, मिटने के लिए ही तो आया है । ये रागादि आते हैं तो आ जायें, मिट जायें, ये तो सर्वज्ञतामें बाधा डालते हैं । मैं तो सहज आनन्दमय हूँ, इस तरहसे अपनेमें हुए रागादिको आस्तीनका सांप जैसा कहा है । अपनी ही कमीज में आस्तीन में सांप बैठा हुआ है । अपने ही प्रदेश में यह विष विकार जन्मा है । अपने ही प्रदेश में यह रागादि बैठा हुआ है । यह महिमान है । जाने के लिए आया है । महिमान का अर्थ है— महिमा+न याने

सुख यहाँ प्रथम भाग

महिमा नहीं। यह रागद्वेष बुराई महिमान हैं। महिमा तो इस ज्ञानस्वभाव की ही है, रागदिकी महिमा नहीं। मेरा आनन्द मेरे में से ही निकलेगा। अचेतन पदार्थ में मेरा ज्ञान नहीं। इसी तरह अचेतन पदार्थ में आनन्द नहीं। पत्थर पर लड्डू, पेड़ा सब कुछ धरें हों तो क्या आनन्द आयेगा। प्रभु की आराधना करूँ आनन्द मिलेगा, ऐसी कायरता न कर। पर चेतन से भी मेरे में ज्ञान व आनन्द न आयेगा। लड्डू से आनन्द नहीं आयगा। इसी मेरे सबसे ही आनन्द आयगा। आनन्द बाहरसे नहीं आयगा। सो तू उस आनन्दस्वभाव को निहार। बस यही एक उपाय है आनन्द पानेका।

प्रयत्नो वाञ्छया तस्माद्वातो यन्त्रं प्रवर्तते।

स्वे तान्यारोप्य किं दुःखी स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१७॥

अर्थ— इच्छा से प्रयत्न होता है प्रयत्न होनेसे वायु चलती है वायुसे यह शरीर रूपी यंत्र प्रवर्तित होता है, फिर उन सब प्रवर्तनोंको अपनेमें आरोपित करके दुःखी क्यों होऊँ मैं तो अपने में अपने लिए अपने आप सुखी होऊँ।

यह प्राणी केवल अपने भाव करता है। यद्यपि उसकी किसी भी पदार्थ में किसी भी प्रकारकी परिणति नहीं है, लेकिन देखनेमें ऐसा आता है कि हमने तो ऐसा किया है। घर बनाया है, दुकान चलाई, घरसे यहां तक आया हूँ, वचन बोलता हूँ, अनेक तरहके काम करता हूँ, लगाता ऐसा है, किन्तु दुनियां में प्रत्येक जीव केवल परिणाम ही करता है, अपने परिणाम के सिवाय और कुछ नहीं करता है। पर ऐसा लगता क्यों है, ऐसी लोगोंको विपत्ति क्यों है? इसका कारण है— निमित्तनैमित्तिक भाव। जैसे आग के सामने गर्म पानीका बरतन रखा है तो पानी तो स्वयंकी परिणति से गर्म होता है, परन्तु लोगों को ऐसा लगता है कि आगने पानीको गर्म किया है अथवा कोई पुरुष २० हाथ दूर खड़ा हुआ है और लोगोंने देखा कि कोई गाली देता जा रहा है और वह चिढ़ रहा है। लोगोंको ऐसा लगता है कि वह इसको गाली देकर दुःखी कर रहा है, चिढ़ा रहा है, किन्तु ऐसा नहीं है। चिढ़ाने वाला अपने विकल्पसे दुःखी होता है और दूसरा अपनी कषायसे चेष्टा करता है। इसी तरह जीव केवल अपना भाव करता है, भाव के अतिरिक्त और कुछ काम नहीं करता है। जैसे हाथ से कोई चीज उठाकर १० हाथ दूर रखे तो लोगोंको यह भ्रम जरूर हुआ कि यह जीव ही चीज उठाकर रखता है। वास्तव में जीव के द्वारा रखने की कोई चीज ही नहीं। जीव ने तो केवल अपना परिणाम ही किया, भाव बनाया, इच्छा की कि मैं इस चीजको उठाकर रख दूँ और इसी तरह उसके प्रदेश में योग हुआ।

इस तरह आगे जो काम हुआ वह अपने आप हुआ, जीवने तो केवल परिणाम किया, इच्छा की, प्रदेश परिस्पन्द हुआ। उसका निमित्त पाकर जिस शरीरसे उसका सम्बन्ध है उस शरीरका अंग चला और इस चलते हुए अंगके बीचमें चीज भी चलती हुई वहां पहुंचती है। जीव ने तो केवल परिणाम किया। देखने में आता है कि देखो यह जीव कितना काम कर रहा है? कपड़ा नांपा, पैसा बनाया, हिसाब लगाया, पैसा रखा। कहता जाता है कि मैंने १०० रु० कमाये। क्या ऐसा काम बाहर में कुछ ठीक कर लिया है? नहीं। तब तो केवल अपना परिणाम करता है, इस के अतिरिक्त और कुछ नहीं। जैसा भी परिणाम

किया, धन आना चाहिए, धनसे लाभ हुआ। अभी परिणाम किया और उस परिणामको निमित्त पाकर योग हुआ और योगके निमित्तसे देह व्यापक वायु चली, वायुके निमित्तसे अवयव चले, उसके निमित्तसे संयुक्त पदार्थ चला। यह सब होता रहता है, परन्तु यह जीव बाहरी चीजोंसे अपनेको भिन्न समझ जाये कि मैं आत्मा ज्ञानमात्र हूँ, जगत्के किन्हीं भी कामोंको नहीं करता हूँ, केवल परिणामको बनाता हूँ। संपदाकी स्थिति है तो विपत्तिकी स्थिति है अर्थात् सर्वत्र जीव अपना परिणाम बनाता है, केवल अपने भावको करता है और जैसे भावको करता है उसी भावको भोगता है। इसे अतिरिक्त और कुछ काम नहीं करता। मेरा कहीं कुछ सम्बन्ध नहीं, मैं तो अपना स्वरूपमात्र हूँ, एक पदार्थ हूँ और परिणमता रहता हूँ, सबसे निराला हूँ, इसमें कोई परभाव नहीं, मैं एक ज्ञानमात्र और निरंतर, लगातार, हर समय परिणमन कर रहा हूँ— इतना मैं हूँ, ऐसी श्रद्धा, ऐसी प्रतीति अपनेमें रहे तो वहां दुःख का कोई काम नहीं। यह दुःख तो बनाया जाता है, लेना न देना, दुःख होता रहता है।

इस जीवसे उसका क्या सम्बन्ध है? सदा न्यारा - न्यारा है, स्वयं जुदा जुदा है सब अपने आपमें स्वरूप बना है, फिर दूसरे पदार्थों के साथमें क्या सम्बन्ध है इस शरीर को भी भूलकर तू ध्यान अपने आपका कर। जो कुछ है वह ज्ञानमात्र तू है। तू केवल अपने स्वरूपमात्र पर दृष्टि दे। जैसे भोजन खाना हुआ तो इस स्थिति में केवल बात ही खानेके कामकी ही नहीं, वहां तो काम करता है, बनाता है, खाता है, तब उसका सुख मालूम करता है। इसी प्रकार अपने आपके स्वयंके विचारमें केवल बात ही करनेसे काम नहीं चलता। जैसे इनका स्वरूप है, तैसे - तैसे चलनेसे काम चलेगा। लोग कहेंगे, कैसा आदमी है, जो न घरकी फिकर, न पैसे की फिकर, न आगे की फिकर, क्या करता है, कैसा अलफतियाबना हुआ है? जो इस दीर्घ संसार में पड़ा हुआ है उसे वह धन छोड़ना पड़ेगा। जो घर द्वार संभालने में लगा हुआ है, संभालते हुए भी नहीं संभाल पायेगा। जैसे कोई कमीजके पल्लेमें मेंढक भरे तो एक यहांसे उछलता है, एक वहां से उछलता है। इसी प्रकार सम्पत्ति, परिवार आदिसे मोह करके बस नहीं चलता। एक यहांसे भागा, एक वहां से भागा और अपने मोहके झोलेमें उन्हें भरना चाहता है, किन्तु यह काम बननेका है नहीं और अहंकार यह करता है कि मैं संभालने वाला हूँ, मैं पालने पोसने वाला हूँ। इस तरह काम नहीं चलेगा। इन सब राग, मोहकी बातों को छोड़कर असली तत्वमें आना होगा कि पदार्थ अपने आपमें जैसा है वैसा मानें। मैं आत्मा अपने आप कैसा हूँ? मैं अपने आप हूँ, केवल अपने आप पर तू ध्यान दे तो पता चल जायेगा। किसी दूसरे पदार्थका ध्यान न रखो। कोई भी पदार्थ हो, कोई भी वाह्यपदार्थ हो, एक ही का ध्यान दे तो आत्मा के बुरे परिणाम हो जाते हैं।

कोई व्यक्ति यह कहे कि आंख के सामने तिल ही रक्खा है। और कुछ नहीं रक्खा है, आंखके आगे तिल भर कागज रख दो तो सब पहाड़ ढक गया। वहां यह प्रश्न न चलेगा कि उसने तो जरासा ही कागज सामने किया है। अरे देखने में तो यह जरासा तिल बराबरका है, यों उसने पहाड़ ढक दिया। इसी प्रकार आत्माके दर्शन में एक भी पदार्थका मोह हो तो भगवान आत्मा ढक जाता है। कोई कहे कि मैं पदार्थका मोही नहीं हूँ, मेरे यहां केवल एक लल्ला है, और कोई नहीं। केवल लल्ला ही एक मोह

सुख यहाँ प्रथम भाग

में रह गए हैं, जरासी थोड़ी कसर रह गयी है, बाँकी तो सम्यक्त्व है। सो ऐसा नहीं। एक लल्ला हो, चाहे आधा लल्ला हो, मोह है मिथ्यात्व है। जो ढेरके ढेर पर्वतके बराबर मोह रखता है उसका तो कहना ही क्या है ?

जब जगत्में इस आत्माका कुछ नहीं, तो अंतरंग ही ऐसा बना लो कि भीतर से विश्वास और ज्ञान हो ऐसा बनें तो शान्ति का मार्ग मिल जायेगा। एक कहावत है कि रपट पड़े की हर गंगा। बात क्या हुई कि बरसात में सड़क पर था, थोड़ा बरसाती पानी था। एक आदमी जा रहा था उसका पैर रपट गया। लोग उसको देखकर हंसने लगे। जैसे साइकिल से कोई गिरे तो हँसी आ जाती है वैसे ही वह गिर गया। पर उसने लोगों को यह नहीं महसूस हाने दिया कि मैं गिर गया हूँ वह कहने लगा कि हर गंगा, हर गंगा। गंगाजी मानकर अपना धर्म का नाम कर रहा है, कहता है हर गंगा। दुनिया में कुछ नहीं है। तू इसका ख्याल छोड़कर ध्यान में लग जा, क्योंकि इतनी बात मानते हो सब कुछ

मिटगा, चाहे १० साल बाद अथवा २० साल बाद। हम भी चले जायेंगे, आप भी मिट जायेंगे। किसी की आशा ही क्या ? जो ऐसे रपट पड़े कि हर गंगा की तरह पहले ही परसे हट जाओ, फिर तेरा धर्म न छूटेगा। जैसे रपट पड़ा और गिर ही पड़ा तो चतुर व्यक्ति हरगंगा कहकर अपनी मजाक खत्म करवा लेता है। चलो, इसी तरह अपनी दुर्गतिका मजाक धर्म की ओर मुड़कर खत्म करा लें। जब यहाँ कुछ नहीं रहना है, सब मिटने वाला है तो स्वयं ही उपाय दूसरा कर ले। भाई ! यहाँ कुछ रहना ही नहीं है, तू अपने ज्ञानको बना। यह सब रहने का नहीं, यह सब मिटनेका है, यह तेरे पास कुछ नहीं रहेगा। इनसे मोह हटा लो तो अपने में आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है, परमें तेरा कोई तत्व ही नहीं है। जहाँ तुझे तरस आनी चाहिए। तू आनन्दमय आत्मा है। अतः एक विश्वास करके २४ घंटे में १५ मिनट तो सबका ख्याल छोड़, ज्ञानानन्दमय एक आत्माका तो ध्यान कर। सब यदि अलग हो जाते हैं तो अलग हो जायें, परके हिसाब से तेरा कुछ बिगड़ने को तो नहीं है। हमेशा अकेला तो तुम्हें रहना ही है, दुकेला कब तक रहेगा ? हम दुकेले, तिकेले कब तक रहेंगे, चौकेले, दसकेले कब तक रहेंगे ? इस जीवन में क्यों दुःखी होता है। कोई शंका नहीं कर, निःशंक रहना। इस विषय में आत्मानुशासन में कहा है—

जीविताशा धनाशा च येषां तेषां विधिर्विधिः।

किं करोति विधिस्तेषां येषामाशा निराशता ॥

जिसको जीनेकी इच्छा है और धन वैभव की इच्छा है और जिसको निराशा की ही एक आशा है अर्थात् कुछ आशा ही नहीं करता उसका कर्म कर्म नहीं है। ज्यादा से ज्यादा कर्म तो यही हानि कर सकता है कि जीवन न रहे या धन न रहे किन्तु जो इसमें राजी है, जीवन व धनसे विविक्त आत्मतत्त्वमें अपने आपकी भावना बनाए रखते हैं, भाग्य उनका क्या कर लेगा ? भाग्य तो उन्हें ही दुःखी कर सकेगा जिनको जीनेकी इच्छा है, धनकी इच्छा है। भाग्यका ज्यादा से ज्यादा बस इतना ही तो चलता है— मुर्दा हो जाए, जीवन खत्म हो जाए, टोटा पड़ जाए, परन्तु ज्ञानी इन बातों को चेलेंज देते हैं कि ऐसा होता है सो होओ। होगा वही जो होना है, जो ऐसा प्रत्यय बनाए हैं तो आत्माको प्रबल बनानेसे दुःख न होगा।

उतना ही मिलेगा जितना होगा । आत्मा को प्रबल बना लेने से आत्माको क्लेश नहीं रहता । इस कारण तू ऐसी भावनाएं भरकर आत्माको प्रबल बना । मैं एक ज्ञानवान् हूँ, आनन्दमय हूँ, मुझे पहिचानने वाला यहां कोई नहीं है, मैं ऐसा हूँ। कि यहाँ मेरी पहुंच वाला भी कोई नहीं है जो कुछ वहां पर दिखता है वह चलचित्र है, यह सब चलता-फिरता सिनेमा है। वहां तो १ गज चौड़े, २ गज लम्बे परदेमें सिनेमा होता है। यहां इस दुनिया में चलता-फिरता सिनेमा है। केवल परिणतियों की ही बात है, उसमें सार नहीं, उसमें सार नहीं, सार जो तत्व है वह छिपा होता है।

इस तत्व को अंतरमें लगाकर अन्य किसीका ध्यान न कर । 'जिन खोजा तिन पाइया गहरे पानी पैठ' जिन्होंने खोजा उसको भगवान् मिले । जो इस पानी के ऊपर ही देखता रहे उसको कुछ नहीं मिलेगा । ऐसी उदारता करो । तेरी भक्ति के प्रसाद से हे नाथ ! तेरे गुणों के प्रसाद से हे नाथ ! तेरी ऐसी उदारताका परिणाम हो कि इस जगत् के जीव मुझे एक समान दिखें। यह भावना बने कि यह मेरा प्यारा है और यह मेरा दुश्मन है, यह मेरा भला है और यह मेरा बुरा है, ऐसा परिणाम मत बना । क्या कोई मित्र है इस दुनिया में ? कोई नहीं है। ये सब अकेले ही अपनी परिणति से बने हैं । अपनी अपनी कषाय है। उसके अनुकूल इन सबकी चेष्टा है, मेरा यहां कुछ आता जाता नहीं है। तू स्वयं जब बुरा बनता है तो दूसरोंको देखता है । तू जब भीतर से चंगाभंगा रहता है। चंगा कहते हैं सुखीको, शुद्ध आनन्द वालेको और भंगा कहते हैं कल्याण को । जब तू स्वयं चंगाभंगा रहता है तो दूसरोंको मित्र देखता है, भला देखता है, अच्छा देखता है। तू जैसा है वैसा स्वयं बाहर से देखता है। देखेगा तू जैसे तेरी आँखें होंगी, जानेगा तू वह स्वयं जैसा तेरा ज्ञान होगा, तू जैसे बाहर देखता है और प्रसन्न है तो तुझे सब प्रसन्न दीखेगा । देवता है, कैसा शांत है, कैसा धर्मके बारेमें कहता है, धर्मके प्रति प्रेम है, ऐसा आपको बाहरसे देखना होगा और यहां भी कोई ऐसा हो कि बाहरसे ठीक है व अंतरमें नाना चालें रखता है, और देवतासा बना बैठा हो तो उन्हें सब मायाचारी दीखेंगे । साधु पवित्र चित्त वाले जो होंगे उनको सब जगह पवित्रता दीखेगी ।

जैसे हम हैं वैसे ही बाहर देखें। किसी भी जीव को गैर मत समझो, अपना विरोधी मत समझो । हम तो उसे अपने समान ही समझें । यह बहुत ही सम्भव है कि आपका व्यवहार देखकर पवित्र बन जायेंगे । अपने उस कषाय को छोड़ देंगे, पर जो दूसरोंके प्रति बुरे ही बुरे ख्याल करते हैं तो वे तो स्वयं तुरन्त बुरे हो जाते हैं ।

भाई ! परमार्थकी बात तो यह है कि अपने को इस तरह देखें कि मैं केवल परिणाम करने वाला हूँ, अपने परिणाम के अतिरिक्त मैं और कुछ नहीं करता । हर जगह हर समय केवल अपने परिणाम के लिए अपना परिणामन करता हूँ। जब मैंने पहले भी कुछ किया नहीं, न आगे कुछ कर सकूंगा । केवल अपना परिणाम बनाया था, अपना ही परिणाम बनाया है और अपना ही परिणाम बनाता रहूंगा । व्यवहार को भी देखें तो क्या बात है? सबसे आप बोलते हैं, लेकिन यह पता आपको चल जाय कि यह बोलता तो प्रिय है, किन्तु इसका परिणाम बड़ा खोटा है, तो आपको उसके प्रति ईर्ष्या हो जायेगी । और किसी

सुख यहाँ प्रथम भाग

से आपका बिगाड़ भी हो जाये और यह आपको विदित हो जाये कि इसका परिणाम अपने कल्याण के लिए था तो उससे प्रेम बना रहेगा। सब तो अपने परिणाम के आधीन ही खेल बना है, परिणामके सिवाय और कुछ नहीं कर सकता। कोई जो कर्तव्यबुद्धि करेगा, वह संसार के जन्ममरण के चक्कर से नहीं छूट सकेगा। अपने और को यह स्वयं जान जाय कि मैं एक भावात्मक पदार्थ हूँ और मैं केवल अपने परिणामको ही करता हूँ। इतना ही यह कर्तव्य भोक्तृत्व है और इसके अतिरिक्त कुछ नहीं, ऐसा अपने आपको निराला बना ले। आपको यह अनुभव हो जायेगा कि मैं अंतरके सिवाय और कुछ कर ही नहीं कर सकता, तो मैं अपने परिणामको सोचसमझकर चलूँगा। सब कुछ मैं स्वयं हूँ, किसीका किसी से कोई ताल्लुक नहीं है। ऐसा दृष्टा बने तो इससे बढ़कर दुनिया में और कोई वैभव नहीं है।

पङ्गोर्दृष्टिर्यथान्ये न तथा स्वस्यैव नो तनोः ।

दर्शनं मात्रमस्यस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१७-२८॥

अर्थ- जैसे लंगड़े की दृष्टि अधिमें नहीं होती, उसी प्रकार आत्माकी दृष्टि शरीर की नहीं है किन्तु आत्माकी है मैं तो दर्शन मात्र हूँ, इसलिये मैं अपनेमें अपने लिये स्वयं सुखी होऊँ।

लोग कहा करते हैं कि यह मनुष्य देखता है, जानता है, परन्तु मनुष्य से उनका प्रयोजन शरीरसे है। तो यह शरीर न तो देखता है और न जानता है, देखने जाननेकी शक्ति तो जीवमें है। ज्ञानदृष्टि तो जीवमें विद्यमान है, वह शरीर में नहीं पाई जाती है। लेकिन जैसे लंगड़े और अंधे आदमी मिलकर चलनेका काम करते हैं। अर्थात् अंधा तो चलता है और लंगड़ा उसके कंधे पर बैठता है। ऐसा देखकर लोग कहते हैं कि अंधा देखकर चल रहा है, परन्तु उस जगह तो लंगड़ेकी दृष्टि काम कर रही है, अंधेके दृष्टि है ही नहीं। परन्तु इस सम्बन्ध में ऐसा कहा जाता है कि अंधा अपनी दृष्टि से काम कर रहा है। इसी तरह दृष्टि तो जीवके है, पर जीवका इस समय संयोगसम्बन्ध शरीरसे है। इस कारण लोग यह कहते हैं कि यह मनुष्य, यह प्राणी देख रहा है, जान रहा है। परन्तु देखने, जानने वाला तो आत्मा ही है। लंगड़ा तो चल नहीं सकता और अंधा देख नहीं सकता। यदि ये दोनों अलग-अलग रहें तो दोनों बेकार हैं। न लंगड़ेका कोई काम बने और न अंधेका कोई काम बने, दोनों जब मिल जाते हैं तो हरकत करने लगते हैं। इसी तरह आत्मा और शरीर दोनों अलग अलग हो जायें, आत्मा अलग हों व शरीर अलग हो जाये तो दोनों की हरकत बंद हो जाती है। आत्मा बाहरी, दिखावटी क्या करे और शरीर भी क्या करे? आत्मा और शरीर जब दोनों मिलते हैं तो आत्मा भी हरकत करता है और शरीर भी हरकत करता है। ऐसी अवस्था में शरीर की हरकत देखकर दुनियाके लोग जीवको कहा करते हैं कि यह सब जीव कर रहा है, यह सब जीवकी हरकत है। पर जो ज्ञानी जीव है, भेदविज्ञानी जीव हैं वे जीव का काम जीवमें देखते हैं और उनको परस्पर केवल निमित्त मानते हैं। अज्ञान इसीको कहते हैं कि है तो निमित्त और मान ले उसे कर्ता, जैसे कर्मको माना है निमित्त और अज्ञानी मानता है कर्ता। होता क्या है? जीव तो भाव ही करता है, कर्म स्वयं बंधनको प्राप्त होता है। भाई! कर्म तो केवल अपना परिणामन करने वाला है। जैसे जीवके विकार रूपसे होने वाले परिणाम में निमित्त कर्मोदय है, उसको कर्ताके रूप में

देखना यही अज्ञान है। प्रत्येक पदार्थको उनके ही अस्तित्व में देखना, एकसे दूसरेका अपनत्व न समझना, यह ज्ञान है। हमारा अपना अस्तित्व अपनेमें ही है, हमारा गुण पर्याय हममें ही है, इस ज्ञानस्वरूप आत्मा का सर्वस्व आत्मा ही है, इसके बाद बाहर अन्यसे क्या सम्बन्ध है? मैं हूँ और परिणमता रहता हूँ, इतनी ही मेरी सारी दुनिया है। क्यों ऐसा न मानकर बाहरी पदार्थों को अपनेमें समझकर दुखी हो रहा है? जो इस अपने ज्ञानमें आता है वह ही योग्य है, वह ही संसार में पूज्य है। पूज्यता पवित्रता से बनती है। पवित्र केवल रह जाना इसको ही पवित्रता कहते हैं। यह अपना तो केवल जैसा है तैसा चैतन्यस्वरूप मानता रहे, मैं यह ही हूँ, इसके आगे मेरा कोई काम नहीं, न मेरी कोई इच्छा है और न मैं कहीं अन्यत्र जाना चाहता हूँ। जान गया कि मैं यह हूँ और स्वतः परिणमता रहता हूँ। इस तरह अपने ही स्वरूपकी तरह रहें तो आत्मा का फिर कोई काम नहीं है। पर जो नहीं रह सकता है उसकी आत्माका आकुल होना प्राकृतिक बात है। मैं तो एक दर्शनमात्र हूँ, प्रतिभास मात्र हूँ, मैं अपनेमें अपने लिए स्वयं सुखी होऊँ, बस यही एक कर्तव्य है कि वस्तु वस्तु को स्वतंत्र जान लें, इसी में पूर्ण ज्ञान होगा।

लोक में उस ज्ञानकी महत्ता मानी जाती है जो जितना जितना बाहरी चीजको जानता जाये, जितना-जितना बाहरी पदार्थों का आविष्कार करता जाये। पर अध्यात्ममार्ग में ज्ञानकी महत्ता उसमें बताई जाती है कि जितना जितना बाहरी पदार्थों के विकल्प छोड़कर अपनी ओर आता जाये, अपनेको ज्ञानस्वरूप अनुभव करता जाये, ज्ञान सामान्यमात्र अपनेको लक्ष्य में ले। और छोड़ो ज्ञानकी विशेष तरंग, वितर्क विचार। ऐसे सामान्य ज्ञानमें अपने-अपनेको अनुभव कर तो परमार्थमें ज्ञानकी महत्ता है। लोगों में बाहरी चीजोंके अज्ञानकी महिमा है, पर आत्मा ज्ञानसे परमार्थ में आपकी महिमा है। इसमें कोई एक विशेष पदार्थ की बात ही न उठे। यह ज्ञानका ही स्वरूप है अन्य पदार्थ का कुछ नहीं। इसमें महत्व ज्ञानका है, इसमें ज्ञान आयेगा, इसको ही सम्यक्ज्ञान कहते हैं, और इस ही ज्ञानकी ऐसी महिमा है कि जिसके बलपर चिरसंचित कर्म भी भस्म हो जाते हैं। ऐसा जाना है तो बस यह ज्ञान है। विज्ञान ज्ञानके स्वरूपको जाना करे, यही ज्ञान अन्य कुछ जानता है तो उसमें इसका कोई मान नहीं। वह सब क्षणिक और अधूरी बातें हैं, उनमें संसार फन्द बन्द नहीं हो सकते। जन्म मरण की परम्परा उनके अज्ञानसे निवारित नहीं हो सकती है। यही वह ज्ञानस्वरूप है जिसके द्वारा कर्म ध्वस्त हो जाते हैं।

ज्ञानी ज्ञानके स्वरूपको जानता है। ज्ञानका जानना, इसीसे तो आत्मज्ञान हो जाता है और लगन भी मालूम पड़ जाती है। हमें करना क्या है? क्या जानना है? कहाँ जानना है? जाननेका स्वरूप क्या है? जाननेका स्वरूप जानो यह यथार्थज्ञान कहलाता है। बोधिदुर्लभ भावना में आता है कि सब मिलना सरल है। सोना, चांदी सब मिलना सरल है, परन्तु यथार्थ ज्ञान मिलना कठिन है। और सब ज्ञान मिल जाता है, परन्तु जाननेका जानना कठिन है, जानने वाला है वह क्या है? इस शोध का पता नहीं लगता अज्ञानियों को। मूलमें भूलकर देना यह कितनी बड़ी भूल होगी। एक कथा है कि एक दामाद अपनी ससुराल गया। उन दिनों में उसका ससुर बाहर शहरमें गया था, बीमार पड़ा रहता था, बीमारी की चिट्ठियाँ आ रही थीं। कुछ दिनों में चिट्ठी आयी, जब दामाद भी वहाँ था। लोगोंने कहा लालाजी से चिट्ठी

व यहाँ प्रथम भाग

पढ़वा लें। अब लालाजी मनमें पछताने लगे कि अगर हम पढ़े-लिखे होते तो चिट्ठी बांच देते। लाला जी दुःखी होकर बैठ गए, और दुःख के आंसू भी आ गये। सास आदि ने जब रोना-देखा तो सब यह समझे कि उनका ससुर मर गया है, ऐसा समझकर घरके लोग रोने लगे, पड़ोसके लोग आ गए वे भी रोने लगे। गांवमें हल्ला मच गया, जमींदार भी आये, कहा—क्यों रोते हो? वह बोला—कर्म फूट गया है। जमींदार ने पूछा खबर आयी है या कोई चिट्ठी आई है? चिट्ठी मंगाई गयी, उसे पढ़ा तो लिखा था कि हमारी तबियत ठीक है, तीन दिनमें आ रहे हैं। अब जड़का पता किसी ने न लगाया। मूलमें था क्या? उसमें लिखी चीजका तो कुछ पता नहीं लगाया, उसका फल यह अनर्थ हुआ। हम मूलमें क्या है, इसका कुछ पता नहीं लगा। हम ज्ञानमय हैं, सबसे निराले हैं, हम झंझटी नहीं हैं। मैं एक पदार्थ हूँ, इसमें कोई विवाद का काम ही नहीं है; मैं अपने स्वभावको भूल गया और स्वरूपको भूलनेके कारण दुनिया भर में भटकता रहा। जो देखा, जो सुना, बस उसीमें ही मग्न हो गए। श्रोतका पता तो लगावें, मूल में क्या बात, इसका पता लगावें, अपने स्वरूपको जानें तो उसका सारा परिभ्रमण व आश्रव खत्म हो जाये। आश्रव को माना है नाला। नाला के माने है न ला, न लावे इसी को नाला कहते हैं। यह आश्रव क्या है? नाला। ज्ञानके विरुद्ध या ज्ञानके अतिरिक्त जो परिणाम है यह सब आश्रव है, इसे न लायें। आश्रव ही सारे दुःख उत्पन्न करता है। अपने स्वभावको देखो तो एक दुःख नहीं, और अपने स्वभावसे बाहर देखो तो सब झंझट हैं। एक चैतन्यस्वरूप मात्र मैं आत्मा हूँ। तौ यहांपर अपनेमें स्वयं अपने लिए अपने आप सुखी होऊँ। जब कोई बड़ी विपत्ति आवे, कोई झंझट आवे तो इस आपको देखो, सब विपत्ति दूर होगी। क्षणमात्रको २-१ मिनटको यदि सबको भूलकर अपने ही स्वरूपको देखो तो सारे झंझट खत्म हो जायें। गृहस्थी में है तो उसको करना ही पड़ेगा। मगर कभी-कभी तो आत्मस्मरणका आनन्द लूटना ही चाहिए। सब कुछ है मगर अपने स्वरूपकी दृष्टि करके उसका आनन्द तो लूट लो। अब झंझट हैं वह भी चलते हैं तो कभी-कभी तो आत्मस्वरूपकी दृष्टि का आनन्द तो लो। यही आनन्दका उपाय है, यही आपकी साथ देने वाली चीज है, तो अब मैं अपने स्वरूप को देखकर अपनेमें अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

यस्मिन् ज्ञानमये यत्ने मत्तपाषाणवत्क्रमात् ।

विकल्पो नापि तत्रान्ते स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१७-२६॥

अर्थ—जिस ज्ञानमय आत्मा के यत्न होने पर यह जगत् क्रम से उन्मत्तकी तरह तथा पत्थर की तरह निश्चल प्रतिभासमान होता है और उस यत्नके होनेपर अन्तमें विकल्प भी नहीं रहता ऐसे ज्ञानमय आत्मा में अपनेमें अपने लिये स्वयं सुखी होऊँ।

मैं ज्ञानमात्र हूँ, इस स्वरूप की बार-बार भावना करनेपर अपने स्वरूपका अनुभव हो जाता है, बाहरी पदार्थों से विकल्प हट जाता है। ऐसी स्थिति में यह ज्ञानी जीव केवल अपने आपके तत्त्व में ही अनुरागी रहता है, अपने आपके ही आत्मतत्त्वके दर्शन में मस्त रहता है। बाहरी पदार्थों का ख्याल, विकल्प उसका कम हो जाता है। दुनियावी लोग ज्ञानीको देखकर हंसते हैं कि क्या वह पागल हो गया है? न

इसे धनकी सुध है, न इसे बाहरी पदार्थों की सुध है। कैसी कहां चिन्ता लगाये है? ऐसा देखकर दुनिया के लोग उसे पागल कहते हैं कि यह पागल हो गया है। इसे धनकी सुध नहीं है, ज्ञानी अज्ञानीको पागल देखता है कि कैसा पागल हो रहा है कि दुनियामें अपनी कोई वस्तु है तो नहीं और बाह्यका लक्ष्य करके कैसा बरबाद हो रहा है? यहां परमाणुमात्र भी तो अपना नहीं है, फिर भी देखो असार पदार्थों में विकल्प करके मर रहा है। कुछ भी सोच लो, यहां मिलना कुछ नहीं है। इसलिए ज्ञानी अज्ञानीको पागल कहते हैं। अज्ञानी के चित्त में यह बात है कि जो अपना घर संभाले वह चतुर आदमी है और ऐसी बात दूसरे याने ज्ञानी में नहीं देखता है। तब अज्ञानी ज्ञानीको पागल मानता है। ज्ञानी पागल हो गया है। इसे धनकी कोई सुध नहीं है, चित्त कहां चला गया है? सत्संगमें ही प्रायः समय बिताता है। इस तरह अज्ञानी ज्ञानीको पागल देखता है। परन्तु जिन्होंने शुद्धतत्व को पहिचान लिया, जिनका किसी भी परतत्त्वमें भ्रम नहीं, कोई भी शल्य नहीं, ऐसे ज्ञानी अज्ञानीको पागल कहते हैं।

जब सुकौशल स्वामी अपनी बीस-बाईस वर्ष की अवस्था में विरक्त हो गए थे, उनको अनेक लोग पागल कहने वाले होंगे। अभी-अभी शादी हुई, तो घर छोड़कर चल दिए। इस तरह दुनियाके लोग अज्ञानीजन पागल कहने वाले हो गए तो यह ज्ञानी भी लोगों को पागल देखते हैं। क्योंकि जो जैसे स्वभावका है जिनकी जैसी आदत पड़ गयी है उसी तरह वे दूसरेको देखते हैं। यह कल्पना हो जाती कि यह मूर्ख है या पागल है। एक सूमकी घटना है कि एक समय सूम शहर में घूम रहा था, कपड़ा बांट रहा था, दान कर रहा था। जब सूमने यह देखा तो वहां से उदास चित्त घर आ गया। स्त्री कहती है कि क्या पतिदेव कुछ गिर गया या किसीको कुछ दे दिया है।

“क्या तेरा कुछ गिर गया या काहूको दीन।

तिरिया पूछे सूमसे काहे बदन मलीन ।।”

अरे, आपका बदन मलीन क्यों है? तुम्हारा कुछ गिर गया या किसीको कुछ दे दिया है? सूम कहता है कि—

“ना मेरा कुछ गिर गया, ना काहू को दीन ।

देतन देखा और को तासों बदन मलीन ।।”

मैंने किसीको कुछ दे नहीं दिया है और न मेरा कुछ गिर गया है। मैंने दूसरों को देते हुए देख लिया है कि कैसे धन लुटा रहे हैं, कैसा यह सब दे रहे हैं, उसको मैंने देख लिया, इसलिए दुःख है।

दूसरों को लुटाते देखा और दुःखी हुए। उसको तो वह दाता पागल मालूम हुआ, इसकी हैरानी भी सूमको है। सत्यवादीको, सरलको, ध्यानसे चलने वाले को रूखा सूखा भोजन मिला उससे सन्तुष्ट होने वालेको लोग बेवकूफ कहते हैं, क्योंकि लोगोंके प्रति यह भावना है कि वह उतना होशियार है जो दूसरों को धोखा देता है। किसी तरहसे अपना धन बढ़ाए, इज्जत को बढ़ाए तो लोग उसे चतुर कहते हैं। मगर जीवका धन परिणाम है, जिनका परिणाम सही है धन वहीं है। क्योंकि भविष्यमें वहां परिणाम

सुख यहाँ प्रथम भाग

फलेगा। इसलिए भाई परिणाम निर्मल रखनेका जो यत्न है वह सबसे बड़ा व्यवसाय है। यदि दो-चार पैसे आते हैं और परिणाम मलीन होता है तो ऐसा लाभ नहीं, क्योंकि परिणाम अच्छा नहीं बना है। तो क्या बना है? बाहरी बात बनी है। तो यह तो बाहरी चीज है। मुख्य काम तो यह है कि तू निर्मल परिणाम करके ज्ञानमय रहने का यत्न कर। निर्मल परिणाम शुद्ध सहज हो जायेगा। इस ज्ञानमय यत्नके करने में यह ज्ञानी आत्मा पहले तो पागलसा जंचने लगता है। इसी ज्ञानका यत्न अधिक हो जाये तो फिर वह पत्थर सा निश्चल लगने लगता है। जब ज्ञानमय पूर्ण अनुभूति जगती है तो उसका सब कार्य बन्द हो जाता है। सब कुछ अंतरमें मालूम होता है तब वह पाषाणकी तरह निश्चल मालूम देता है और फिर कितने ही विकल्प उसके अन्दर नहीं रहते हैं, ऐसा जो ज्ञानमय अपनेको कर दूँ तो मैं अपनेमें अपने लिए स्वयं सुखी होऊँ।

जब तक अपने स्वरूपका पता न हो तब तक यह अज्ञानमें ऐसा लगता है कि मैं यह काम ठीक कर रहा हूँ और ऐसे ही ये लोग ठीक जानकर ठीक कर रहे हैं, किन्तु अपनी आत्माका भ्रम जब जान लेता है कि यह सब विकार है, उनमें ठीक हो रहा है, यह काम आत्माका नहीं है, आत्मा तो केवल ज्ञानमात्र है, ज्ञानका स्वयं काम करता है, इसके अतिरिक्त आत्माका कोई काम नहीं है। परन्तु जब तक मोहका उदय है तब तक इस जीव को सही-सही जानने की दृष्टि नहीं हो सकती। अकेला तो यह रहता है और कितने विकल्पोंका बंधन बांधे हुए है। आत्माका स्वरूप तो आनन्द ही है, वह अभी तो सुखी है, परन्तु जो विकल्प बना रखा है उससे निरन्तर दुःखी रहता है। बाह्यपदार्थ में क्या करता है? कुछ नहीं। ग्रह भीतर से यह आवाज नहीं उठाता कि मेरा अपनेको कुछ करना है। दूसरोंको निष्कण्टक बनाना है, दूसरेकी उन्नति करना है, दूसरों को साथी बनाना है, दूसरोंको परमात्मा बना देना है। दूसरे दूसरेकी बातें तो आ रही हैं, मुझे भी कुछ करना है ऐसी आवाजें भीतरसे नहीं निकलतीं। मुझे अपना भी कुछ करना है, तो क्या करना है? समस्त बाह्यपदार्थों को भूलकर जैसे मैं यह चेतन मात्र हूँ, ज्ञानमात्र हूँ, तैसे ही अपना लक्ष्य बनाना है। अपनेको मानना है, करनेका काम इतना ही है। मोक्षके लिए, कार्य के लिए, शांति के लिए, कर्म से छूटनेके लिए, उद्धार के लिए यही एक स्वाधीन पुरुषार्थ करना है। दुनिया की उन्नति की बात तो ज्ञानी पुरुष के विपदा जंचती है। इतनी ही बात नहीं, किन्तु इस ज्ञानी को खुदकी ही ऐसी चेष्टाएं पागलपनसी जंचती हैं जो रागादि होते उनके प्रति मैं यह क्या काम कर रहा हूँ, इसका मैं करने वाला कहाँ? ज्ञानीको अपना ही विकार पागलपन का काम दीखता है। मैं तो ज्ञाता, दृष्टा हूँ। जैसा भगवान् कर रहे हैं वैसे ही करने का स्वभाव मेरा है। ये विकार कर्मोदयके होनेपर होते हैं। उन्हें यह अपना माने तो यह पागलपन का काम हुआ। जो मेरे आधीनताकी बात नहीं उसमें मैं लगूँ, यह मेरा अज्ञान है। विकल्प उत्पन्न होता है, यह सब अज्ञानताकी बात है, पागलपन की बात है। यह पागल हो गया है। है तो यह परमात्माकी तरहशुद्ध, मगर प्रकृति के विकार में लगकर यह पागल हो रहा है। ज्ञानसे अपना स्वरूपविकार पागलपनका काम मालूम होता है। यह ज्ञान भीतर देखता है। मैं निश्चल चैतन्यस्वरूपको देखता हूँ। कैसा चैतन्यस्वरूप जो खुद ही मौजूद है और खुद ही प्रकट होता

है। जो यह स्वभावपूर्ण विकसित होता है बस उसे परमात्मा कहते हैं। मुझमें भगवान् स्वरूप आ जाय इसके लिए कुछ बाहरी चीजें लिपटती नहीं। वह खुद ही भगवान् स्वरूप हो जाता है।

जैसे कोई एक पत्थर मूर्ति बनाने के लिए लाया गया। भाई, इसमें श्री रामचन्द्र जी की मूर्ति बनाना है। और देखो यह है एक रामचन्द्रजी की मूर्ति, तपस्वी, ध्यानमग्न, दिगम्बर मुद्रा में। ऐसी ही मूर्ति इस पाषाण में बनानी है। कारीगरों ने व्यक्तमूर्ति व पाषाणको देखा। अब कारीगर क्या करते हैं कि छेनी हथौड़ा लेकर मूर्ति बनाते हैं। तो मूर्ति नहीं बनाते किन्तु मूर्ति को ढकने वाले जो पत्थर हैं उनको अलग करते हैं। आवरण-पाषाण खण्ड अलग हुए कि मूर्ति प्रकट हो जाती है मूर्ति तो उसके अन्दर है ही। केवल मूर्ति को ढकने वाले जो इधर उधर पाषाण हैं उनको अलग करके वह मूर्ति अलग हो जाती है। उसी प्रकार यह परमार्थस्वरूप प्रत्येक जीवमें बसा होता है। यह तो स्वभाव की चीज है। एक क्षणको भी अलग नहीं होती और न अलग होगी। चाहे वह भव्य जीव है चाहे अभव्य जीव, सबमें वह स्वरूप होता है। जीव जीव एक समान हैं। अभव्य नाम इसलिए पड़ा कि उसके परमात्मस्वरूपका आवरण कभी दूर नहीं होता, पर ऐसा नहीं है कि अभव्य जीव में परमात्मस्वरूप ही न हो। सब जीवोंमें परमात्मस्वरूप है। उसका आवरण करने वाले ये विषयकषाय हैं। इस आवरणको जो लोग दूर कर सकते हैं उनका परमात्मस्वरूप प्रकट हो जाएगा। परमात्मस्वरूप कहीं बाहरसे लेकर नहीं बनाया है। यह आवरण मोह, रागद्वेषका है। इसके दूर करनेका उपाय है, अपने ज्ञानस्वरूप की भावना करना। मैं आत्मा शुद्ध ज्ञानस्वरूप हूँ, ज्ञानमात्र हूँ। आवरण रहते हुए भी विषयकषाय भावसे परे हूँ। यही इसका स्वभाव है। जरा भी इसके अन्दर विकार नहीं है। यह ज्ञानस्वरूप है और ज्ञान ही इसका कार्य है। इसलिए सर्वत्र ज्ञान ही ज्ञान है। मैं ज्ञानमात्र हूँ, अपने को दुःख, द्वेष, मोह आदि से दूर करने का यही उपाय है। अपनेको ज्ञानमय ही देखना। स्वभाव उसका कैसा है? ज्ञानमय। यह आत्मा कर क्या सकता है? ज्ञानमात्र। जिसका सब कुछ ज्ञानभाव है ऐसे स्वभाव की ओर दृष्टि करना मोह को दूर करने का उपाय है। रागको दूर करना उसका स्वभाव है। यह राग कर्मोदय से आता है। जब कर्मोदय रहता है तो राग आता है कर्मका उदय आयेगा तो राग आयेगा। रागका संबन्ध कर्मोदय से है राग उसकी चीज नहीं, राग उसका स्वभाव नहीं। रागरहित रहना मेरा स्वभाव है। रागरहित अपनेको अलग कर देने का उपाय है, सो यह कहते हैं कि ज्ञानमयताके यत्न करनेमें यह जीव पहले तो अज्ञानियों के बीच पागलपन जानता है और पीछे पाषाणोंकी तरह निश्चल जंचता है, वह बेकार काम जंचता है अथवा उस ज्ञानीको भी अपना सब विकार पागलपन का है और ये पागलपन की चेष्टाएं हैं और जब भीतर प्रवेश करता है तो उस ज्ञानमें उसका भाव जम जाता है। और अपनेको पाषाण की तरह स्थिर देखने लगता है। इसी तरह जिस ज्ञानकी खुदकी चेष्टाएं पागलपन की जंचती हैं और खुदका स्वरूप पत्थर की तरह निश्चल जंचता है वह ऐसा ही सब जीवोंमें देखता है जीवोंकी विकार चेष्टाएं पागलपन की चेष्टाएं जंचती हैं। अज्ञानी सोचता है। कि ये सब भगवान् स्वरूप हैं किन्तु इनके अन्दर कैसी चेष्टाएं हो रही हैं, कैसा स्वभाव है? परिणामके भीतर का स्वभाव देखता है तो निश्चल देखता है। यह तो सब व्यापकस्वरूप हैं यह क्या है? क्या कर रहा है?

वाह्य बात देखी जाती है तो वह पागलपन की चेष्टा जंचती है। भीतरी स्वरूप देखा जाता तो वहाँ निश्चलता जंचती है। खैर इतने चिंतनके बाद में विकल्प शांत हो जाते हैं। और पूर्ण शांतिमय हो जाता है। इन सब अपने भीतरके मर्मों के समझनेके फल में अपना क्या कर्तव्य है कि मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, ज्ञानस्वरूप मेरा काम है। जान लूँ कि मेरा स्वरूप ही इतना है। किसी वस्तुको अपनी नहीं मानो और अपने ही ज्ञानमें, आत्मा में मोह कर मैं अपने में स्वयं सुखी होऊँ।

सुखी होनेके लिए मैं अपने आपके स्वरूप में झुकता हूँ, उस झुकने में आपदाएं समाप्त हो जाती हैं। एक दृष्टि दो कि दो आदमी हैं, उनको एक पहाड़में घूमना है और पहाड़पर कांटे बिछे हुए हैं। तो एक कहता है कि सारे पहाड़ पर चमड़ा बिछाकर मैं घूमूंगा। तो बताओ। पहाड़में अपने ही पैरमें जूते पहिन लें और घूमें या चमड़ेसे सारे पहाड़को ढक दें और घूमें। इन दो आशय वालोंमें कौन आदमी सफल हो सकता है? इसी प्रकार एक कोई आदमी यह सोचता है कि मैं आत्माकी ओर दृष्टि डालूँ व कोई सोचता है कि इन पदार्थों को अपना बनालूँ फिर आराम से रहूँगा, कोई दुःखका काम न रहेगा और पहिलेका यह सोचना है कि ये दुनिया के पदार्थ मेरे आधीन हैं, इनमें कुछ अस्तित्व नहीं। इन्हें मैं कुछ नहीं करना चाहता हूँ। इस कारण परपदार्थों से मुख मोड़ो कि मैं अपने स्वरूप में रहूँगा। अब बताओं कि सफल कौन हो सकता है? सफल वही हो सकता है। ज्ञानमात्र अपनेको बनाए रखना ही शान्ति का उपाय है। चैतन्यमात्र, मूर्ति स्वरूप अपनेको देखो, रागरहित अपनेको अनुभव करो केवल जाननेका तेरा अधिकार है। तो दुनियाको जानते हुए मरना यही शांतिका मार्ग है।

आत्मजागरणं यत्र चाभावे लोकजागृतिः।

अहं स ज्ञानमात्रोऽस्मि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥१९-३०॥

अर्थ— जिसके होने पर आत्मजागरण होता है और अभाव होने पर लोक व्यवहार में जागरण होता है वह ज्ञानमात्र मैं हूँ, सो अपनेमे अपनेलिये स्वयं सुखी होऊँ।

जिसके दर्शन होने पर आत्मजागरण रहता है और जहां दृष्टि नहीं रहने पर लोकमें जागरण रहता है वह ज्ञानमात्र मैं हूँ। मैं ज्ञानमात्र हूँ— ऐसी दृष्टि रखने पर आत्मामें जागृति रहती है, परम सन्तोष होता है और जिस अपने ज्ञानमात्र की दृष्टि समाप्त होनेपर वह अपने व्यवहारमें रहता है, जो बाहरकी ओर इस मायाके तत्व में सार दीखता है, वह ज्ञानमात्र मैं हूँ। ज्ञानमात्र आत्मा में जैसा है वैसी ही दृष्टि डालते रहना, यह चारित्र है। ज्ञानमात्र मैं हूँ— इस प्रकार प्रयोग बनाए रखना यह परम चारित्र है। अन्य जो चारित्र कहे जाते हैं, नीति, अणुव्रत, वह इस चारित्र के समीप ले जानेके निमित्त कारण हैं। इस कारण उन्हें चारित्र कहा जाता है। यहां पर चारित्र का सम्बन्ध आत्माके साथ है। जो शारीरिक कार्य है, मानसिक विकल्प है, वाचनिक चेष्टाएं हैं, वे पौद्गलिक चेष्टाएं हैं, उनमें चारित्र नहीं है। चारित्र जैसी आत्मा है वैसा ही बनाया जाय, इसको चारित्र कहते हैं। अपना स्वरूप सुहा जाय, अपने स्वरूपकी ओर आकर्षित हो जाय, झुक जाय, स्वरूप ही में लग जाय इसको कहते हैं चारित्र, उपासना, पूजा, अराधना, संयम यही सब। आत्माके स्वभाव में रुचि हो उसकी ओर ही झुकना, यह सब चारित्र है। बाहरी बातें

तो थोड़े साधक की ओर हैं, कि नियम अथवा यह बाहरी पूजा, भक्ति जो बनी रहती है तो इतना अन्तरमें लाभ है कि बाहर जो विषयकषाय हैं उनमें झुकनेका मौका नहीं रहता इसलिए कारण है। जिस तरह कर्मका क्षय होता है वह तो आत्म स्वरूप का साधन ही है। आत्माके स्वरूपके समीप होना, आत्मस्वरूपका उपयोग होना और आत्मस्वरूपमें स्वयं रमते रहना, यह कर्मों के क्षयका कारण है। सो जब उपयोग आत्माकी ओर रहता है तब आत्मा में जागरण रहता है और जब यह उपयोग बाहरी पदार्थों में चला जाता है तो वहां माया में जागरण रहता है, परमार्थका जागरण खत्म हो जाता है। आनन्द आत्मजागरणमें है। दुनिया के प्रायः सब जीव उससे अत्यन्त दूर हैं। इस जीवके साथ जो प्रकृति लगी है उसका परिणाम यह सब दुःख है। स्वभावसे तो जीव आनन्द वाला है, अतः ज्यों ज्यों बाह्यसे निवृत्ति रहे वैसा परिणाम बनता रहे सो ज्ञान कर।

हे आत्मन् तू किसको अपनी कला दिखाना चाहता है। जो ये दृश्यमान जीव हैं ये सब दुःखी प्राणी हैं, असहाय प्राणी हैं। इन्हें कुछ दिखाकर क्या लाभ पावेगा? मोह संसार में रूलाने वाला है, विपत्ति के सम्बन्धमें खोटी आदत वाला है। जितना खोटापन हो सकता है वह सब संसारी जीवमें पाया जाता है। ऐसे मलीन, खोटे, बिगड़े जगत्के जीवों में हम कुछ अपनी बात दिखाकर लाभ उठावेंगे? ऐसा उनको देखनेसे कोई लाभ नहीं। वे सब अत्यन्त दुःखी हैं, उनसे मेरी कोई आशा नहीं। वे मेरी किसी परिणति के स्वामी नहीं, ऐसा विचारकर सब जीवोंसे उपेक्षा भाव आना चाहिए और वस्तुओं का स्वरूप ऐसा है कि प्रत्येक पदार्थ अपने आपसे ही रहता है। उसका सर्वस्व अपने आपमें ही है।

मैं ही स्वयं अपने आप अपने में रहता हूँ, अपना जिम्मेदार हूँ, अपना ही परिणाम करने वाला हूँ, अपनेमें ही सदा रहूंगा, इसका अपनेसे ही पूरा पड़ेगा, ऐसा अपने आपको जान, अपने आपमें झुक। ऐसा होने पर आत्मामें जागृति होती है, आत्मामें अनुभव जगता है, स्फुरण होता है। इस स्वरूपमें शक्ति है कि कर्मों का क्षय हो जाय। तो अपने आप इस रूपमें बार-बार धारण कर कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, मैं जाननमात्र हूँ। जो जाननेका स्वरूप है वह मैं हूँ। अपनेको ही अपने आपमें मान। इतना ही मेरा विकार है, कर्मोदय का विकार है। जो कुछ दुनियामें दीखता है वह सुन्दर दीखता है। जैसे बाहरके दृश्य, आनन्दमय दृश्य, जंगलके दृश्य, बाग बगीचोंके दृश्य, जहां देखकर कहते हैं कि यह देखो प्रकृति की सुन्दरता है। वह प्रकृति है क्या, वह प्रकृति कर्म है। एकसौ अड़तालीस प्रकृति का यह कार्य है। बाग बगीचों में क्या अच्छे फूल हैं, अच्छी पल्लियां हैं, अच्छे पेड़ हैं, सुगन्धित हैं? यह क्या है? प्रकृति के उदय से, कर्मके उदयसे होने वाली अवस्था है। उसीको प्रकृतिकी सुन्दरता कहते हैं। प्रकृति की चीजें छल धोखा व बरबाद करने वाली वस्तुयें हैं। यह सब उसी की ही माया है और है क्या? जो अच्छी चीज है वह सताए जाने के लिए है। जंगलमें ऐसे भी फूल हैं जिनमें न रूप है, न गंध है, उन्हें कोई नहीं तोड़ता है। गुलाबके फूल, बेला के फूल, चम्पाके फूल, जो सुगन्ध देते हैं, देखनेमें अच्छे लगते हैं वे तोड़े जाते हैं। जो प्रकृति सुन्दरता की बातें हैं वे स्वभावको छोड़े हैं। ऐसी ही बात पुरुषों की है। ये जगत् के प्राणी स्वयं दुःखी हैं। स्वभाव इत्यादि के लिए जो स्वयं असहाय हैं, संसारमें भटकने वाले हैं उनमें तू क्यों झुकता है? तू स्वयं ही ज्ञानानन्दमय

सुख यहाँ प्रथम भाग

है। इतना तो यहां भी देखा जाता है कि बड़े आदमी से दोस्ती करनेसे गरीब को फायदा कुछ नहीं रहता है। खर्चा भी गरीबका हो, समय भी उसका जाय, गरीब कभी सभामें आदर नहीं पावेगा। बड़े की मित्रता में छोटेको लाभ नहीं। फिर दुनिया के बड़े बड़े पदार्थों की ओर झुकने में जो दुनिया में बड़े माने जाते हैं। जैसे धन, वैभव, सोना, चांदी, इज्जत इनकी आशामें, बड़ों की दोस्तीमें अथवा बड़े बननेके सम्बन्ध में जीवको सुख नहीं मिलेगा। सुख तो केवल आत्मज्ञानसे मिलेगा। सही सवाल एक प्रकारसे हल होता है। गलत सवाल दसों प्रकारसे हल होते हैं। एक सवाल बोला १० बच्चोंके बीच में। तो जो सवाल सही होंगे वह एक प्रकारके होंगे और जो गलत होंगे वह दसों प्रकार के होंगे। उनमें दसों प्रकारकी गलतियां होंगी। इसी प्रकार आनन्दका एक उपाय है, दूसरा नहीं। आनन्द के गलत उपाय तो हजारों हैं। खा लो, पी लो, मांस खालो, बड़ोंसे दोस्ती कर लो, मदिरा पी लो, कितने ही तरहके काम हैं। यह करना है, वह करना है, सर्विस करना है, किन्तु आनन्द का जरा उपाय तो बताओ। आनन्दका सही उपाय केवल एक है। कोई कहे यह सब किए बिना तो गुजर नहीं चलती। हां भैया ! ठीक कहते हो, गुजारा नहीं चलता। पर ऐसे ही पड़े रहना क्या सदा के लिए ठीक है? यह तो अपने अधिकारकी ही बात नहीं। जो मनुष्य होता है वह स्थावर हो जाय तो कुछ बताओ क्या करेगा ? यहांकी तो सब बातें यहां ही रह जाती हैं। इसी तरह विकल्प करनेसे लाभ नहीं है। और जैसा ही परिणाम निर्मल होगा वैसा ही फल अच्छा मिलेगा और जैसा ही परिणाम खराब होगा वैसा ही फल बुरा मिलेगा।

परमात्मा के दर्शन न्याय से होते हैं। परमात्मा जैसा है उस ही स्वरूप में दर्शन होगा, और रूपमें नहीं होगा। परमात्मा ज्ञायकस्वरूपमें है, ज्ञानमात्र है। वह ज्ञानमात्र है तो ज्ञानमात्रके रूपमें ही तो दर्शन होंगे कि हाथ पैरके रूपमें दर्शन होंगे? ज्ञानमात्र अपने आपका अनुभव है वहां भगवान्का दर्शन है। क्योंकि भगवान् तो ज्ञानमात्र है। जैसे ज्ञानमात्रके दर्शन में आत्माका जागरण है वैसा ज्ञानमात्र मैं हूँ। मैं परमात्मत्वके उपयोग बनाकर उसके दर्शन कर लूँ। परमात्मा ज्ञानानन्दका पिंड है। मैं यदि लम्बे चौड़े आकारमें ताकूँ तो परमात्माके दर्शन नहीं होंगे। मैं परमात्माको किसी भी प्रकार की अवस्थामें देखूँ तो परमात्माका दर्शन नहीं होगा जबकि केवल चैतन्यस्वरूप, प्रतिभासमात्र, ज्ञानमात्र, ज्ञानस्वरूप अमूर्त चैतन्यभावस्वरूपके दर्शन करूँ तो परमात्माके प्रगट दर्शन हों स्पष्ट दर्शन हों, उस परमात्माकी भेंटसे जो आनन्द मिलता है उस आनन्द में ही सामर्थ्य है कि भव-भव के संचित कर्म भी स्वयमेव नष्ट हो जाते हैं पर देखने को सामर्थ्य चाहिए तो वह सामर्थ्य परपदार्थों से हटकर अपने में आने-से-बढ़ती है और परपदार्थों में लगने से वह सामर्थ्य नष्ट होती है। इस लिए अगर प्रभुताको रखना है और प्रभुताको बढ़ाना है तो उसका एक उपाय है कि बाहरी पदार्थों से उपयोग हटावे और अपने आपको ज्ञाता दृष्टा बनावे, स्वरूपमें रुचि लगावे। इस आत्माके दर्शन होने में जागरण रहता है, आश्वासन रहता है, आनन्द बढ़ता है और यदि उस ज्ञानमात्र आत्मा का अनुभव नहीं है तो लोकव्यवहार में लगा रहना पड़ता है, बड़ा कष्ट होता है। देखो परको जानना तो सरल है किन्तु कष्ट बहुत है। मान लिया कि यह उसका पुत्र है, यह उसका घर है, यह उसके बच्चे हैं, पर जो इस तरह बरबादी मिलती है वह तो कष्ट है। गुरु बनाना तो सरल है पर दक्षिणा देना

सरल नहीं है। यह पदार्थ मेरे हैं— इतना मनमें विकल्प कर लेना तो सरल है किन्तु इतना माननेके फलमें क्या बीतती है सो देख लो। बाहरी पदार्थों में जितना लगा रहेगा उतनी ही सामर्थ्य इसकी घटती चली जायगी। और बाहरी पदार्थों से जितना अलग हो जायगा उतना ही इस आत्माका बल बढ़ता चला जायेगा। मोही का बल घटता है और निर्मोही बल बढ़ता है। मोह मदिराके क्या परिणाम हैं? सो जगत्में देख लो। एक आदमी मदिरा वाले के यहां गया। बोला बढ़िया शराब दो। उससे कहा— यह ले लो। यह बहुत अच्छी है। कहता है कि सबसे अच्छी दो। उसने कहा— यह ले लो, यह सबसे अच्छी है। इसका प्रमाण क्या? इसका प्रमाण इन १०-२० आदमियोंको देख लो। दुकानमें १०-२० आदमी मदिरा पीने वाले बेहोश पड़े थे। इसका ख्याल और प्रमाण कर लो कि यह मदिरा ऐसी है। इस दुनियामें भी मोहमदिरा ऐसी विकट है इस मोहमदिराका नशा देखना है तो देख लो। इन पेड़ बगैरा स्थावरोंको, कीड़े मकोड़े को, छोटा कहलाने वालोंको, सबको देख लो। यह मोहमदिराका फल है। जगत्में जितनी तरहके जीव हैं, ये बेचारे नाना प्रकारके जो जीव बने हैं तो यह सब उसीका तो फल है। बोलो मोहकी मदिरा चाहिए। यह भव पाया है तो यह सब मोहका फन्दा है यदि इसमें फंसना न हो तो मोहसे अलग रहिए। और फिर व्रत, नियम, भगवान् की पूजा आदिकी क्या जरूरत है? परन्तु मोहका फल यह होता है कि स्थावर बन गया, कीड़े मकोड़े बन गया, चूहा बिल्ली बन गया। किसे बड़ा कहा जाय? ऐसा ही तो मनुष्य बना हुआ है, इसीसे ही कष्ट हो रहे हैं। जिनवाणी सरस्वतीका प्रसाद है जो कुछ समय कष्टरहित व्यतीत हो रहा है यदि यह नहीं है तो रात-दिन क्लेश हैं। कहीं स्त्री से कलह है, कहीं पड़ोसियोंसे कलह है तो कहीं दोस्तोंसे कलह है। कितनी ही प्रकार की चिन्ताएं हैं। तो कौन बड़ा है? बड़ा वह है जिसने अपने परमात्मस्वरूपके दर्शन किये हैं और जिसके प्रसादसे यह जीव आनन्दमग्न होता है। किसी जीवकी अपनेसे बड़ी अपनी आत्मा ही मिलेगी। किसी जीवकी शरण अपनेको अपनी आत्मामें ही मिलेगी, दूसरोंका कोई सहारा नहीं।

एक स्त्री पुरुष थे। पुरुष कुछ व्यसनमें लग गया था। स्त्रीने बहुत समझाया, परन्तु न माना। स्त्री बोली कि तुम केवल एक ही काम यह कर लो और कुछ न कीजियेगा। एक मूर्ति दी, बोली कि यह भगवान्की मूर्ति है इसकी रोज पूजा कर लिया करो। पूजा करनेमें २० मिनट लगेंगे तथा पूजा करके केवल २४ घंटे को व्यसन का त्याग कर दिया करो। पुरुष ने स्वीकार कर लिया। वह रोज पूजा करे व २४ घंटे को व्यसनका त्याग कर दे। १० दिन गुजर गए। एक दिन यह देखा कि एक चूहा आ गया। जो भगवान्की मूर्ति पर से चावल ले गया। उसने देखा कि मूर्ति से तो चूहा बड़ा है। तो चूहेको पूजने लगा। चूहेको जब बिल्लीने डराया तो बिल्लीको बड़ा मानने लगा। बिल्लीको जब कुत्ते ने डराया तो कुत्तेको बड़ा मानने लगा और यह जानने लगा कि इससे बढ़कर कुछ नहीं है, उसकी पूजा करने लगा। एक दिन स्त्री रोटी बना रही थी, रसोईमें कुत्ता घुस गया। स्त्रीने एक बेलन मारा। कुत्ता खूब चिल्लाकर भाग गया। उसने सोचा कि कुत्तेसे स्त्री बड़ी है। स्त्रीकी पूजा करने लगा। एक दिन आप भोजन करने बैठा। दालमें नमक ज्यादा था। बोला— नमक ज्यादा क्यों पड़ गया। स्त्री बोली— हाथ ही है ज्यादा पड़ गया तो क्या किया जावे? एक सेर पानी दालमें डाल दो। उसने स्त्री के एक

सुख यहाँ प्रथम भाग

तमाचा मारा । स्त्री रोने लगी अब उसने समझा कि मैं सबसे बड़ा हूँ। मैं बेकारमें दुनियामें भटकता रहा । मैं आप ही अपने बलसे दुनियाका काम निकाल सकूंगा । अतः जिस ज्ञानमात्र आत्मापर दृष्टि होनेपर यह आत्मा जगती है और जिसपर दृष्टि नहीं रहती तो लोकव्यवहारमें जागरण रहता है। वह मैं आत्मा ज्ञानमात्र हूँ। मैं आत्मा जो कि 'ज्ञानमात्र हूँ' उसकी उपासना कर अपनेमें अपने लिए अपने आप सुखी होऊँ।

अहंस्वं जन्ममृत्यादि सुखं दुःखं नयाम्यहम्।

मुक्तौ नेता गुरुस्तस्मात् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१३१॥

अर्थ— मैं अपनेको जन्म मरण आदि सुख दुःख को प्राप्त कराता हूँ और मुक्ति में ले जानेवाला भी मैं हूँ, इस कारण मैं ही अपना गुरु हूँ सो अब अपनेमें अपने लिये स्वयं सुखी होऊँ ।

मेरा जोकुछ होता है उसका मैं ही जिम्मेदार हूँ। और अब तक जो कुछ मेरा हुआ है उसका जिम्मेदार मैं था और भविष्य में भी जो कुछ होगा उसका भी जिम्मेदार मैं ही रहूँगा । जो भी जन्म, मरण, सुख, दुःख इत्यादि मुझे सताया करते हैं उनका करने वाला मैं ही हूँ । तभी तो अन्य लोग भी ऐसा कहते हैं कि भगवानकी लीला विचित्र है। भगवान की जो इच्छा होती है। उसके अनुकूल सारे काम अपने आप बन जाते हैं - एक बात । दूसरी बात यह है कि जब चर्चा आती है कि भाई वह ईश्वर उपादानकर्ता है कि निमित्तकर्ता है । यदि उपादानकर्ता है तो जैसा चेतन ईश्वर है तैसी ही सृष्टि होनी चाहिए, फिर अचेतन सृष्टि भी क्यों होती है? यदि ईश्वर निमित्तकर्ता है तो यह सब उपादान पहलेसे ही हाजिर हैं । इन सब पदार्थों में ईश्वरने भूलसे क्या किया ? जैसे ये दो प्रश्न ईश्वरके लिए कहे जाते हैं कि ईश्वर उपादानकर्ता है या निमित्तकर्ता है? तो उसका उत्तर होता है कि वह उपादानकर्ता भी है और निमित्तकर्ता भी है। यह बात तो यहां रखो। इस निजनाथकी ओर आवो। यह तो सारी सृष्टिके लिए जन्ममरण करना, सुख दुःख करना, शरीर धारण करना, सबके यह उपादानकर्ता भी है। कितनी ही सृष्टियां इसके अन्दर ऐसी हैं जैसे कषाय की सृष्टि, योग की सृष्टि, ज्ञानकी सृष्टि, दर्शन, लेश्या। कितनी ही सृष्टियां ऐसी हैं जिनका उपादानकर्ता यह प्रभु ही है याने जीव ही है, और कितनी ही सृष्टियां ऐसी हैं कि जिनका निमित्तकर्ता यह जीव उपादान नहीं है। पर जीवके निमित्तसे पुद्गल उपादानमें होते हैं।

इसकी सृष्टिका यह जीव निमित्तकर्ता है और उपादानकर्ता भी है। हम जन्म मरण, सुख दुःख आदि जो करते हैं उन सबमें ले जाने वाला मैं ही तो हूँ, यह दूसरी बात है। अब पहली बात पर आवो। जैसे ईश्वर वादी कहते हैं कि ईश्वरकी इच्छा हो तो तुरन्त काम हो जाय और उसें कुछ नहीं करना पड़ता है। यही बात देखो कि जो इस प्रकार के परिणाम करता है तो सारे काम अपने आप होते चले जाते हैं। यह प्रभु केवल परिणाम करता है। अभी इसे क्या बनना है कि सशरीर वाला बनना है, मनुष्य या देव बनना है। यह सब अपने आपहो रहा है। जीवों ने तो केवल परिणाम भर किया । तो मैं ही अपने आपको जाननेमें ले जाने वाला हूँ, यह तो हुई संसारकी बात । मुक्तिमें भी ले जाने वाला मैं हूँ, इस कारण मेरा गुरु मैं ही हूँ।

इष्टोपदेश में लिखा है कि -

स्वस्मिन् सदभिलाषित्वादभीष्टज्ञायकत्वतः ।

स्वयं हितप्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मनः ॥

अपने ही में आप सत्की इच्छा करता है। और अपने अभीष्टको ही उससे पहुंचाता है। स्वयं ही हितमें प्रयोक्ता होता है। इस कारण आत्माका गुरु आत्मा ही है। यह सब मायाजाल है। जो कुछ तो जीवके निमित्तसे पुद्गल उपादानमें होते हैं और कुछ पुद्गलके निमित्तसे जीव उपादानमें होते हैं। बड़े विकट मायाजाल हैं—इच्छा के परिणाम, मोहके परिणाम। परिणाम करने में बहुत सुहावना लगता है, और इतना ही नहीं इस रागसे अंधा हो जाता है। और क्या है कि इन्द्रिय, विवेक, मन किसी भी उपायसे इसको कुछ सूझता नहीं है। आंखका अंजन तो आंखसे ही नहीं सूझता है। किन्तु मोहके अंधेको किसी भी तरह सूझता नहीं है। ये सुहावने लगते अवश्य हैं मगर विवेक तो कर। मनको नहीं संभाला, ज्ञानको नहीं जगाया तो ये सब उसको दुःखी करने के लिए है। यह संसार क्यों बना हुआ है? 'मोह, राग, रुष, दुःख की खान।' मोह, राग, द्वेष ही दुःखकी खान है। 'निजको निज और परको पर जान।' मैं ही अपने को दुःखी करता हूँ, और मैं ही अपनेको सुखी करता हूँ। कोई उसके दुःख सुख को करने वाला नहीं।

एक कथानक है कि एक अतृपुण्य नामका राजपुत्र था। उसने पूर्वजन्ममें कोई पुण्य नहीं किया था। सदैव देवताओं, साधुओंका अपमान ही किया। ऐसा जीव राजाके यहां पैदा हुआ। पैदा होते ही राज्य में क्षीणता आ गयी। पब्लिकको दुःख हुआ। पब्लिक ने राजा से कहा कि आपके इस पुत्रका जन्म जबसे हुआ महाराज तबसे प्रजामें दुःख छा गया। मतलब यह है कि उस लड़के को राज्यसे निकाल दिया जाय। पर मां को पुत्र प्यारा होता है। मां भी लड़के के साथ में चली गयी। महाराजने गाड़ियों सामान लड़के को दे दिया। खूब धन दौलत लड़के को दे दी जिससे कि बच्चा हमारा दुःखी न हो। परंतु दुर्भाग्यवश अनाज मार्गमें बिखरता गया। सारा खत्म हो गया। जब उदय पापका आता है तब सब समागम दुःखका कारण बन जाते हैं, और जब पुण्यका उदय आता है तब आपको पता नहीं कि कहांसे क्या आता है? कैसे चला आता है। यह सब अपने आप होता है। पर उन सबका जो कारण है वह मैं ही खुद हूँ, परिणाम यदि सही है तो मेरा भवितव्य अच्छा है और यदि परिणाम मेरा अशुभ है तो भवितव्य भी खराब है। मैं ही तो गुरु हूँ। जैसा मैं अपनेको चाहूँ वैसा मैं अपनेको ले जाऊँ। ऐसी दृष्टियां ३ होती हैं—एक शुभदृष्टि, दूसरी अशुभदृष्टि और तीसरी शुद्ध दृष्टि। इन्हीं में यह कमाल है कि सारी सृष्टियां होती रहती हैं।

मनुष्य मैं हूँ, अमुक नाम वाला हूँ। रागद्वेष जो कुछ मैं करता हूँ ठीक करता हूँ। मेरे जो विचार हैं वह ठीक हैं। अपने आपको मैं जन्मसे विचारता चला आ रहा हूँ, यह सब ठीक है। ये अशुभ दृष्टियोंका फल पापको बनाना है। पाप वर्तमानमें भी आकुलित करता है और भविष्यमें भी आकुलित करेगा। शुभदृष्टि क्या है? भगवान का गुणानुवाद करना, भक्ति करना, पूजा करना, जीवों को दयाके भावसे देखना यह सारी शुभ दृष्टियां हैं। इनका फल सम्पत्ति, वैभव जो कुछ प्राप्त हो, हितकर कुछ नहीं है।

सुख यहाँ प्रथम भाग

मैं आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूँ । मैं अपने आप क्या हूँ? मैं केवल चैतन्यमात्र हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ, जानने वाला हूँ। चैतन्यस्वरूप एकवस्तु हूँ, ज्ञानमात्र हूँ। जिसकी जाननेकी ही काया है। ज्ञानघन हूँ । मैं ज्ञानसे अतिरिक्त और कुछ नहीं हूँ। ऐसी मैं चेतना हूँ। ऐसी दृष्टि को शुद्ध दृष्टि कहते हैं। इस शरीर के अतिरिक्त मैं जीव केवल ज्ञानस्वरूप हूँ । यही मैं आत्मा एकवस्तु हूँ । और मैं कुछ नहीं हूँ। ऐसी दृष्टिको शुद्धदृष्टि कहते हैं। आदमी सोता है तो सोतेमें भी जागता है। सोतेमें भी विकल्प होता है। दिनकी बातें भी कभी-कभी झलक जाया करती हैं ऐसी दृष्टि ज्ञानकी शोधी हुई है जैसी अपनी दृष्टि की है वैसी दृष्टि बनाता है। देखो जैसे नामकी वासना दृढ़ है, बड़ी भीड़में बैठा है और नाम कोई ले लो तो तुरन्त चौकन्ना हो जाता है। कैसा नामके प्रति अनुराग है। और उस नामका शब्द कितना सुहावना लगता है। कहीं नाम लिख दें, कहीं नाम बोल दें तो उससे कितना अनुराग हो जाता है? दूसरों को वश में करनेकी सबसे बड़ी दवाई यह है उसके नामकी प्रशंसा कर दें, उसका नाम लिख दें, नाम बता दें, यों कहिए कि जिसे चाहे वश कर लें । जीवको वशकर लें, दुनियाको वश करें, जो बुरा है उसको वश कर लें यह है क्या? वशीकरण मंत्र नामकी कीर्ति गालें, नाम लिख दें, नाम ले लें । इनमें सब वश हो जायेंगे । यह डायरेक्ट वशीकरण मंत्र है । यह महाविष है । यह इसलिए विष है कि इसमें सब प्रभुता नष्ट हो जाती है । सब जीवों में मिलाजुला संसार में एक चैतन्य वस्तु है, मेरा इसका नाम ही नहीं है और न मैं दुनिया के अन्य जीवों से कोई खास हूँ । इसलिए नामरहित शुद्ध अपने आप को देख, यही ज्ञान है, यही शुद्धदृष्टि है । जहां अपने को नाम वाला समझा बस समझो कि संसार में रूलने का साधन बना लिया । तभी तो शुद्धदर्शन में नाम को पहिले रखा है । सर्व आपदाओं का मूल नामकरण है ।

परमार्थ से मैं नामरहित हूँ शुद्ध हूँ, सबसे निराला हूँ, अकेला हूँ, चैतन्यमात्र हूँ, इसलिए उसकी जो उपासना करेगा दृष्टि पवित्र हो जायेगी और शुद्धदृष्टि बढ़ती चली जायेगी और उस दृष्टि की दृष्टि है, मोक्ष का होना और पर्याय की दृष्टि है संसार में खोना, जन्म-मरण बना रहना, सुख दुःख बना रहना तो देखो सुख दुःख आदि में मैं ही अपने को ले जाता हूँ, मैं ही अपने को प्रकाश में ले जाता हूँ । इसलिए मैं अपना गुरु स्वयं ही हूँ और दूसरा मेरा गुरु कोई नहीं है । मेरा मार्ग बनाने वाला मैं ही हूँ और कोई दूसरा नहीं है, इस विषय कषायकी फिसल रपट कहिए, ऐसी विचित्र है कि जरा भी मनकी ढिलाई की कि वह बढ़ती चली जायेगी । जैसे बरसात में कीचड़ वाली सड़क में असावधानी से चलें तो जरा भी फिसलते हैं तो फिसलते ही चले जाते हैं । इसी तरह धनके आकर्षण में, नाम में, यश में, इच्छा में, परिवार के राग में झुके, शिथिल बने, इस दुनिया में ठीक से रहना, शान से रहना, फिर देखा जायेगा, बड़ों से सम्बन्ध हो, बड़ा काम करना है फिर अन्त में देखा जायेगा, अपने को संभाल ले जाऊंगा-ऐसी कुछ ढीलकी कि ढिलाई की तरफ स्वयं बढ़ता चला जाता है ।

मैं आत्मा धर्ममय हूँ, इसलिए प्रतिदिन धर्म की दृष्टि होना चाहिए । जीवन के रोज के २४ घण्टों में धर्म का हिस्सा होना चाहिए । जीवन में सब आयु की बांट नहीं करो कि हम ८० वर्ष तक जीवेंगे । सो ७० वर्ष मनमाने चले, फिर १० वर्ष अन्त में धर्म देख लेंगे । तू २४ घण्टों में ३ घण्टे तो धर्म का

काम कर । इतना समय यदि धर्म कार्य में जायेगा तो शान्ति का मार्ग मिलता रहेगा । कहीं व्यापारिक कामों में फंसे हुए हैं, कोई भी स्थिति में अपने को इन २४ घण्टों के बीच धर्मपालन का समय देना चाहिए और अगर आयु में ही समय का विभाग करना है तो पहला काल धर्म का लायें । ५ साल खूब धर्म कर लिया जाय आत्मतत्त्व का मर्म ही समझ लिया जाय तो क्या है? कमाने को जिन्दगी बहुत है फिर देख लेना कमाने की बात । अगर आयु के बांट में धर्म का समय देते हो तो पहले धर्म मार्ग को दो । एक कथा है कि विधाता ने कहा एक जीव से कि बालिग होने के बाद तुम्हारी आयु में एक दो वर्ष तो देता हूँ तुम्हारे सुख के लिए, मौज के लिए, सम्पदा के लिए, धर्म के लिए-बाकी ५०, ५५ वर्ष वह देंगे तुम्हारे दुःख के लिए । अब तुम्हारी मर्जी हो तो एक दो वर्ष चाहे पहिले ले लो चाहे आखिरी ले लो, दस वर्ष के बाद में वह आदमी बालिग हो गया । १८ वर्ष का हो गया तब वह बहुत सा धन रोज कमाता, उसने सोचा कि एक दो वर्ष में सब सुख कर लें सबसे ठीक बोलेंगे, सबके साथ ठीक तरह से रहेंगे । उसने खूब धर्म भी किया । मगर यह जाना कि आगे तो वर्ष छोटे आवेंगे तो जो कुछ उत्तम हो वह सब जल्दी कर लेना । उसने २ वर्ष धर्म में बिताए तो भविष्य के पाप भी कट जायेंगे । सो भैया ! यदि यह सोचो कि अभी तो ५०, ६०, वर्ष तो व्यर्थ में जा ही रहे हैं, सारा समय तो यूँ ही खत्म हो जायेगा सो अपना सारे जीवन का कुछ आगे पीछे का विभाग न करके २४ घंटे में अपना कम से कम तीन घण्टे का समय धर्म साधना में लगाना चाहिए । एक घंटा ज्ञान आराधना में गया और कुछ समय भक्ति में गया, कुछ समय साधु जनों की सेवा में गया । २४ घण्टे में कम से कम तीन घण्टे का समय धर्मसाधना में व्यतीत होना चाहिए । कोई कहे कि धर्म साधना कैसी? सो कहते हैं ।

धर्मसाधना का मतलब यह नहीं कि कोई सोचे मैं मूर्तिपूजा करता हूँ और मुझे ज्ञान से, साधुओं से, जनसेवा से मतलब है तो यही भले समझ ले कि मैंने धर्म कर लिया है, किन्तु धर्म की प्रवृत्ति सब अंगों में होती है । मैं अपने को जन्म में ले जाने वाला, मरण में ले जाने वाला, दुःख और सुख में ले जाने वाला हूँ । मेरा गुरु मैं ही हूँ, और मेरा गुरु कोई नहीं है ऐसा जानकर कुछ अपने में आना चाहिए । इस जगत् में यह तो होता ही रहा है कि दूसरे पदार्थ उसका कुछ करने में समर्थ नहीं होते, तब किसी को उसकी आशा ही नहीं रखना चाहिए । कारण यह है कि दूसरों की परिणति से-इसमें कुछ बढ़ता नहीं है, यह तो अपने ही परिणाम का फल है । दूसरे लोग भी उसके किसी काम में सहायक हो जाते हैं । यह अपने ही परिणाम की कला है । कल एक प्रश्न में आया था निमित्त और उपादान । निमित्त कुछ करता है कि नहीं ? निमित्त और उपादान किसे कहते हैं ? उपादान तो वह है कि जिसमें परिणति होती है, जिसमें कार्य करे उसको उपादान कहते हैं । और जिस दूसरी चीज के बिना कार्य न बन सकता हो उस दूसरी चीज को निमित्त कहते हैं । यहां तो उपादान निमित्त के सम्बन्ध में ऐसा देखें कि वह दूसरी चीज जो निमित्त है, क्या उसकी कोई परिणति उपादान में आ गयी? उसका क्षेत्र, काल, भाव कुछ भी तो उपादान के अन्दर नहीं गया । और फिर भी हैरानी इस बात की है कि निमित्त की उपस्थिति बिना उपादान में कोई विभाव कार्य नहीं हो सका । ये समस्यायें सामने है कि निमित्त करता कुछ नहीं परन्तु निमित्त के बिना कुछ होता नहीं । यह तो कैसी विचित्र बात है ।

फलित क्या कि यह सब उपादान की कलायें हैं, यह सब उपादान की ही योग्यतायें हैं कि यह उपादान ऐसे पदार्थों को सामने पाकर खुद ही खुद अपने आप में रूप में ऐसा बन जाता है। जैसे इस चबूतरे पर हम बैठें तो इस बैठने का उपादान कौन है? हम ही हैं। हम के मायने पिंडोला, हाथ, पैर, बिस्तर, बण्डल यह पैर मुड़े आगे ऐसे बैठें तो इसके उपादान हम ही हैं। पर इस चबूतरे को निमित्त पाकर मैंने सब कुछ कर लिया, इस चबूतरे ने कुछ नहीं किया। ऐसी कोई जबरदस्ती की है या कोई कसूर किया है। पर मैंने ही अपनी इच्छा से पैर के अनुसार मैं स्वयं ही निमित्त पाकर अपने आप ही इस पर बैठ गया। यह समझना चाहिये कि जितने भी विषय होते हैं जन्म के, मरण के, सुख के, दुःख के उन सब में ले जाने वाला मैं हूँ। इन सबमें सारी अपनी प्रवृत्तियों को मैं ही करने वाला हूँ, दूसरा कोई नहीं है। मैं दुःखी होता हूँ तो मुझे दुःखी करने वाला मैं ही हूँ। मैं जब सुखी होता हूँ तो मेरे सुख का करने वाला मैं ही हूँ। मैं यदि गड़बड़ करता हूँ तो मेरा गड़बड़ करने वाला मैं ही हूँ और मोक्ष मार्ग लगने वाला भी मैं नहीं हूँ। दूसरों का न अपराध सोचें और न ऐहसान सोचें। क्योंकि दूसरे पदार्थों से मेरा कुछ आता जाता नहीं है। यह तो उसके ही कर्म से उसके ही ज्ञान से आया है। मेरे घर में १० आदमी हैं पर यहां मन बिगड़ा है यदि वह दूसरों को ऐसे बैठा हुआ देख ले तो वह सोचता है कि यह मेरे प्रति कुछ सोचता है। मेरी ओर यह कैसे बैठा? हाथ पैर तो उसके कहीं जा नहीं सकते वह तो रहेंगे ही दूसरा विकल्प करके दुःखी होता है। अपने आप दूसरा विकल्प करके दुःखी हो रहा है। सोचो कि यह स्वयं गिरा है। सो दुःख हो गया। दूसरा कोई दुःख नहीं करता। मन्दिर में जो शुरूमें विचार करता है और देखता है कि आज वह भगवान् बहुत प्रसन्न हैं। मालूम होता है कि अब भगवान् बोलना चाहते हैं। जैसा परिणाम किया वैसा दुनियाको देखता है। उसमें हमारा जो भी परिणमन होता है उसका करने वाला मैं ही हूँ अतः परके कर्तव्यका भ्रम छोड़कर अपने में ही विश्राम करके अपने आप ही सुखी होऊँ।

देहे बुद्ध्या वपुः स्वस्य बुद्ध्या स्वः प्राप्स्यते मया।

ज्ञानमात्रमतिर्मेऽस्तु स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥११-३२॥

अर्थ- “देहमें आत्मा या शरीर मैं हूँ” की बुद्धि करने से मेरे द्वारा शरीर प्राप्त किया जावेगा, और निज आत्मा में निज आत्माकी बुद्धि करने से निज आत्मा प्राप्त होगा इसलिये मेरी ज्ञानमात्र बुद्धि हो और अपनेमें अपने लिये स्वयं सुखी होऊँ।

सब दुःख का मूल शरीर है, यह सब साधारण वर्णन की बात है। कल्पना कीजिये कि जीवके साथ शरीर न हो और केवल यह जीव ही होता तो इसे क्या क्लेश था? जो शरीर सब क्लेशों का मूल है, उसमें ऐसी जो ममता रहती है तो यह विवेक नहीं। यह शरीर अपनेसे अत्यन्त जुदा है इसका होना, इसमें ममताका होना कितने बड़े दुःख की बात है? आत्मा तो स्वयं भगवान् स्वरूप है, आनन्दमय है, ज्ञानानन्द है, अनुपम सम्पत्तिवान् है, फिर भी अपने स्वरूपको न पकड़कर बाहरी बातों में केवल दृष्टि लगाना यही हम सबकी खुदकी विपत्तिकी बात है। जैसे दुनिया में कहते हैं कि गजब हो गया। क्या हो गया, चोरी हो गई। बड़ा गजब हो गया। अमुक आदमी गुजर गया। क्या हो गया? ये सब तो विचार

दुनियावी है। सबसे बड़ा गजब तो यह है कि ऐसी आनन्दमय आत्मामें अपनी दृष्टि न रखकर बाहरी पदार्थों में दृष्टि लगाई है— यह गजब है। बाकी कुछ और नुक्सान नहीं है। जिसे खोटा समझा वे पदार्थ हैं, परिणामते हैं, परिणामनशील हैं। उनका काम हो रहा है। उनके होने से नुक्सान नहीं है। नुक्सान तो यह होगा कि हम अपनी बेवकूफी मात्रसे अपने आपमें अनन्त संसार बनाये रहें। यह गजब हो गया। भैया! सिर्फ ज्ञान ही तो काम कर रहा है। चिन्ता कुछ न कर, वस्तुओं का तू कुछ न कर, उनको ठीक तरहसे समझ ले। केवल समझसे आपकी दृष्टि होती है। बाहरी चीजें मेरी दशा के लिए कुछ नहीं हैं। वे किसी भी तरह से मेरे लिये जिम्मेदार नहीं हैं। जो आप समझते हैं उसी पर सुख दुःख निर्भर हैं केवल इतना समझना कि समझकी शैली में मेरा शरीर बनाना निर्भर है। आना-जाना कुछ नहीं किन्हीं पदार्थों से वास्ता कुछ नहीं। मगर तू उन्हें अपना न माने तो लाभ है। केवल यह जीव समझता है। समझने के अलावा और कुछ नहीं करता है। बस इसी समझने पर ही हमारे शरीरका बनना, न बनना निर्भर है। यह सारा शरीर दुःखों की जड़ है। सुख दुःख जन्म मरण जो कुछ हैं वे शरीर के ही द्वारा होते हैं।

इस तरह यह सिद्ध है कि दुःखोंका कारण शरीर है। दुःखोंका कारण मिटे, इसमें प्रसन्न हों या दुःखों का कारण न मिटे इसमें प्रसन्न हों। दुःखों का कारण मिटे ऐसी बात हमारे में उठती ही नहीं है। संसारी जीव दुःखोंका कारण जो शरीर है उसे ही चाहता है। यह वर्तमान में सोच लिया जाता है। शरीर न मिटे यह जल्दी सोच लोगे। ऐसा सोचो कि यह न रहे तो ठीक ही रहेगा। पर यह सब बातें हमारे किसी की समझ में नहीं आती। केवल वचनों में हमारी बातें चलती है। उनसे काम नहीं बनेगा। यह उपयोग संस्कार में बने तो काम हो। जब मेरा कुछ जगत् में है ही नहीं, न शरीर रहता है, न परिवार रहता है, न धन दौलत रहती है। मेरा तो केवल ज्ञान ही मेरा है। इसीसे मेरा पूरा पड़ेगा। केवल एक निजसे दृष्टि लगी तो अपने हाथ सब कुछ है। बाह्य दृष्टि न रहे तो शांति सहज ही है। सब कुछ मुफ्त में मिल रहा है। कोई ऐसा यदि सोच ले तो समझो कि उसे सब कुछ मिल गया है। यह पदार्थ सब अपनी-अपनी सत्तामें हैं। एकका दूसरेमें अत्यन्त अभाव है। एक दूसरेका कुछ भी नहीं करता है। सभी अपने अपनेमें जुदा रहते हैं। एक का दूसरे में अत्यन्त अभाव है। एकका दूसरेसे कोई सम्बन्ध नहीं है। सो चेतन पदार्थों में सब अपना अपना ईमान चला रहे हैं। पर हम हैं कुछ मानते हैं कुछ चलते हैं।

उनकी यह बात अचेतन में नहीं पायी जाती है। वे अपनी सत्ता से ईमान पर निर्भर हैं। पर यह भगवान् स्वरूप चैतन्य प्रकृति के सम्बन्ध में अपने ईमान को खो बैठा है। सबमें सम्यक् गुण और चारित्र गुण विद्यमान है। यह मुख्य दो गुण चेतना वाले तो हैं चेतन नहीं हैं। सम्यक् चेतन वाला गुण नहीं है, जानने वाला गुण नहीं है। यह दृष्टि नहीं जानी कि चेतनमें जितना गुण है वह चेतन ही रहे। यहां तो कार्य अपेक्षाकृत कह रहे हैं आत्मा में अनेक गुण हैं। जिसमें चेतना वाले दो गुण हैं। ज्ञान दर्शन तथा इसके अलावा अन्य गुण होते हैं वे चेतन नहीं। सो भैया! अचेतन प्रकृति संगसे क्या चारित्र में बिगाड़ होता है?

सुख यहाँ प्रथम भाग

यह भी ईमानदारी की ही बात है कि ये रागद्वेष उपाधिवश अचेतन गुणके विकार हैं। ईमानदारी छोड़ दी, ईमानदारी छोड़ने का नाम मिथ्यात्व है। अचेतन गुण बिगड़ते हैं, विपरीत होते हैं। यह सब होती है न्याय की बात। पर उनमें राग हो जाना यह बेईमानी है। रागद्वेष भावों को अपने स्वरूप में बैठाता है, यह बेईमानी है। और फिर इस जगत् में दीखने वाला जो धन है, वैभव है, परिवार है उनको अपना मानना यह तो बेईमानी है ही। अपने पर अन्याय है, अपने आपको जगत् में रुलाते रहने का उपाय है उसीमें यह शरीर है। वह शरीर भिन्न है, दुःख का कारण है, इसे जो अपने में मिलाता है वह बेईमान होता है।

जो पवित्र है वह मैं हूँ ऐसी आत्मबुद्धि को देह में आत्मबुद्धि करना यह बेईमानी है, अन्याय है, पाप है और मोह है। इस पाप के करने से क्या होगा कि दुःख का कारण यह शरीर मिलता ही रहेगा। जैसे किसी लड़केसे प्यार नहीं है, कदाचित् वह एक ओर से भूलसे ऐसी चीज मांग बैठे जिसमें कोई भी सार नहीं है या जिसे अलग डालना चाहता था वही मांगे तो उसके देने में झिझक नहीं होती है। इसी तरह यह संसारी जीव एक असार चीजको मांग बैठा। शरीरको जीव मांग बैठा तो इसके देनेमें कोई झिझक नहीं होती है। ले जाओ, लेजाओ, संसार में जाकर खूब जन्म मरण करो। यह इसका फल है तो शरीर मिलता जायगा। इस शरीर में आत्मबुद्धि करने से यह शरीर मिल तो जायगा तो दुःख बढ़ते ही चले जायेंगे। जैसे-जैसे भव में जायगा उसे उसी भव में समागम दुःख का मिलेगा और उसी में राग करके अपना समय निकालता रहेगा। यहां तो यह समागम चल रहा है कि इस राग में कुछ समय गुजर रहा है पर यह सब अन्तमें न होगा। अन्तमें मरकर ऐसी दुनियामें वह कीड़े मकोड़े बन गया तो फिर क्या बस चल पावेगा? अब तो दुःख मेटनेका उपाय जल्दी बन जायगा। अगर सुखी रहना है तो मोह न करो और सम्यक्ज्ञानकी ओर दृष्टि दो, सम्यक्ज्ञानमें अपना समय दो। देखो तो मैं तो केवल ज्ञानमात्र हूँ, पर अपने में स्वरूपदृष्टि न देकर दूसरे पदार्थों में आ गया हूँ। फल उसका क्लेश है।

हे प्रभु तू तो आनन्दघन है, अतः आनन्द विराजमान है, प्रकाशवान है। इसको वही देख सकता है। जिसकी मोहपर विजय है। जिसको पर्याय में उपयोग नहीं है वह अपने-आपमें विराजमान प्रभु को निरख सकता है। जो पर्याय में आत्मबुद्धि करता है उसको भगवानके दर्शन नहीं होंगे। वह दुःख के जंजाल में ही पड़ा रहेगा, यहां पर प्रभु की भेंट व शरीर का मिलन दोनों मुफ्त मिलते हैं। पसन्द कर लो क्या चाहिए? यह एक ऐसा दुर्लभ तत्त्व है तथा कैसा मुफ्त का तत्त्व है? तुम्हारी इच्छा हो तो तुरन्त मिल जाय, देर नहीं लगेगी। जरा भी इच्छा हो तुरन्त मिल जाय। इसमें जरा भी परेशानी नहीं। जैसे जलपूर्ण देशोंमें और बरसात के समय में जगह जगह पानी भरा होता है। वहां पानी मिलना कितना सरल है। उससे भी अधिक अपने भगवान की भेंट सरल है। बिजली के बटन दबाने से बिजली जलती है, उसमें तो अधिक समय लगता है। एक सेकेंडका हजारवां हिस्सा भी नहीं लगेगा भगवान मिल जायेंगे, परन्तु शर्त लेने की बात है। भीतर से ज्ञान विज्ञान कर लेने की बात है। एक साथ जगत् के सब पदार्थों से अपनेको अलग कर लो। यह सब कुछ भी मैं नहीं हूँ। मैं तो एक ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ। एक साथ सबको अलग

मानकर क्रम से मान करके लक्ष्य नहीं मिलेगा। इसे कल अलग कर देंगे, इसे दो चार साल बादमें अलग कर देंगे। ऐसा मत करो सबको एक साथ अलग कर दो उपयोग में। मैं सब कुछ स्वयं हूँ। इस जगत् में कोई भी तत्व मेरा नहीं है। ऐसा निश्चित करके भगवान से भेंट कीजिए अन्य कोई भी उपाय नहीं है। वर्षों कोई उपाय कीजिए और यदि किसी दिन कोई एकत्वदृष्टि का उपाय समझ जाओ तो अपने आपको कुछ अकेला अनुभव करो, भगवानसे भेंट हो जायगी। भगवान बाहर से आकर नहीं मिलेगा जो बाहर से आकर खुश कर दे। बहुत बहुत यत्न करके कोई भगवानको खुश कर ले सो नहीं होगा। कोई दूसरा भगवान् खुश नहीं होगा, अन्य और कोई खुश नहीं होगा, मेरा प्रभु ही प्रसन्न होगा। मेरे प्रभु की प्रसन्नता के बिना काम नहीं बनेगा। मेरा प्रभु ही प्रसन्न होगा। पहले प्रभुके सामने तो आओ, अपने सामने ही आने में प्रभु का सामना हो जायगा। तुम्हारा यह प्रभु दयालु है। इतना सरल है, इतना भोला भाला है कि जरा भी सामने आओ तो सब कुशल कर देगा, सब माफ कर देगा। प्रतिक्रमण में आता है कि मेरा पाप ऐसे मिथ्या होता है। जहां चैतन्य चमत्कारमात्र निष्पाप स्वभाव को देखा वहां अन्य बातें मिथ्या हो जाती हैं। इस अपने प्रभु के सामने आवो दुष्कृत माफ हो जावेंगे। अपने प्रभुके सामने आने का मतलब अपने आपको ऐसा अनुभव करो कि मैं प्रभु का स्वरूप हूँ। शुद्ध ज्ञानमात्र चैतन्यमात्र, ज्ञायकस्वरूप इसका स्वभाव अपने आपको अनुभव हो तो यह प्रभु के सामने आना हुआ। सामना होनेपर वह अपना दुष्कृत माफ हो जाता है। कैसे मिथ्या हो जाता है? सम्यक् बढ़ा तो पाप तुरन्त मिथ्या हो गया। वह मैं नहीं था, वह पाप मैं नहीं था। वह मेरा स्वरूप नहीं था। वह तो प्रकृति के विकार का खेल था। मैं तो सदा ज्ञानमात्र हूँ। ऐसी बुद्धि बनाना प्रभु से भेंट करना एक ही बात है। ज्ञानमात्र मैं हूँ। ऐसी बुद्धि बनाओ। इन सब बातोंको एक साथ भूल जाओ। मैं अमूर्त हूँ, शरीर वाला हूँ, सम्प्रदाय वाला हूँ, इतने धन वाला हूँ, ऐसी दुकान वाला हूँ, ऐसा जानने व ऐसा सुनने वाला हूँ, —यह भाव मिथ्या है। मुझमें यह सब बिल्कुल नहीं है। ऐसा सब कुछ नहीं है। यह अनुभव लाओ कि मैं ज्ञानमात्र हूँ। जब यह अनुभव होगा तब समझो कि भगवानका सामना हो गया। सब हितमय हो जायेंगे।

मोक्षका मार्ग सामने आयेगा। ज्ञानमय आत्मस्वरूप का अनुभव कर बाहरी पदार्थों में से निकट सम्बन्ध शरीर का बना रहता है। इसकी बुद्धि से किसी को गाली दे दिया। शरीर में है आत्मबुद्धि, सो उसे बुरा लग गया। क्यों लग गया? शरीर को तो आत्मा माना था। यह आत्मा तो हवासे भी पतला है, आत्मा पानीसे भी पतला है, परमाणु से भी पतला है। यह पतला ही नहीं है यह एक अमूर्तिक भावमात्र पदार्थ है। इसे गाली नहीं लगती। अब अपने स्वरूपकी दृष्टि छोड़कर अन्य पदार्थों में दृष्टि लगाएगा तभी दुःखी होगा। और जब अन्य पदार्थों में दृष्टि न लगाकर अपने स्वरूपमें दृष्टि लगायेगा तो दुःखी नहीं होगा। शरीरके ही हिस्से जिन्हें मोही अपना कहता कि यह मेरा बाप है, यह मेरी बुआ है यह मेरी मौसी है, यह मेरी सास है— यह सब सारे शरीरके नाते हैं, कुछ नहीं है। नाते शरीर से ही हैं। यह शरीर जिस शरीर के निमित्त से हुआ वह शरीर बाप है। दूसरा शरीर भी उसी निमित्त से हुआ वह भाई बहिन हैं। जितने रिश्तेदार हैं। शरीरके सम्बंधसे ही है। इस शरीरको पैदा करने वाली मां है, वह जहां से उत्पन्न हुई वहीं से जो अन्य शरीर उत्पन्न हुआ, वह मौसी है, मामा है।

सारे नाते शरीर के साथ हैं। मैं आत्मा सबसे निराला हूँ, ज्ञानमात्र हूँ, विशुद्ध हूँ। जगत् के मायाजाल से हटकर अपने आपमें परिणाम करके विश्राम करनेको जाते हैं। जो इनका साथ करेगा सो पार होगा। जो नहीं करेगा उसको हित नहीं मिलेगा। शरीर में आत्मबुद्धि जो करे तो उसको शरीर मिलता चला जायेगा। और यदि आत्मा में आत्मबुद्धि करके ज्ञानमात्र यह आत्मा है तो ज्ञान मात्र यह आत्मा मिलेगा और शरीर से सब छूट जायगा। इन सबकी अवस्था करने वाला मैं हूँ। यह शरीर रहे या मुक्ति हो इन सबका जिम्मेदार मैं हूँ, मैं ही सृष्टि करता हूँ, अन्य जीव कैसी भी व्यवस्था ही नहीं करते। यद्यपि शरीर अत्यन्त भिन्न है तो भी शरीरका मिलते रहना आनन्द होना आपके परिणाम पर निर्भर है, जब केवल बुद्धिमात्र से, समझने भरसे, जानने मात्रसे इन दोनों की प्राप्ति होती है। तो शरीरकी प्राप्ति कर लो या भगवान्स्वरूपकी प्राप्ति कर लो। जिनको आना हो आवे। पास बना हुआ है। केवल अपने सोचने से ही अपने प्रभु से मिल सकते हैं। यह आत्मा अपने को समझने पर मिलता है। तब इसके आगे और क्या चाहिए? कितना बड़ा अवसर प्राप्त है कि जिसकी उपमा नहीं दी जा सकती है। अपने आपकी महत्ता तब मालूम होती है जब अपने से छोटों को देखो। यदि 90 रु० हैं और महत्ता जानना चाहते हो तो भिखारियों के बीचमें घूमो। सबके देखने बाद अपनी स्थिति का संतोष होगा। अब जरा संसार के सब जीवों को देखो, स्थावर कैसे हैं, मकौड़े कैसे हैं? खोटे मनुष्य, खोटी जाति के, खोटे कुलके ये सब कैसे हैं? जरा भी संसार में दृष्टि तो डालकर देखो तो अपने वैभवका पता चलेगा। जिससे सदा के लिए लाभ मिले, ऐसा करो जिससे क्लेश मिटें सदाके लिए, अपने आपको ज्ञानमात्र स्वयं मानकर अपने आपमें रमकर आपमें स्वयं सुखी होओ।

महान् स्वप्नातिजः क्लेशो भ्रातिनाशेन नश्यति।

यथात्यं श्रद्धै तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१-३३॥

अर्थ— अपने भ्रमसे उत्पन्न हुआ क्लेश, भ्रमके विनाशसे नष्ट होगा, इसलिये मैं यथार्थ स्वरूपकी श्रद्धा करूँ, और अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

जगत् में जितना भी क्लेश है वह सब आत्मा के भ्रमका क्लेश है। जैसे मनुष्य सब एक ढंग से पैदा होते हैं, एक ही ढंगसे मरते और एक ही ढंग से रागद्वेष होते हैं, इसी तरह जगत्के समस्त प्राणी एक ही ढंगसे दुःखी होते हैं यहां यह कोई अंतर नहीं कि भाई अमुक आदमी के दुःखका ढंग और है, दुनियाके दुःखी होने का ढंग और है, और बड़े लोगों के दुःखी होने का ढंग और है। ऐसा यहां ढंग नहीं है। दुःख होने का ढंग एक ही है। और वह है भ्रम। बाहरी पदार्थों में आत्मतत्त्वका भ्रम हो गया, इसीलिए इन्हें क्लेश हुआ। यह क्लेश स्वयं ने ही तो बनाया। भ्रम किया कि दुःख हो गया। धन वैभव कुछ होता है नाशवान् होता है, दुःख होता है, क्योंकि जो परपदार्थ हैं उन सबमें सत्ता जुदी है। उसमें यह उपयोग कर लिया कि यह मैं हूँ, यह मेरा है, बस दुःख होने लगता है। यह तो है अन्याय की बात। अभी जीवनमें, घरमें, पास-पड़ोस में, समाजमें, मित्रों में अधिक तरह के भ्रमों का क्लेश रहा करता है। किसी भी बातका भ्रम हो गया बस अलग बैठे बैठे दुःखी हो रहे हैं। यह भ्रमका क्लेश हमने ही तो

स्वयं बनाया है और हम ही इस भ्रम को नष्ट करेंगे तो यह क्लेश नष्ट हो सकते हैं अन्यथा नहीं होंगे। जैसे एक उदाहरण लो कि एक करोड़पति अपनी हवेली में दोपहर में पड़ा हुआ सो गया। उसे स्वप्न आया कि उसको गर्मी बहुत लगी है, सहा नहीं जाता। इसलिए चलें समुद्रकी ठंडी लहरों में थोड़ा घूम आवें। वह चला नहीं स्वप्न में देख रहा है। समुद्र के पास गया। नाविक से बोला कि हमें एक घण्टे तक इस समुद्र की सैर करा दो। बोला— ठीक है, ५ रु० फीस है। बोले कि ठीक है। इतने में स्त्री बोली कि हमें भी ले चलो, हम भी चलेंगी। घरके बच्चे वगैरा भी ऐसा कहने लगे कि हमको भी ले चलो। पहरेदार बोला— हमको भी गर्मी लगी है, हमें भी ले चलो। सब नाव में बैठ कर करीब आधा मील पहुंचे तो समुद्र में भंवर आयी। नाविक ने सेठ से कहा— नाव डूबने से नहीं बचेगी, हम तो तैरकर निकल जावेंगे। सेठ नाविक से बोला— ५ हजार रु० ले लो, ५० हजार रु० ले लो परन्तु नाव को पार कर दो। पार कर दो नहीं तो हम सब मर जावेंगे। इस समय स्वप्न में देखो कि दुःख कितना हो रहा है ?

स्वयं हम भी मरेंगे और हमारे सहायक भी मरेंगे— अब क्या होगा ? सारी बातें सोच-सोच कर क्लेशित हो रहे हैं। पर सेठ जी होते तो हैं देखो बंगले में, मित्र लोग देख रहे हैं कि सेठ जी बंगले में सो रहे हैं— कब जावेंगे ? नौकर चाकर भी काम कर रहे हैं— सेठ जी स्वप्न देख रहे हैं। नौकर चाकर तथा मित्र कोई भी उनके दुःख को मिटाने में समर्थ नहीं हैं। उनका दुःख केवल एक ही उपाय से मिट सकता है कि जाग जायें, नींद खुल जाए, और उनके दुःखों के मिटाने का कोई दूसरा साधन नहीं है। जाग गये तो देखा कि वहां समुद्र नहीं है और न वे सारे दुःख हैं।

इसी तरह इस जगत के प्राणी मोहकी नींद में सो रहे हैं और मोहकी नींद वह है जहां पर सब दुःखी रहते हैं। यह मेरा घर है, यह मेरा वैभव है, यह मेरा परिवार है, इतना मेरा बन गया है, इतने का नुकसान हो गया है, अपमान हो गया है, इज्जत मिट गयी, सारे अपने मोह को ही देख रहा है। देखो कैसा वह ज्ञानानन्दस्वरूप है। यह जीव अपने आनन्द की सत्ता में है। जिसका स्वरूप भगवान् स्वरूप है ? ऐसा ज्ञानानन्दस्वभाव में यह सब है। लेकिन मोह में पड़े हुए हैं और सारा जगत् लाभ हानि मानकर दुःखी हो रहा है। इस जीव के दुःखों के मिटाने में कौन समर्थ है ? क्या परिवार के लोग या मित्रजन, क्या अपनी चेष्टा करके दुःख मिटा सकते हैं ? क्या भगवान् ऐसे मोहके दुःखों को मिटा सकते हैं ? कोई दुःख मिटाने में समर्थ नहीं है। यद्यपि यह जीव शुद्ध परमस्वरूप है, भगवान् स्वरूप है, ज्ञानानन्द घन है लेकिन मोहकी नींद जो आती है उसी दुःख को भूल गया है कि मैं अपने वैभव में हूं भूल का फल तो आयेगा। बाहरी पदार्थों में उपयोग कर लिया। इसके फल में महान क्लेश होना ही है। इसके मिटाने का सामर्थ्य है केवल अपने पुरुषार्थ में।

रत्नकरण्ड में एक कथा आती है मुछमक्खन की। एक व्यक्ति का नाम मुछमक्खन था। वह एक जैन के यहां गया। वहां मट्ठा पिया। मूँछ पर हाथ फेरा। जब हाथ फेरा तो मूँछ में मक्खन लग गया। सोचा कि यह काम बहुत बढ़िया है। ऐसा रोज करूंगा। रोज किया। एक साल में अच्छा घी लगभग एक सेर उसकी मूँछों में जुड़ गया। अब जाड़े के दिनों में माह के महीने में डबली को ऊपर

लटकाया । नीचे आग जलाई और सो गया । अब वह स्वप्नवत् पड़े-पड़े मन में कल्पनायें करने लगा । घी को दो रूपया में बेचूंगा । दो रूपया से और कोई सामान खरीद कर ४, ५, ६, ७, ८, ९, १० में बेचूंगा, ५ ६, ७ का सामान खरीदकर १०, २०, ३० में बेचूंगा । जब १०, २०, ३० हो जावेंगे तब फिर बकरी खरीदूंगा, गाय खरीदूंगा, बैल खरीदूंगा । बाद में जमींदारी खरीद लूंगा, विवाह करूंगा, बच्चे होंगे । इतने में एक बच्चा आ गया बोला कि मां ने रोटी खाने के लिये बुलाया है । कहता है कि अभी नहीं जाऊंगा । दूसरी बार फिर कहेगा कि मां ने रोटी खाने को बुलाया है । कहा- अभी नहीं जाऊंगा । तीसरी बार फिर कहेगा कि मां ने रोटी खाने को बुलाया है । कहा-अबे कह तो दिया कि नहीं जाऊंगा । ऐसा कहकर लात फटकारी । लात की फटकार से डबली में धक्का लगा, नीचे गिर गई और फूट गई । उसकी झोंपड़ी भी जलने लगी । अब तो झोंपड़ी के बाहर निकलकर चिल्लाने लगा कि स्त्री मरी, बच्चे मर गए, गाय भैंस खतम हो गये । लोग जो पास में थे बोले कि कल तक तो भूखों मरता था । आज कहां से यह सब कुछ आ गया । बाद में उस मुछमक्खन ने सारा किस्सा सुनाया । एक सेठ ने कहा कि तू कल्पनायें ही तो करता था । तू इन कल्पनावी में ही क्यों दुःखी हो रहा है ? पास में जो चतुर आदमी खड़ा हुआ था, बोला-सेठ जी क्यों समझाते हो ? तुम भी तो ऐसे ही हो ।

किसी से तेरा सम्बन्ध नहीं । तू स्वयं एक आत्मतत्व है । तेरी सम्पदा कहां है ? कल्पनायें कर रखी हैं कि यह मेरा है, वह मेरा है । सम्पदा बना रखी कि मोह जुड़ गया । यह तो अपना ही राज्य हो गया । सब व्यवस्था चलने लगी । परमार्थसे देखो तो यह आत्मा केवल ज्ञानमात्र है । इसका यहां कुछ नहीं है । ये सब कल्पनायें हैं, भ्रमजाल हैं । भ्रम के कारण दुःख होता है हमने अपने दुःख को भ्रम से ही पाला है । हम ही अपने ज्ञान का सहारा करके तथा भ्रमको नष्ट करके सारे क्लेशों को दूर कर सकते हैं । आत्मा के भ्रम से पैदा होने वाले दुःख भ्रम नष्ट करने से ही दूर किए जा सकते हैं और इसका कोई दूसरा उपाय नहीं है । तुमने और भ्रम बढ़ा लिया तो क्या दुःख खत्म हो जायेंगे? दो बच्चे हो गए । वह अच्छे-अच्छे ओहदेपर हो गए तो क्या दुःख खत्म हो जावेगा । कितनी ही स्थिति बढ़ जावे पर जब तक आत्मज्ञान नहीं होगा तब तक दुःख नहीं मिट सकते हैं । जब भ्रम खत्म है तब दुःख खत्म है । एक कथानक है कि दीवाली में जब घर की पुताई होती है, तो एक लालाजी के यहां गेरुवे रंग की पुताई हो रही थी । लाला जी की लड़की ने जो गेरुवे रंग का भरा लोटा था लालाजी के पलंग के नीचे रख दिया । रोज-वहां एक लोटा रखा रहता था । उनकी आदत थी कि सुबह सबसे पहले वह लोटा लेकर टट्टी जाया करते थे । झट उठे और गेरुवे रंग से भरा लोटा लिया, टट्टी चले गए । शौच की शुद्धि की । देखा तो वहाँ लाल लाल दिखा । सोचा कि अरे सारा खून निकल गया, सिर में दर्द हो गया, बुखार हो गया । वहां से हांफते हांफते मुश्किल से घर आए । खटिया में लेट गए । बुखार बढ़ने लगा । इतने में बिटिया आती है और कहती है कि पिताजी मैंने खाट के नीचे गेरुवे रंग का लोटा रख दिया था, वह कहां है ? अरे वह तो गेरुवे रंग का लोटा था । ऐसा दिमाग में आते ही उनकी तबियत ठीक हो गई । वह बोले कि मैं यह लोटा लेकर टट्टी गया था, इसलिए बुखार आ गया । भ्रम कर लिया

तो बुखार आ गया। भ्रम मिटते ही शान्त हो गया। जगत् में किसका क्या है ? बड़े करोड़पति को सामने कर लो। उसका क्या है ? दुःख की बात देखो तो करोड़पति को भी महान् दुःख है, रात को नींद अच्छी तरह नहीं आती है। भ्रम बना रहता है कि चोर यहां गए हैं, वहां गए हैं। सुख से नहीं रहते हैं। है कुछ नहीं उनका, पर आराम से नहीं रहते हैं। विवेक यह है कि गृहस्थका कर्तव्य है कि वह धर्म करे। पालन-पोषण के समय में भी जो कर्तव्य है सो करे। मगर धन का आना न आना भाग्य पर छोड़ दे। और फिर भाग्य के अनुसार जो आता है उसमें अपने लिए सात्विकवृत्ति से खर्च करे। यही गृहस्थ का गुण है। जिसने खूब कमाया है वह भी मनमाने ठाठबाट से नहीं रहता है। इसलिए रहन-सहन द्वारा हम ऐसा न करके सात्विकता से रहें। ऐश आराम का बढ़ाना यदि किया तो शालीनता बनाये रहना अच्छा है। और जो अपनी आय हो, काम के मुनासिब व्यय करके शेष दूसरों के उपकार में खर्च हो। इसमें प्रसन्नता नहीं होती कि तृष्णा करके सोच रहे हैं कि हमने जोड़ा क्या है ? हमें अभी और जोड़ना है। हमें अभी चार आदमियों में इज्जत बढ़ाना है। अरे ये चार आदमी मर मिटने वाले हैं। चार आदमियों के लिए शान क्या बनाना है? भगवान् के ज्ञान में शान बनावे तब तो ठीक है। जो अनन्त, जो शुद्ध भगवान् है, उस प्रभु में ध्यान दो। यदि ज्ञान आए तो तुम्हारा लाभ है। सर्व सिद्धि होगी। यहां सब की दृष्टि में इज्जत चाहना भी क्लेश है। वह सब आत्माके भ्रम के क्लेश है। वह क्लेश है। वह क्लेश भ्रम के नाश से समाप्त होंगे। इस कारण यह कोशिश करनी चाहिए कि प्रत्येक पदार्थ का यथार्थस्वरूप ज्ञात हो। यथार्थस्वरूप ज्ञात होना ही दुःखों के मिटानेका उपाय है। अभी सामने रस्सी पड़ी है, कुछ अंधेरा और कुछ उजेला है। सामने देखा तो भ्रम हो गया कि यह सांप है। इस भ्रमके कारण उसे डर हो गया, आकुलता हो गई, दिल कांपने लगा, हाय यह तो सांप है। है कुछ नहीं, रस्सी पड़ी हुई है। उसने कहा कि आखिर देखें तो कि कौन सा सांप है? जहरीला है कि और कोई है। देखें तो कि कौनसा सांप है? जरा थोड़ा पास गया। कुछ और हिम्मत की। फिर और चला तो देखा कि यह तो रस्सी है। तो भ्रम खत्म हो गया, आकुलता खत्म हो गयी, दुःख खत्म हो गये।

जितना भी क्लेश होता है यह सब भ्रम से होता है। तो अपने आप ऐसा अनुभव करो, ऐसा उपयोग बनाओ कि मैं अपने सत्वमात्र हूँ, ज्ञान और आनन्द मात्र हूँ, शरीरसे न्यारा हूँ, सब पदार्थों से निराला हूँ। केवल मैं आनन्दको करता हूँ और ज्ञानानन्दको ही भोगता हूँ। ज्ञानानन्द में रहनेके अतिरिक्त और मैं कुछ नहीं हूँ। इसी तरहसे तू अपने स्वरूपका अनुभव करे तो वहां कुछ क्लेश नहीं है, कोई विपत्ति नहीं है, विपत्ति तो भ्रमसे बनती है, भ्रम समाप्त हो जाते ही विपत्ति समाप्त हो जाती है, पदार्थ उसे दुखित नहीं करते। पदार्थ तो पड़े हैं, जहां हैं तहां हैं। वे अपना स्वरूप व परिणमन लिए हुए हैं, निरन्तर परिणमन करते रहते हैं। कोई भी पदार्थ हमें दुःखी नहीं करता। न वह दुःखी करते थे और न वह सुखी करेंगे। यह जीव अपने आप स्वयं भ्रम बना-बना करके नाना कल्पनायें करके स्वयं अपने आप दुःखी होता है। बड़े बड़े महापुरुषों ने राम हनुमान इत्यादि महापुरुषों ने सब कुछ छोड़ दिया, घर छोड़ दिया। न वे रहे। अपने स्वरूप में बसे, आत्मसाधना की। क्या वह कम बुद्धि वाले थे? यह तो बड़े पुरुष थे,

पूज्य पुरुष थे, आराध्य देव थे। ऐसा उन्होंने कोई इसलिए किया कि यहां तो सब असार है। इससे उनसे वास्ता कुछ नहीं, फिर उनपर दृष्टि क्यों की जाती है? सम्यक् ज्ञान हुआ। अतः उन्होंने इन सबको छोड़ दिया। और उन्हें अपने आप आनन्द मिला। उन्होंने सब कुछ छोड़ा इसलिए कि उन्हें शुद्ध आनन्द मिला। यह आत्मा खुद स्वतंत्र है। बाहरी पदार्थों से दृष्टि हटाओ और अपने आनन्दस्वरूपमें दृष्टि लगाओ। सब विकल्पोंको छोड़कर अपने आपमें रमो तो वह आनन्द मिलेगा कि जिसके निमित्तसे भव-भवके संचित कर्म भी मिट जायेंगे। बड़े-बड़े रागद्वेषोंकी आपदायें भी क्षणभर में ही भस्म हो जावेंगी। यह इस ज्ञानकी ही सामर्थ्य है और किसी में सामर्थ्य नहीं है।

अब स्वयं मायाजालको छोड़कर जो मेरा स्वरूप है उस स्वरूपमें ही दृष्टि डालूँ और अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊँ। सुखी होनेका कितना अच्छा एकमात्र सरल व स्वाधीन उपाय है। जहां हम हैं वहां हमारा भगवान् है। यदि अपने स्वरूपको देखो तो मोक्षका मार्ग मिलेगा, सर्वकल्याण होगा। और यदि अपने स्वरूप को भूलकर बाहरी पदार्थों में दृष्टि लगाई तो दुःखी होनेका उपाय है। केवल समझने पर ही सब कुछ निर्भर है अपनी समझ करना तो सरल काम है। इसमें अनंत लाभ हैं। मैं वाह्यपदार्थों में दृष्टि लगाता हूँ तो यह खराबी है, इसमें जन्म-मरणके चक्र में फंसना पड़ता है। परमार्थतः अपना उपयोग तो किसी में फंसता नहीं, उपयोग ही स्वयं फंस जाता है। वह तो स्वयंकी चीज है। हम स्वाधीन बने रहें और सर्वत्र सुखी रहें। दुःखका कोई काम ही नहीं है, हम स्वयं स्वाधीन हैं। मैं जैसा हूँ वैसा अपनेको समझता हूँ। मैं अमूर्त ज्ञानमात्र हूँ। इसी अनुभव में आवो फिर जो कुछ कल्याणकी बात होनी है वह स्वयं होगी। और आत्मस्वरूप के जाननेपर शुद्ध जानना ही रह जायगा और समस्त विकल्पजाल समाप्त हो जायेंगे। इसी सम्यक् मार्गमें ही मोक्षका मार्ग है।

देह स्वबोधता दुःखं सुखं स्वे स्वस्य चेतनम्।

सुखं स्वायत्तमेवातः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥११-३४॥

अर्थ— शरीर में अहंबुद्धि होना दुःख है, आत्मामें आत्माका अनुभव होना सुख है और वह सुख निजके अधीन है, इसलिये मैं अपनेमें अपनेलिये स्वयम् सुखी होऊँ।

जो देहमें आत्मबुद्धि करता है वह दुखी है जो चेतनरूपको जाने वह सुखी है जो मैं हूँ, जैसा मैं हूँ तैसा ही अपनेको जानें सो सुखी है और जो न जानें, जो शरीर, धन, परिवार इत्यादिमें आत्मबुद्धि करे सोई दुखी है। सुख और दुःखके मिलनेका स्रोत यहां पर मैं ही हूँ। इसके अभ्यासके लिए बहुत-बहुत ज्ञान करना पड़ा है सब ओर की बातोंको जानना पड़ता है और इसीलिए जितना भी ज्ञान का विस्तार है, शास्त्रोंका प्रसार है यह ज्ञान कराने के लिए है। यदि कोई शास्त्रोंमें घूमें, विवेकवश एक अपने ज्ञानानन्दकी पहिचान करले तो उसने सब शास्त्रों का मर्म जान लिया और कोई पुरुष सब शास्त्रोंका विद्वान हो तो भी यदि अपने इस सहजस्वरूपका अनुभव न कर सका तो वह कुछ भी नहीं कर पाया। जगतके जितने भी क्लेश हैं वह सब पर-पदार्थोंमें आत्माकी बुद्धिसे हैं, नहीं तो क्लेश ही कहां हैं? किसी दुःखीकी कहानी सुनो। उस कहानीमें यह मिलेगा कि इसको अमुक चीजका राग है। उसकी अमुकमें आत्मबुद्धि है,

इसलिए क्लेश हो रहे हैं। आत्मा तो अमूर्त है। इस ज्ञानमात्र अमूर्त आत्मा में बाहरकी क्या चीज आयेगी और उसमें इसका क्या सुधार होगा? यह तो खुद ही कल्पनायें करके अपना आकुल परिणाम करता है। आप कल्पनायें छोड़ दें और जो अपना सहजज्ञानस्वरूप है, ज्ञानमात्र स्वभाव है, उसका ही उपयोग कर लें तो वहां कोई दुविधा नहीं है। दुविधा तो बनाई जाती है। आत्मा में विपत्ति नहीं होती है। क्लेश तो बनाया जाता है, आत्मा में क्लेश नहीं है। आत्मा तो एक चैतन्य वस्तु है जो ज्ञानघन है वह ज्ञान से सर्वथा परिपूर्ण है। ज्ञान का ही ऐसा कमाल है कि वह आनन्द को लिए हुए है, ज्ञान और आनन्दस्वरूप आत्मा ही सम्पत्ति है। वह स्वभाव से है जो आपको सत् बनाए हुए है। ज्ञानशक्ति, आत्मशक्ति मिटती नहीं है। लेकिन इस जीव में विभावशक्ति है। जिससे बाहरी कई निमित्त पाकर विकार की परिणति कर लेता है। यदि अपने को जैसा है तैसा मान लें कि मैं अपने आप कैसा सत् हूँ? मैं अपने आप कैसा अस्तित्व रखता हूँ? यदि यह स्वयं समझमें आ जाय तो यह विश्वास तुरन्त बन जाए कि लोक में मेरा प्रभु मैं ही हूँ, मेरा कोई दूसरा नहीं है। मैं जैसे परिणाम करता हूँ वैसी ही सृष्टि करता चला जाता हूँ। शरीर में आत्मबुद्धि होना सोई दुःख है। बड़े-बड़े पुरुषों के जीवनचरित्र देखो तो जब तक उनको मोह रहा, राग का लगाव रहा तब तक चैन से नहीं रह सके। कौरव पाण्डवों का चरित्र देखो, राम लक्ष्मण का चरित्र देखो, किन्हीं का चरित्र देखो जब तक लगाव रहा तब तक वह चैन से नहीं रह सके और जब ही उनका ज्ञान परिपूर्ण हुआ, बाहरी दबाव छूटे तो अब उनका वर्तमान सत् देखो वह कर्ममुक्त भगवान हैं, अनन्त सुखों द्वारा सर्वसम्पन्न हैं। आज हम उनकी आराधना करते हैं और उनकी आराधना में अपना सौभाग्य समझते हैं। रावण को देखो दुःख मिला जिन्होंने लगाव नहीं छोड़ा। जीवन के अंत तक मोह ही में रहे, ममता ही में फंसे रहे। उनका नाम लेने वाला कोई नहीं है और नाम भी लिया जाता है तो एक घृणा की दृष्टि से लिया जाता है। तो बड़े-बड़े पुरुष भी इस जगत् में नहीं रहे। वह अच्छे हुए तो मुक्ति पाकर भगवान हुए और जो अच्छे न हुए वह जन्म मरण के चक्कर में पड़े रहे। जो भी उत्पन्न हुआ है वह यहां से गया ही है। क्या वह हमारी स्थिति नहीं आयेगी जिस दिन हम यहां नहीं होंगे? हम नहीं रहेंगे उस दिन हमारा क्या रहेगा? कोई भी चीज हमारी नहीं होगी। कौन से पदार्थ हमारे साथी होंगे? हम बिल्कुल अकेले हैं, अपने ही स्वरूप को लिए हुए हैं। जग के सब पदार्थों से मैं अत्यन्त जुदा हूँ। मेरे में शरीर भी नहीं है। वह भी एक सूक्ष्मस्कन्ध है और राग, द्वेष इत्यादि विकार भी नहीं है। मैं तो एक शुद्ध ज्ञानमात्र हूँ, चैतन्यशक्तिमात्र हूँ। ऐसा मैं बड़ा हल्का, भाररहित, अमूर्त, अत्यन्त पवित्र सारे पदार्थों में उत्कृष्ट एक चैतन्य वस्तु हूँ। जैसा मैं हूँ वैसा ही सब हैं और जैसे सब हैं वैसा मैं हूँ। ऐसा मैं सचेतना में साधारण एक चैतन्य वस्तु हूँ। यही हूँ और कुछ नहीं हूँ, नाना रूप नहीं हूँ। ऐसा जानकर अपने ही स्वरूप में मस्त रहना सोई सुखका उपाय है, दूसरा कुछ नहीं है।

जगत् के कौन से ऐसे पदार्थ हैं जो सुन्दर हैं, रमणीय हैं, विश्वास के योग्य हैं, मेरे सुख के कारण हैं, मेरे हित के हेतु हैं, ऐसे कौन से पदार्थ हैं? कोई हो तो बतलाओ। मोह के अज्ञान से चाहे यह जंच जाय कि यह मेरे बच्चे, परिवार के लोग यह सब बड़े सज्जन हैं, कल्याणकारी हैं, प्रेम करने वाले हैं,

परंतु जांचो तो उनसे कुछ नहीं मिलेगा। आत्मा के आनन्द का मार्ग साफ नहीं हो सकेगा। उन विकल्पों में अपनी ही अवस्था बिगड़ जायगी, जन्ममरण के चक्कर की फाँस लग जायगी, लाभ कुछ नहीं होगा। और जो प्रेमदर्शन वाले हैं वे तो कषाय के अनुसार अपने ही तो परिणाम कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त मुझमें क्या कर सकते हैं? यहाँसब जीव जो कुछ करते हैं वे खुद अपना परिणाम करते हैं। इनसे बाहर कुछ उनका कर्तव्य नहीं है। उनसे कोई भी बात मुझे नहीं आती, हम उनकी प्रवृत्तियों को देखकर फूले नहीं समाये। वे प्रेम को उत्पन्न कर लें। यह मैं अपना ही तो परिणाम कर रहा हूँ। जिसके बदले मैं खुद ही मुझको कुछ मिलेगा। क्या मिलेगा? आकुलता। अब दूसरा कुछ नहीं मिलेगा। ऐसा जीव बिल्कुल स्वतंत्र है। मगर इस लोक में बड़ी विवशता हो रही है। जैसे कहीं कोई जुवा होता है या कोई ऐसा खेल होता है जिसमें दो आने वाला नम्बर आए। जो खेलेगा उसको पैसा मिलेगा। दो आने, चार आने लगाते जायें, जब पैसे चले-गए तो सोचा जो कुछ बचे हैं वही घर ले चलें। तो पास में बैठे हुए लोग ऐसा कहेंगे कि वह उठ नहीं सकता है। कहेंगे कि बस इतनी ही ताकत थी। उठ नहीं सकेगा। सब लुटाकर अपने घर जायगा। इसी तरह यह सब जीवन लुटाते चले जा रहे हैं और सोचते हैं कि जरा भी समय मिले तो हम झंझटों से हट लें, और अपने घर चलें, लेकिन यहाँ ऐसे वचन मिलते हैं कि वह जा नहीं सकता है। यहाँ वचन ही नहीं, अपितु दर्शन मिलते हैं तथा ऐसे ही समागम मिलते हैं कि जिसे चाहते हुए भी हिम्मत नहीं है कि अपने पूरे बल के साथ अपनी आत्मा में मिलकर प्रभु के दर्शन तो कर लें। कैसा प्रभु का आनन्द है? ऐसा तो निकट संसारी ही साहस करता है। प्रायः यहाँ तो ढला चला शुरू से चला आ रहा है। मना करना, लड़ाई करना ही द्वेष करना, ज्ञान बनाना, इज्जत बनाना, हम भी कुछ जगत् में हैं ऐसा देखना—यह सारे खेल खेला करता है। पर हम अपने को नहीं बचा सकते हैं, न हम अपनी रक्षा कर सकते हैं और न अपने जीवन को बरबादी से अलग कर सकते हैं, न हम अपने परमात्मा के लिये कुछ कर सकते हैं। यह इसी मोह का ही तो कारण है, अपनी ही तो कमजोरी है। जैसे कहते हैं कि 'नाच न जाने आंगन टेढ़ा' कोई साधारण नाच जानने वाला था, लेकिन लोगों से खुद कहा कि हम भी नाच दिखावेंगे। जैसे कोई गर्व से कला दिखाता है कला अच्छी तरह जानता है, फिर भी चार आदमियों के बीच में यदि वह स्वयं दिखावेगा तो कला में कोई फर्क आवेगा। उसने नाचा, किन्तु ठीक नाच न हो पाया। तब उसने कहा कि मेरा नाच तो बढ़िया है, पर जंचेगा नहीं, क्योंकि यह आंगन टेढ़ा है। इसी तरह जीव आनन्द की कला में तो अभ्यस्त नहीं, सो आनन्द मिलता नहीं, दुःखी होता है। वही उस दुःख में अपना अपराध तो देखता नहीं, पर का कसूर कहता है। क्योंकि अज्ञान को अपना रहा है और यथार्थस्वरूप को नहीं देखता है। अज्ञान को बनाता है और दुःखी होता है, स्वच्छन्द बन गया है। मन में जो आये करने को तैयार होता है। जिन पदार्थों में अपना राग मानता है वह करता है, ऐसी अवस्था में दुःख तो होगा ही। दुःख अज्ञान से ही तो होता है। लड़का ठीक नहीं यह बड़ा दुःख है। यह काम नहीं हो रहा है, इसका दुःख है। अरे जगत् के सारे पदार्थ चाहे जो कुछ हों उनसे दुःख नहीं होता है। अपने को ज्ञानस्वरूप देखा तो मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ, ज्ञान करने के अलावा और

मैं कुछ नहीं हूँ। ज्ञान करने के अलावा मेरा कोई काम नहीं है। मैं ज्ञानस्वरूप सर्वस्व हूँ। एक ज्ञान में ही रुचि जगाओ और फिर यदि कोई क्लेश हो तो बताओ। क्लेश की जड़ अज्ञान है। उस क्लेश को मिटाने के लिए सुधार का प्रयत्न करता है। मगर अज्ञान को मिटाने का प्रयत्न नहीं करता है। सेठ अथवा ओहदेदार कोई भी हो, कहीं कहीं पर ऐसे मिलेंगे जो अपना आधे से अधिक समय धर्म में, सत्संग में, दया में, उपकार में, भक्ति में लगाया करते हैं और लक्ष्मी वैसे ही आया करती है। लक्ष्मी जोड़ने से नहीं आती। परिणाम निर्मल हो, परिणाम तृष्णा का न हो, पदार्थों से उपेक्षा का परिणाम हो, अपने आपके स्वरूप में प्रेम हो, स्वयं ही लक्ष्मी आती है। लक्ष्मी आती है वह मुझको भला करने के लिए नहीं आती है, लक्ष्मी प्रायः पतन करने के लिए आती है। आती हो आये और न आती हो तो न आये। मुझमें ऐसी कला है कि सब स्थिति में सुखी रह सकता हूँ। कोई भी परिस्थितियाँ हों सबमें मुझे सुख हो सकता है। ऐसी आत्मा में कला है, बल है, तप है, फिर बाह्यपदार्थों में क्यों झुकता है?

मैं अपने आप स्वरूप को जानूँ, मैं ब्रह्मत्व को पहचानूँ और उसकी दृष्टि से ही सुखी होऊँ यह मेरा लक्ष्य हो।

अच्छा सोचिए पहले हम कुछ थे या नहीं थे। यह बात तो है नहीं, क्योंकि नहीं थे तो आज हो नहीं सकते थे। जो हैं, वह नहीं, नहीं बन सकता। जो नहीं है, वह है नहीं बन सकता। जो सत् है वह मिट नहीं सकता। जो सत् नहीं है वह हो नहीं सकता। हम हैं तो हम पहले भी थे। क्या थे? ऐसे ही कुछ होंगे। मनुष्य हों या देव हों या और कोई हों। कौन था? कुछ था और उसके पहले अनादिसे था कि नहीं था। उससे भी पहले था। तब फिर आप ये कबसे हैं? अनादि से। जन्ममरण होते चले आये, अनन्त भव हो गये, अनन्तकाल हो गया। उन भावों में भी तो कहीं-कहीं बाबा दादा हुये होंगे। अब कुछ उनसे क्या लाभ है? मुझे तो उनका पता भी नहीं। उन भावों का कुछ साथ है क्या? कुछ भी तो नहीं। हित का नाम नहीं, दूसरों के पुण्य का उदय है। जिनके लिये बरबाद होना पड़ता है। अपने सर्वोत्कृष्ट सारतत्व में आवो तो आनन्द मिलेगा। परमें आत्मबुद्धि होना ही दुःख है और अपने आप में अपने आपका अनुभव होना ही सुख है। यह जीव जानने के अलावा और कुछ नहीं करता है। ज्यादा से ज्यादा बढ़ो तो इच्छा कर-लेता है। इसके बाद जो कुछ परपदार्थ में होता है वह आटोमेटिक होता रहता है। निमित्तनैमित्तिक भावों से जैसे होता रहता है उनका करने वाला मैं ही हूँ। अधिक से अधिक इच्छा करने वाला हूँ। इच्छा से आगे मेरी करतूत नहीं है। अब ज्ञान और इच्छा में जहाँ साधारण ज्ञान रहा वहाँ आनन्द मिलता है। और ज्ञान से बढ़कर जहाँ इच्छा में चले गए वहाँ दुःख पैदा हो जाता है। उसका इस लोक में पूछने वाला कोई नहीं है। कहाँ पड़ा है? इसका पूछने वाला कोई नहीं है। इस ही भव की बात देख लो जिन इष्ट पुरुषों का, बाबा पिता आदि का वियोग हो गया उनका अब हम क्या कर रहे हैं, क्या कर सकते हैं? वास्तव में तो उनका तब भी कुछ नहीं करते थे। पहले की बात स्मृति में लाकर जरा देखो तो हम चाहते थे, हम उन्हें पूछते थे, वे हमें पूछते थे। वह कहाँ गए? कोई भी उनका पता नहीं। हम इतना भी नहीं मालूम कर सकते कि बाबा और पिता इस समय कहाँ पर हैं? इतना

सुख यहाँ प्रथम भाग

भी उनके विषय में पता नहीं चल सकता है तो और क्या किया जा सकता है? जो लोग प्रतिवर्ष श्राद्ध आसौज में किया करते हैं कि यह भोजन दे दिया, यह कपड़ा दे दिया, दादा बाबा के पास पहुंच जायगा। उनसे कभी इतना कहते हैं कि अरे तुम हमारे मरने पर श्राद्ध करोगे, जिन्दा में दो कटोरा पानी तो दे दो। जिन्दा में तो उनको दुःखी करते, हैरान करते और मरने पर श्राद्ध करते, ऐसा विचित्र लोक है। मोह के बारे में भी एक ग्रन्थ में लिखा है कि जो लोग आसक्ति करते हैं कि भाई तुम्हारे सुख में मुझे सुख है और तुम्हारे दुःख में मुझे दुःख है, तुम्हारी बेचैनी में हमें बेचैनी है, तुम्हारी जिन्दगी तक हमारी जिन्दगी है और तुम्हारा मरण है तो हमारा मरण है। जिनको ऐसा तीव्र मोह है वह क्या है? निगोद में जो काम करेगा उसका यह अभ्यास कर रहा है। निगोद में एक मरा तो अनन्त मरे, एक जीव का स्वांस हुआ तो अनन्त जीवों के स्वांस हुए, एकका जन्म हुआ तो अनन्त जीवों के जन्म हुए। उसी का तो यहां अभ्यास किया जाता है। वह चैन में है तो हम चैन में हैं, वह मरा तो मैं मरा— ऐसा अभ्यास कर रहे हैं। जिससे निगोद के काम में कोई बाधा न आ सके। यह संसार विचित्र है, गोरखधंधा है, इसमें फंसा रहता है और कोई काम नहीं करता। किन्तु जो ज्ञानी हैं वे बड़े आदमियों की महात्माओं की खबर लिया करते हैं। तो सब इसी कारण से कि वह अनुपम कार्य कर सकता है। जो कार्य हमें करने चाहियें वे सब कार्य किये जाने चाहियें। इसीलिए तो उनकी आराधना करते हैं, नहीं तो कौन आराधना करता है? अब जो आखिर में मर गया है उनकी प्रशंसा करता है, मरते समय सबको छोड़ दिया था कि हमारा कोई कुछ नहीं है और मरते समय प्रभु का नाम लेकर मरे और ऐसा, अपने को कर गये तो उनकी प्रशंसा हुई और कोई अगर ऐसा कहे कि हमारे बाबा मरे और वह मोह करके मरे और बहुत तड़पकर मरे। हाय; मेरा घर छूटा जा रहा है— ऐसा जो कहेगा तो बाबा की प्रशंसा नहीं हुई, निन्दा हुई। प्रशंसा भी ज्ञान में ही है, ज्ञान के बनाने में ही उत्कृष्टता है और ज्ञान का बड़प्पन और महिमा है। यदि सब अज्ञान के विकल्पों को छोड़ दें तो दुनिया में इससे बढ़कर कुछ नहीं है, सबसे बढ़कर यह बात है। लक्ष्मी सम्पदा को तो भाग्य पर छोड़ो और अपने को सदा क्लेश से दूर होने का पुरुषार्थ कर लो, यही उत्तम बात है। सम्पदा का काम श्रम करते रहने से नहीं हो जायगा। वह भी जैसे परिणाम करो आती है। तो पुण्य का उदय अपने परिणाम को निर्मल करने का, समता पैदा करने का, जो जैसा है वैसा समझते रहने का है, पुरुषार्थ कर, कषाय न कर अपने आप में स्वयं झुक और अपने आप में ही प्रभु के दर्शन कर, ऐसा अगर हुआ तो लोकव्यवहार में शांति रहेगी, परिवार के लोग भी सज्जन होंगे, सभ्य बन जायेंगे और हम चाहें कि हम कैसे ही रहें और परिवार को सज्जन बना दें तो परिवार सज्जन नहीं बन सकता है। खुद ही ऐसा है कि जिससे तुम उत्कर्ष करते हो, ऐसा हो सकता है तो कुटुम्बपर असर जावेगा। खुद खोटा है तो उसके परिवार के लोग सभ्य तो नहीं बन सकते, पर जो परिणाम किया जाता है उसका लोक में फल मिलेगा और भविष्य में भी फल है। ऐसा यह ज्ञान रखना कि मैं एक अमूर्त ज्ञानमात्र ज्ञायकस्वभाववाला हूँ, मैं अपने ज्ञान के परिणमन का करने वाला हूँ। इसके अतिरिक्त मेरा कोई सत् नहीं, मैं स्वयं ज्ञानानन्द हूँ। ऐसे स्वरूप के दर्शन करता रहूँ, बस यही एक इच्छा है।

तिर्यङ्नारकदेवानां देहे तिष्ठन् पृथक् तथा।

नृ देहेऽपि नरो नाहं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥१७-३५॥

अर्थ- जैसे तिर्यञ्च, नारकी, देवों के शरीर में रहता हुआ आत्मा शरीर से भिन्न है उसी प्रकार मनुष्य शरीर में भी रहता हुआ मैं मनुष्य नहीं हूँ, इसलिये इस पृथक् शरीर से अपने को भिन्न करके मैं अपने में अपने लिए स्वयं सुखी होऊँ ।

जगत् में जितने भी सत् हैं वे अपने आप में ही सत् हैं । तभी यह सत् रह सकते हैं । यदि कोई पदार्थ दूसरे पदार्थ की चिन्ता करने लगे, उसका कुछ भी सम्बन्ध दूसरों से बन जाय तो जगत् में कुछ भी नहीं रहेगा । न वह खुद रहेगा और जिसे करता है वह न रहेगा । यह पदार्थ है । इसका यही कारण है कि वे सब स्वतंत्ररूप लिये हुये हैं । किसी पदार्थ से किसी अन्यका कोई सम्बन्ध नहीं है । तभी ये पदार्थ हैं अन्यथा सबका अभाव हो जाता । पदार्थों में ५ जो अजीवतत्त्व हैं वे भी पदार्थ हैं । उनमें कुछ गड़बड़ी नहीं । पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इत्यादि ५ तत्त्व हैं । धर्म, अधर्म, आकाश काल इनमें तो कुछ गड़बड़ी प्रश्न ही नहीं, क्योंकि ये त्रिकाल शुद्ध हैं और पुद्गल में भी गड़बड़ी का प्रश्न नहीं है । वहाँ जैसी योग्यता व जैसा निमित्त व संयोग होता है वैसा परिणमन है तो अपना परिणमन होते रहने से जीव पदार्थ है उसमें भी परिणमन ठीक चल रहा है । जैसी योग्यता है तैसा सम्बन्ध होता है, परन्तु यह करता कुछ है और मानता कुछ है । यह इसके अन्दर गड़बड़ी चल रही है । यह गड़बड़ी अन्य पदार्थों में नहीं है, जीव में ही है और इसके ही फल में यह संसार में जन्म मरण का चक्र हो रहा है । यहाँ मोही स्वप्न देख रहा है । ८-१० आदमी ये मेरे हैं जिन्हें आँखों देख रहे हैं, सारे सम्बन्ध जोड़ रहे हैं । अभी यहाँ भी नहीं रहेंगे, यहाँ का ख्याल भी कोई न करेगा और यहाँ वालों को पता भी नहीं रहेगा जो अपना प्रेम देखते रहेंगे अथवा प्रेम कौन देखता है? सब अपने-अपने कषाय का परिणमन कर रहे हैं । यहाँ मैं ही खुद अपने राग की कल्पनायें करके उनकी ओर झुक रहा हूँ । जिनकी ओर झुक रहे हैं यह मेरे मरने के बाद भी यह न जान सकेंगे कि मैं कहाँ हूँ? जो गए हैं उनका क्या पता कि वह कहाँ पर हैं? इसलिये मैं तो सबसे जुदा हूँ । परिवार, मित्रजन कोई भी यह न जान सकेंगे कि मैं कहाँ पर हूँ? मैं अपने में रमने का साहस नहीं करता इसका फल यह है कि जैसे जग के सब जीवों को हो रहा है । यह भव मिला, वह भव मिला । स्थावर, कीट, पशु-पक्षी, कुमानुष, सूअर आदि जितने भी प्रकार के जीव हैं उन सबमें जन्म लिया, मरण किया । यही चला करता है । जो अब यहाँ चाहता भी है कि कुछ तत्व ज्ञान ही मिले, अपने कल्याण की बात ही कर लें, विवेक ही जगे, आवश्यक ज्ञान वैराग्य ही जगे, तब भी लोक समागम व चीजों के संस्कार इनको ज्ञान और वैराग्य में बैठने नहीं देते । यह संस्कार झट उठा देते हैं । यह शरीर इससे बिल्कुल जुदा है । जैसे और देहों को हम विचार लेते हैं कि इनकी आत्मा पृथक् है और यह शरीर पृथक् है । हम झट जान लेते हैं कि आत्मा जुदा जुदा शरीर जुदा जुदा निकल गया है, हम जैसे इसका अनुभव करते हैं वहाँ हम भी इस मनुष्य देह में रहकर अपने को पृथक् जानें । इसकी दृष्टि शुद्ध हो । जैसे इसका सहजस्वरूप है वैसा इसका उपयोग बना तो सब अपना अपने आप हो जायेगा । धर्म में

सुख यहाँ प्रथम भाग

भी अनेक बातें नहीं करना है। केवल एक बात करना है कि शुरू से अंत तक आत्मस्वभाव की साधना करना है। आखिरी तक केवल एक बात करना है कि जैसा अपना सहज अस्तित्व है उस ही में झुकना, उसपर दृष्टि बसाना, उसका ज्ञान करना। प्रथम ही यह कल्याण के लिए ठीक है। मैं एक ज्ञानस्वरूप हूँ, अन्तरदृष्टि करके देखो। बाहर दृष्टि न करके देखो। शरीर जो लगा है उसे भी भुला करके देखो।

केवल अपने आपका स्मरण करके अपने आप में देखो। क्या इसके अन्दर मिलता है? क्या कुछ ग्रहण करने की चीज मिलती है? क्या कोई इन्द्रियों से रूपादि दर्शाने वाली चीज रहती है? इसके अन्दर क्या मिलता है? केवल ज्ञानभाव और इसी को करके आनन्दभाव मिलता है। कैसे विचित्र पदार्थ हैं कि जितने भी हैं सब यहां एकवस्तु हैं। यह ज्ञान है, वह निराधार नहीं। ऐसा केवल जाननेमात्र से एक वस्तु है। जिनका और कुछ काम ही नहीं है और कोई बाहरी पदार्थों से सम्बन्ध ही नहीं है। केवल जानने मात्र से आत्मतत्त्व मिलता है। क्या कोई अन्य पदार्थों से इसका सम्बन्ध है? फिर क्यों इतनी जबरदस्ती परतत्व बसाये हुए हो कि यह लड़का है, यह स्त्री है, यह नाती है और यह पोता है। यह कुछ नहीं है। जरा इसके चैतन्य स्वरूप को देखो। मेरा तो सब कुछ यही है। मेरा कुछ बाहर सत् ही नहीं, यह सब मोह के भासित पदार्थ हैं, यह सब मोह का नशा है। क्या जैसा है वैसा उपयोग बनाया नहीं जा सकता है। ऐसा किये बिना शांति नहीं रहेगी। यह आत्मा एक ज्ञानमात्र वस्तु है और आनन्द स्वभाव को लिये हुए है। कोई आकूलता नहीं रहती - ऐसा स्वभाव इसमें पड़ा हुआ है। जब हम केवल ज्ञानस्वरूप को देखते हैं तो आत्मा कितनी बड़ी है? अरे ज्ञान का नाम ही आत्मा है। जितना बड़ा ज्ञान है उतनी ही बड़ी आत्मा है। ज्ञान कितना बड़ा है? देखो कितना बड़ा है जितनी जानकारी है उतना ज्ञान है। सारे विश्व की जानकारी है तो सारे विश्व जितना ज्ञान है। असंख्याते लोकप्रमाण है। इतना ही नहीं वह सर्व आकाश प्रमाण है। परन्तु उसमें जो दूसरा आनन्द स्वभाव पड़ा है उस आनन्दस्वभाव की दृष्टि से देखते हैं तो जितने में यह पिंड का फैलाव है, इसके प्रदेश का फैलाव है उतनी बड़ी आत्मा है। आनन्द का अनुभव होता है तो आनन्द प्रदेश की सीमा में होता है और जब ज्ञान का फैलाव होता है तो सारे विश्व में अनुभव होता है। इस का स्वरूप ही जगमग ज्योति है। यह तो ज्ञान का स्वरूप है। सारे लोक का प्रमाण ज्ञान हो गया और यह आत्मा का स्वरूप है। मग आनन्द को कहते हैं। और जग ज्ञान को कहते हैं। मैं जगमगस्वरूप हूँ, ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ, आत्म तत्त्व हूँ। ऐसा यह आत्मा मैं अगर कदाचित् प्रदेश में फैलता है तो सारे लोक में फैल सकता है। इसलिए मैं लोक-प्रदेश बराबर असंख्यातप्रदेशी आत्मा हूँ। यह सब जितना है मैं अपने शरीर में ही अपने आपको पाता हूँ। क्योंकि आनन्द का सीमामें ही सम्बन्ध है अथवा कर्म के वश आत्मा शरीर प्रमाण रहता है। इस कारण प्रमाण रहता है। इस कारण शरीरप्रमाण ही चला आया है। जिस शरीर में यह क्षेत्र है उस शरीर में यह आत्मा है। यदि ठीक दृष्टि से देखो तो शरीर जुदा है। आत्मा अपने भीतर में रहती है।

जैसे दूध और पानी एक गिलास में मिला दिये जायें, एक एक पाव तो गिलास में दूध है और सब पानी है। और स्वरूप दृष्टि से देखो तो पानी अपने स्वरूप में है और दूध अपने स्वरूप में है। यदि

कोई यंत्र है तो उससे दूध अलग हो जायगा और पानी अलग हो जायगा। इसी तरह यह शरीर और आत्मा भी पानी और दूध की तरह मिले रहते हैं। जिस जगह आत्मा है उस जगह पर शरीर है। अन्तर मिटने तक रहता है। शरीर के एक क्षेत्रावगाह में आत्मा भी पड़ा हुआ है। इतना होते हुये भी शरीर का असर शरीर में और आत्मा का असर आत्मा में होता है। हर तरह के भाव से यह आत्मा शरीर से जुदा है, ज्ञानानन्द पिंड है, आत्मा अपने अमूर्त प्रदेश में है और शरीर अपने मूर्त प्रदेश में है। आत्मा अपनी शक्ति में है और शरीर अर्थात् ये परमाणु अपनी शक्ति में है। आत्मा अपने प्रदेश में रहती है। शांति, विकल्प, शोक, क्रोध इसमें रहता है तो शरीर रस बदले, गंध बदले, इन बातों में रहता है। शरीर निरन्तर अपना काम कर रहा है और आत्मा निरन्तर अपना काम कर रहा है। इसलिए यह शरीर आत्मा से सभी बातों में अलग रहता है और यह आत्मा अपने में अलग रहता है। लेकिन मोहवश अज्ञानवश अपनी जुदाई अपने को समझ में नहीं आती तो बाहर में संतोष ढूँढ़ते, बाहर की बातों का अनुभव बढ़ाते और बाहर सुख ढूँढ़ते हैं। किसी भी पदार्थ से कुछ नहीं मिलेगा। किसी भी बाहरी पदार्थों से कुछ नहीं मिलेगा। अच्छा शरीर से ही देखो अच्छी इन्द्रियों का विषय साधनभूत पदार्थ हैं। उससे भी कुछ नहीं आयेंगा। मैं ही धर्म से चलूंगा, मैं ही अपना बनूंगा और अपने में झुकूंगा, यदि इस बुद्धि से चलूंगा तो मेरे दुःख मेरे से ही मिट जावेंगे। जगत् में अनेक भव मिटते चले गए अथवा अनेक भवों में जो भी जन्म लिया है एक भी भव का स्मरण नहीं है। अनेक भव बीत गए परन्तु एक भी भव अपने को स्मरण नहीं है। जब एक भी भव आपको स्मरण नहीं आ रहा है तो फिर और की गिनती ही क्या है? जैसे उन अनंतों की कुछ याद नहीं इसी प्रकार इस भव की भी कुछ याद नहीं रहेगी। तब हम हिम्मत करके कि मैं इस जगत् में अणुमात्र भी नहीं हूँ। किसी को तू न मान कि मेरा है, क्या यह बात हो नहीं सकती है। देखो सब जुदा जीव हैं, उनके कर्म ही उनके साथ हैं। शरीर जैसे जुदा है आत्मा भी ऐसे ही जुदा है। कौन सी ऐसी चीज है कि वह उसके भीतर है, कोई नहीं। अज्ञान करके बुरा ही फल मिलेगा, जिद और हठ करके बुरा ही फल मिलता है। जिद करने का, भ्रम करने का फल बुरा है।

एक किसान था। वह हल चला रहा था। बीच में एक सांप आया और बैल के पैर के नीचे आ गया और घबड़ाकर उसने थोड़ा सा उस किसान के दांत मार दिया। उसे थोड़ी सी रिस बढ़ गयी, मगर सांप के विष से वह पागल सा बन जाता है। सो वह डंडा लेकर बैलों को बहुत तेजी से मारने लगा। कहने लगा कि मेरे ऊपर पैर क्यों रख दिया है? सांप के विष का असर पड़ गया था, सो बैलों को बहुत पीटा। इतने में एक वृद्ध आदमी आया, उसने बहुत समझाया कि न मारो बैल मर जायगा। तुम्हारे पास केवल दो बैल हैं। अगर एक बैल मर गया तो किससे जीतेगा, क्या खायगा, परिवार कैसे चलेगा? कुछ सोच समझ में आया तो छोड़ दिया।

इस तरह जब स्वरूप के विरुद्ध हम करते हैं। भीतर से बाहरी पदार्थों को मान लेते हैं कि यह मेरे हैं। इस अज्ञान सर्प का ऐसा विष चढ़ जाता है कि जिसका कुछ कहना नहीं। जरा इन्द्रियों को सुहावना लगा तो हम मानते हैं कि बहुत अच्छा है। हठ कर लेते हैं, विवेक नहीं कर पाते हैं, २४ घंटे हम कषाय

में रहते हैं तो इसका फल कौन भोगेगा? खुद को ही भोगना पड़ेगा। दुष्टकर्म का उदय आयेगा तब ऐसी कुस्थिति आवेगी, जन्म मरण के चक्कर आवेंगे, सुख दुःख में घूमना पड़ेगा। समय फेर में ज्ञान का खोटापन बना रहेगा और वर्तमान में कितनी ही विपत्तियों का भार रहेगा। बात जरासी है कि यह भीतर से कल्पनायें ही तो करता है कि यह मेरी है। पर इसका फल कितना बड़ा है? सारे संसार को लिये हुए है, यह उसी का फल है कि सारे संसार में दुःख रहता है। यहां चूहे, बिल्ली, केंचुवे, कुत्ते, गधे जो-जो नजर आ रहे हैं किसी की टांग टूटी है, किसी का पेट फटा है वह सब मूल की भूल का परिणाम है। ऐसे यहां देखो कि जीव कितने आते हैं यह सब क्या है? यह सब भी अपने मोह का फल है। अन्तरस्वरूप सत्ता की खबर न रखी तो इसका बड़ा कुफल होगा। यह सब हमारी ही गलती का बड़ा फल है, मेरा फल है, मेरे लिये फल है। यदि वह भूल छूट जाय तो मैं यथाशीघ्र आनन्दमय बन जाऊं, मैं सर्वज्ञ बन जाऊं। यद्यपि सर्वज्ञ बनने से लाभ नहीं है मगर सर्वज्ञ बन जाना पड़ेगा। लाभ कुछ नहीं मगर स्वयं ऐसा है कि बनना पड़ेगा। अगर शुद्धदृष्टि रखोगे तो बनना ही पड़ेगा। लाभ उतना है कि यह दुःख जाल सब खत्म हो जायेंगे। भगवान् के शुद्ध परिणमन से लाभ तो उतना ही है कि विपदायें सब समाप्त हो गईं। जब स्वरूप शुद्ध होता है तब अनन्तज्ञानी होना ही पड़ता है। इसका प्रयोजन भी कुछ नहीं, मगर ऐसा होना ही पड़ता है।

मैं सर्व पदार्थों से भिन्न सत्ता वाला एक आनन्दमय तत्त्व हूँ। इसके अतिरिक्त मेरा और कुछ नहीं है। ऐसा उपयोग करके अमृत का पान करूं तो मैं अमर हूँ। मैं यदि इससे हटू तो मेरे सामने दुःख हैं, सुख हैं, यह विपत्ति हम बना डालते हैं। जैसे सब पदार्थ हैं वैसा मैं पदार्थ हूँ। क्या हूँ? सब परिणमते हैं, मैं परिणमनशील हूँ, मैं शक्तिसम्पन्न हूँ। सब ठीक हो रहा है, मगर जहां मूल में भूल हुई तो उसका फल अत्यंत बुरा है। मोह ऐसा ही फल करेगा। जैसे किसी का किसी से विकट झगड़ा हो जाय। कंचहरियां चलने लगे, उनका धन बरबाद हो जायगा। पुलिस की पिटाई भी चलेगी। एक दूसरे की जान लेने को तैयार हैं। इस लड़ाई के मूल कारण को यदि सोचा जाय तो उसमें कोई जान नहीं, कोई सार नहीं मिलेगा। वह मूल कारण अंत में झूठा ही मिलेगा। अपना कुछ नहीं है, मगर जब अंगीकार कर लिया तो बुरा फल हो रहा है। वैसे देखो तो कोई ज्यादा भूल नहीं है। यहां केवल सोच लिया कि परपदार्थ मेरे हैं। इतना ही तो किया, मगर इसके फल में सारे संसार में रूल गया। यही सबसे बड़ी भूल है। इसमें जाता सब कुछ है और मिलता कुछ नहीं, अतः यह भूल छोड़कर मैं अपने स्वरूप का अनुभव करूं और अपने में झुककर अपने सत्य आनन्द का अनुभव करूं।

अन्योऽन्यत्वेन दुःखं स्वं स्वत्वेन सुखपूरितः।

यत्स्वदृष्टितः स्वार्थे स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१३६॥

अर्थ— अन्य पदार्थ अन्य होने से दुःख ही है निज आत्मा निज होने से सुखपूर्ण ही है, अतः निजदृष्टि से निज के सत्य प्रयोजन में प्रयत्न करूं, और अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊं।

जैसे लोग कहा करते हैं कि जो अपना है सोई अपने काम आयेगा, सोई सुख देगा और जो पराया है दूसरा है वह अपने काम नहीं आयेगा, वह अपने सुख का कारण नहीं बनेगा। दूसरा तो दूसरा ही है। वह तो मेरे लिये व्याधि है। दुःख है और सुख है तो वह ही है। वह अपने लिये सुखमय है। इसका स्पष्ट मतलब क्या है कि जो मैं हूँ, सोई मेरे लिये सुखरूप है और जो पर है वह मेरे लिये सुखरूप नहीं, बस परवस्तुका रूप मेरे लिये सुख नहीं है। मैं पर मैं जाऊँ तो वह मेरे दुःख का निमित्त होता है। स्व स्व में परिपूर्ण है और जो स्व नहीं है, पर है वह दुःख का ही निमित्त हो सकेगा। जगत् में जितने भी पदार्थ हैं वे अपने ही गुण और पर्याय में हैं, अपने ही गुण और पर्याय में तन्मय हैं। ऐसे अपने गुण पर्याय में तन्मय को सुन्दर बताया है और किसी का कुछ गुण या कुछ पर्याय किसी अन्य में तन्मय है—ऐसी दृष्टि को विसंवादक बताया है। केवल समझकी शैली में ही सब कुछ निर्भर है। संसार में रुलना, संसार से छूटना केवल एक समझपर निर्भर है। विपत्ति में पड़े रहना या आत्मीय आनन्द का अनुभव करना एक समझ पर निर्भर है। हर तरह से सम्पन्न हो जाना केवल समझ पर निर्भर है। लोक में भी बड़े धनी, इज्जत वाले, नेता, राजा महाराजा, चक्रवर्ती इत्यादि हो जाना और दरिद्र, भिखारी, कीड़े, मकौड़े स्थावर हो जाना केवल समझ पर ही निर्भर है। जैसी सच्ची समझ है वैसी सब कुछ सम्पत्तियाँ हैं और जैसी उल्टी समझ है वैसी सारी विपत्तियाँ हैं। मोही अज्ञानी पुरुष किसी भी स्थिति में रहे, चाहे वह धनी हो गया हो, चाहे वह राज्याधिकारी बना हो, किसी भी स्थिति में हो। यदि उसके मोह और अज्ञान हैं तो उसके फल में तो उसे अशान्ति ही रहेगी। चाहे कुछ बन गया हो, क्योंकि उपादान में तो दुखी होने की बात भरी हुई है। मोह करता है तो शान्ति कहाँ से आए? यही कारण है कि यह देखा जाता है कि छोटे से लेकर बड़े तक इस लोक में दुःखी नजर आ रहे हैं। कोई सोचता है कि लखपति सुखी होगा, क्योंकि इसके पास लाख की माया है, पर लखपति स्वयं समझते हैं कि करोड़पति सुखी होगा, क्योंकि इसके पास बड़ा वैभव, बड़े महल हैं, नौकर चांकर हैं, बड़े बड़े अफसर भी इसको प्रणाम किया करते हैं। पर उनकी आत्मा के भीतर का ढांचा देखो तो वहाँ भी दुःख नजर आयेगा। वह सोचता है कि अरबपति सुखी है। सर्वत्र ही जिधर देखो दुःख ही नजर आयेगा। इसका कारण है कि सुख दुःख का निर्णय बाहरी चीजों पर निर्भर नहीं है। वह अपने ज्ञान और अज्ञानपर आधारित है। जब तक अज्ञान रहता है, उल्टा ज्ञान रहता है तब तक यह जीव दुःखी रहता है। जब ज्ञान होता है तब वह सुखी हो जाता है।

बड़ा महान् हो जाय, चक्रवर्ती हो जाय, अत्यन्त वैभव हो जाय और एक अपने स्वरूप का पता न हो तो उसे अशान्ति ही रहेगी। चाहे वह जो कुछ हो जावे, यह बस अनुभव तथा उन महापुरुषों को जिन्होंने यह निर्णय किया पर को छोड़कर केवल आत्मदृष्टि करो केवल आत्मापर जायें याने अन्तरदृष्टि रहे। मैं अमूर्त, भावमात्र, चैतन्यशक्ति, आनन्द ज्ञानमात्र, सबसे अच्छा, अपने स्वरूप सत्ता मात्र, यह मैं आत्मा स्वयं अपनी दृष्टि में बना रहूँ। इसके अतिरिक्त मेरे में कोई न आवे, उपयोग में अन्य कोई नहीं बसे, ऐसी ही उन्होंने आराधना की, तो क्या था? सत्य बात यह थी। परमार्थ की बात यह है कि परमार्थ

सुख यहाँ प्रथम भाग

स्वरूप जाने बिना जो उनके आगे जाता है झांझ मजीरा से, बाजों से तथा संगीतों से उनकी आराधना करता है, वह केवल श्रम है। तत्त्वदृष्टि करके जो उनके लिये अपना सर्वस्व सौंप देता है, झुक जाता है, नम जाता है, उनके योग को अनुभूत किये बिना अपने जन्म को निष्फल समझता है, वह कामयाब हो सकता है। हम प्रभु की भक्ति क्यों करते हैं? क्योंकि वह सर्वदृष्टा है, जो हमें करना चाहिए, वह उनसे मार्ग मिलता है। इसी कारण हम उन पर बार-बार अनुरक्त हो जाते हैं, सब कुछ न्यूँछावर करने को हम तैयार हो जाते हैं। यह जगत् की इकट्ठी की हुई माया विकार है, अनर्थ है, स्वयं लाभ करने वाली नहीं है। अन्य तो अन्य ही है, पर तो पर ही है, अत्यन्त जुदा है। मुझमें इस आत्मा में कुछ बन नहीं पाता। प्रत्युत परकी ओर झुकें तो क्लेश ही थोड़ा आता है, क्योंकि परकी ओर झुकना यह अज्ञान है, वहां क्लेश ही क्लेश है। एक कथानक है जो सुनाया भी था कि दो स्त्री-पुरुष थे। जिनके नाम थे बेवकूफ और फजीहत। दोनों में लड़ाई हो जाती थी और थोड़े ही में मेल हो जाता था। उनमें लड़ाई चलती ही रहती थी, पर उससे कुछ बिगड़ नहीं जाता, क्योंकि जल्दी मेल भी हो जाता था। एक दिन ऐसी लड़ाई हुई कि दोनों ने घर छोड़ दिया। वह बेवकूफ गांव में जाकर पूछता है कि क्यों भाई, हमारी फजीहत देखी है? पूछा - क्यों क्या भाग गई? कुछ उत्तर नहीं दिया। ५ से पूछा, ८ से पूछा, कुछ पता न चला। एक अपरिचित आदमी था। पूछा कि भैया, तुमने हमारी फजीहत देखी है। उसने पूछा कि तुम्हारा नाम क्या है? बोला कि मेरा नाम बेवकूफ है। उसने कहा कि भाई बेवकूफ होकर भी तुम्हें क्यों फजीहत की तलाश रहती है? जरा उल्टा बोल लो, उससे ही दूसरे लोग लाठी, घूंसा, जूते इत्यादि मारने के लिए तैयार हो जावेंगे। तुम्हें तो हर जगह फजीहत मिल जावेगी।

इसी तरह यहां भी जो अज्ञानी हैं, मिले हुए स्वरूप को नहीं अपनाते, अपनी ओर नहीं झुकते, अपने में वह प्रभु समाया हुआ है— ऐसा जब तक नहीं जानते और बाह्यपदार्थों को तरसेंगे और उनकी तरफ झुकेंगे— ऐसे अज्ञानी बने रहेंगे। ऐसे मोही जब तक बने रहेंगे तब तक इस मोही की विपत्ति की क्या कमी है? किसी भी स्थिति में रहें। धन बढ़ गया तो क्या? अच्छे कुल वाला बन गया तो क्या? कुछ भी हो जाय। आत्मा की वर्तमान स्थिति तो पर्याय ही है। कुछ भी बन जाय मगर विपदा नहीं छूटेगी, चाहे तीन लोक में उसकी सम्पत्ति एकत्रित हो जाय। वह सम्पत्ति उसके हाथ में आयेगी क्या?

यह मैं स्वयं दृढ़चैतन्यस्वरूप हूँ, इसमें दूसरे का प्रवेश नहीं। यह खुद ही अपने को बुरा बनाकर, बुरा देखकर दुखी हो रहे हैं। इसको दुःखी करने वाला दुनिया में दूसरा नहीं है। अन्य तो अन्य ही हैं, पराए तो पराए ही हैं, उनसे मेरी भलाई की मुझे क्या आशा? मैं, मैं ही हूँ, मेरे से मेरे को मैं ही कल्याण स्वरूप होता हूँ। ऐसा हमें होना चाहिए। यह मैं स्वयं ज्ञानानन्दमय हूँ अथवा गुणों की प्रति समय परिणतियां हो रही हैं। बस इतनी बात है कि जब किसी पर की ओर दृष्टि करके परिणति बनती है तो केवल अज्ञान और दुःख की परिणति बनती है। सब कुछ बनाने वाला मैं ही हूँ। आत्मा के सुझाव से आत्मकल्याण होता है, स्वयं होता है, भरपूर होता है। ऊपर से ही दुःख होता है आनन्द तो पड़ा हुआ है। क्योंकि आनन्दस्वरूप मैं ही हूँ। पर यह जीव प्रभु है ना। तू अपनी बर्बादी इस प्रकार बतला

रहा है कि बाहरी पदार्थों की दृष्टि करके अपने में आनन्द प्रगट करेगा, अन्य जगह से आनन्द नहीं लाना है। केवल जो अपना क्लेश बना रक्खा है उसका परिहार करना है। देखो यह बात अन्य पदार्थ से नहीं होगी। अन्य पदार्थ तो यदि किसी काम में निमित्त हो सकता है तो उसके उल्टे काम में ही निमित्त हो सकता है। केवल अशांतिका ही निमित्त हो सकता है। जन्म मरण के चक्कर में पड़े रहना पसंद हो तो परपदार्थ इसमें निमित्त हो सकता है। परन्तु परपदार्थ हमारे किसी हितके कामके नहीं, सूक्ष्मदृष्टि से देखो तो यहां तक देखते चले जाओ। सत्संग है, संत हैं, परमात्मा है, ये भी तो परपदार्थ हैं। परमार्थ सभी मेरे भलेके लिए नहीं होते। मेरी भलाई उनसे बाहर रहनेमें है। पर अपेक्षित बात होने से ऐसे ही कहा जाता है कि सब साधु, संतदेव ये सब मेरे हितकर हैं। जैसे परमार्थदृष्टि से वे प्रभु बने हैं, उनसे ही दृष्टि करने का उत्साह इनमें मिलता है। संत, देव, साधु, गुरु, सत्संग इत्यादि जिन परिणामोंमें निमित्त होंगे वे परिणाम शुद्ध होंगे। साधारण शुद्धपदार्थ की दृष्टि में प्रत्येकको विवाद नहीं। शुभ अशुभमें आपको विवाद है। पर वह ऐसा शुद्ध है जो मोक्ष मार्गमें हमें अधिक बाधा न दे। जैसे कोई आदमी शिखरजी के पहाड़ पर चढ़ रहा है। दो, ढाई मील चढ़ने पर अधिक थक गया। एक वृक्षके नीचे बैठ गया १० मिनट के लिये। हमें बतलाइये कि वह जो १० मिनटके लिये बैठ गया, वह यात्रामें साधक है या बाधक ? उस जगहपर बैठ जानेसे यात्राका काम रुक रहा है या बन रहा है? परमार्थसे साक्षात् देखो तो रुक रहा है एक दृष्टि से देखो तो यात्रा का काम बन रहा है क्योंकि वह थक गया था, आगेको चल नहीं सकता था। वह स्फूर्ति लेगा। शक्ति लेगा। इसको क्या कहेंगे? उस १० मिनटके बैठनेको साधक भी कह सकते हैं। बाधक भी कह सकते हैं। परमार्थ से तो बाधक है ? परम्परा से साधक भी है। इसी तरह से यह शुद्ध परिणाम हमारा मोक्ष मार्ग में साधक है ? या बाधक है ? परमार्थसे तत्काल तो वह बाधक है, क्योंकि तत्काल तो वह एक विकल्प अवस्था है परन्तु वह जहां विषयकषाय में रहनेसे अधिक हानिमें था, आत्मबल शिथिल हो गया था, अपने आपको खोया हुआ सा बैठा हुआ था, सो तो अब साधुओं, सन्यासियोंके स्मरणके प्रसाद से स्फूर्ति आ रही है, एक बल पैदा हो रहा है। उस विषयकषायसे दूर होकर आत्मा के अंतरमें जाऊंगा— इस स्फूर्तिके योग्य बन रहा है। देव-गुरु भक्तिमें वस्तुतः वह भी तो एक विकल्प है अतः बाधक है, पर एकदृष्टिमें वह साधक है अथवा किसी भी परपदार्थमें दृष्टि करें तो वह साधक है अथवा मैं किसी भी परपदार्थ में दृष्टि करूं, तो मेरे किसी काममें निमित्त हो सकता है। शांतिमें आत्मबुद्धि ज्ञानके अनुभवमें कोई निमित्त नहीं हो सकती है। इसका कारण यह है कि वह अनुभूति जिसको हम ज्ञानमें रख रहे हैं वह स्वाधीन है। मैं एकसे उत्पन्न होने वाला हूँ। एकमें उत्पन्न होने वाला हूँ। मेरा दूसरों से मेल नहीं है। मुक्ति का, किसी शुद्ध आनन्द का, किसी कल्याण का, किसी दूसरे से मेल नहीं है। इसीलिए जहां भी होंगे अकेले ही होंगे, सहज होंगे, स्वरूपमात्र होंगे, अन्य तो अन्य ही है। वह तो जितना भी जब कारण होंगे तब विकल्प के कारण ही होंगे। परन्तु यह ज्ञानानन्दधन, यह आत्मतत्त्व आनन्द से परिपूर्ण स्वयं है। सो आनन्द का आश्रय करने से आनन्द ही होगा। तो मैं अपने ही अर्थ में अपने ही प्रयोजन में अपनी ही दृष्टि बनाकर कोशिश करूं और अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

मेरी जिम्मेदारी करने वाला इस लोक में कोई नहीं, मेरी शरण, रक्षक, अधिकारी, मालिक इस लोक में कोई नहीं है। अरे दूसरों की आशा करना क्या है? वह दूसरे भी सब मेरी ही तरह असहाय हैं। दुःख में, क्लेश में पैदा होकर चक्कर काट रहे हैं। जैसा मैं हूँ, वैसे वैसे ही सब हैं।

जैसे नदी में डूबते हुए चार छः आदमी हैं जो तैरने का काम नहीं जानते हैं और इकट्ठे एक जगह आ गए हैं। गहरे पानी में उनमें एक को दूसरे से क्या आशा है? क्या वे एक दूसरे का हाथ पकड़कर बच सकेंगे? वह तो सब डूबने के लिए हैं।

इसी तरह इस विभावमय संसार में डूबते हुए प्राणी, परिवार सब अथाह जल में डूब रहे हैं तो हम कैसे उद्धार कर सकते हैं? यह किसी मोह को बसाकर उपयोग में सुख शान्ति की आशा करते हैं। यहां कोई रक्षक नहीं, तेरा रक्षक तू ही है। साधुओं ने गुरुजनों ने चेतावनी दी है, जागते रहो लुटेरे हैं, श्रद्धा से लुटोगे। फिर तुम्हें कौन माफ कर देगा? अपना जिम्मेदार अपने को मान मोह में बहे चले जाना यह सब क्या अविवेक नहीं है। जैनधर्म का पाना न पाना बराबर है। जैन सिद्धान्त कहता है कि सत्यस्वरूप एवं निष्पक्षस्वरूप वस्तुओं को स्वयं पहचान लो। वस्तुओं को ज्ञान में रक्खो और परीक्षायें कर लो। परपदार्थों से तुम्हें कुछ नहीं मिलेगा।

हे आत्मन् ! खुद के स्वरूप वाले, खुद की सत्ता वाले तुम हो, फिर यह किसको अपना माना है, किसे अपना स्वरूप माना है? अपने ही काम के लिये अपने ही आप अपनी ही दृष्टि लगाकर स्वयं सुखी होने का प्रयत्न करो। सुख अपने आप में ही मिलेगा।

आत्मलाभस्पृहैव कामे तदन्यत्रास्तु मा गतिः।

नश्यत्वन्तर्जगच्चादः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥१७॥

अर्थ- मेरी तो एक आत्मप्राप्तिकी ही इच्छा है उससे अन्य स्थान में मेरी गति न हो, और यह अन्तर्जगत भी नष्ट हो जावे जिससे मैं अपनेमें अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

ज्ञानी पुरुष सदा सहज आनन्द की ही भावना करते हैं। जो अपने आप जैसे हैं तैसा ही अपना स्वरूप निरखते हैं, वे ज्ञानी पुरुष हैं। उन्हें विकार स्वीकार नहीं है। सर्वविकार से हटे हुए निज स्वभाव की दृष्टि वाले हैं। वे एक शुद्ध चैतन्यस्वभावमात्र अपने को निरखा करते हैं, इस ही में उनको लाभ जंचता है। अतः वे आत्मा को आत्मा में रमाते हैं। ज्ञानी आत्मा ने अपनी दृष्टि से अपने को अपने में मिलाकर अनुपम ज्योतिका दर्शन किया है। किसी भी पर में उनको लाभ नहीं दिखता है। इसी कारण से ज्ञानी पुरुष ऐसी भावनायें रखते हैं कि मेरी तो केवल आत्मलाभ की ही चाह है। यह जो सम्पत्तियां आती हैं, पुण्योदयवश आती हैं। उनमें किसी प्रकार की आसक्ति का होना तो बहिरात्मपने की बात है। ज्ञानी को उसमें भी बहुत वियोग बुद्धि बनी रहती है। इस विभूति से, इस नटखट से मैं कब अलग होऊँ, कब अपने आप में अपने आप को देखूँ-इस प्रकार इस समस्त जाल में वियोग बुद्धि रहती है। केवल एक चाह है, जैसा मैं सहजस्वरूप हूँ वैसे मैं अनुभव में रहूँ, वैसे उपयोग में रहूँ, केवल एक यही चाह

है। इसके अलावा कहीं मेरी बुद्धि न जाय। वैसे तो भुक्त भोगी के नाते सभी को विरक्त हो जाना चाहिये क्योंकि विपत्तियां तो सभी में आती हैं, वे तो सभी में दौड़ती हैं, किंतु मिथ्यात्व की ऐसी प्रबलता है कि दुःख के गड्ढे में भी हंसकर बसते हैं। अब ज्ञानी के निकट संसार है। सम्यक्ज्ञान का उदय है, इस कारण जो भीतर का अनुभव होता है, उसका स्मरण होता है और उन स्मृत अनुभवों से उनके दिल में यह बात घर कर लेती है कि परपदार्थों में आत्मबुद्धि लगाने से शान्ति मिलना तो दूर की बात है अशान्ति ही अशान्ति रहती है। समस्त पदार्थ उन्हीं समस्त पदार्थों में हैं, उनकी सत्ता अन्यत्र नहीं रहती। उनसे मेरी परिणतियां नहीं बनती और न आकुलता ही समाप्त होती है। घर में पुत्र है, माता पिता हैं, स्त्री है, चाहे कैसे ही आज्ञाकारी हों, वे अपने कषायभाव के कारण आज्ञाकारी बने हुए हैं, वे अपने सुख की आशा से आज्ञाकारी बने हुए हैं। कोई दूसरी वजह से आज्ञाकारी नहीं बने हुए है। आपको सुखी करने के लिये वह आज्ञाकारी नहीं है। वह खुद अपने को सुखी करने के लिये आज्ञाकारी बने हुए हैं। और ऐसे जितने भी जगत् के जीव हैं उनकी जो-जो चेष्टायें हैं अपनी ही शान्ति की आशा से हैं। आपको शान्ति की चाह है तो आप में कोई आशा बनना आपकी अपनी शान्तिके लिये है। जब आप के चित्त में यह बात जम जायेगी कि उनकी तो मेरी शान्ति की चाह है, तो आप उन लोगों के लिये परिश्रम करेंगे सुखी करने के लिये। पर परमार्थ से कोई किसी को शान्ति नहीं कर सकता और न चाह सकता है। कभी लगता होगा ऐसा कि चाहा तो करता है कोई दूसरों की शान्ति, किन्तु ऐसा नहीं है। अपने को शान्त रखने के लिये कोई ऐसा करता है वह न दूसरों को शान्ति कर सकता है और न दूसरों की शान्ति चाहता है, चाह ही नहीं सकता। दूसरों की परिणति से दूसरों का रंच भी सम्बन्ध नहीं तब ऐसे पदार्थ मुझ से विमुख हैं। कितनी ही आराधना करें, ध्यान करें, परपदार्थ कभी भी मेरी ओर नहीं आ सकते हैं। वह तो अपने में ही रहेंगे। जब जगत् का ऐसा स्वरूप चल रहा है तब किसी भी परपदार्थ को अपना मानना यह कितनी मूढ़ता है, लगती है अपने को मामूली बात, किन्तु इसका फल होता है अनन्त संसार। अपनी मोह ममता बड़ी सस्ती रहती है। मोह करना, प्रेम करना, परपदार्थ को अपना मानना कितना सस्ता लगता है, किन्तु यह मंहगा बहुत पड़ेगा। नरक में कुयोनियों में रहकर दुःख भोगना पड़ेगा।

भैया! अब तो सजग रह ले, सावधान हो ले और विवेक कहते हैं किसको? यथार्थ विवेक ज्ञानी पुरुष से छिपा हुआ नहीं है। देखो ना अब तक सब कुछ चाह चाहकर सारे समय व्यतीत कर डाले, पर इस आत्मा के साथ क्या रहा? इस ही भव में बचपन से लेकर अब तक कितने प्रकार की चाहें कीं, उन चाहों से जो कुछ लाभ हुआ हो तो बताओ, वे सब स्वप्न की बात रह गई। गई सो गई उनमें जो विकल्प और पाप कर डाले उनका फल तो कुछ है नहीं। बाकी तो इन पापों का फल जब समय आयेगा, होगा। होगा क्या? बरबादी होगी। पाप ही केवल हाथ है। पाप क्या कोई अच्छी चीज है? यही तो दुःख का कारण है और यदि अपने उस ज्ञानमय चैतन्यस्वरूप की इच्छा हुई, इस ओर दृष्टि द्वारा प्रयत्न हुआ तो कुछ पल्ले भी रहेगा। मैं बाहर की ओर रहा इससे मेरे पल्ले कुछ भी नहीं पड़ा अब केवल

यही चाह है कि मेरे में केवल आत्मस्व रूप का ही उपयोग बना रहे। यह समस्त जगत् जैसा है वैसा जानता भर रहूँ। यह मेरे दुःख का कारण नष्ट हो जावे, यह मैं नहीं चाहता क्योंकि वह दुःख का कारण ही नहीं है उसे दुःख का कारण समझें और जो सुख का कारण नहीं है उसे सुख का कारण समझें। बस ये ही खोटी समझ मेरी दूर हो, यह बाह्य जगत् दूर हो। इसका भी मुझे विकल्प नहीं। यह कहाँ दूर होगा? यह भी सत् है। यह सदा रहेगा। केवल मुझमें उठने वाली तरंगे समाप्त हो जायें। बाह्य पदार्थों से बिगाड़ समझते हैं, वह समझ मेरी दूर हो। यह बाह्य जगत् नष्ट हो यह मैं नहीं चाहता यह अन्तर जगत्, मेरी भीतर की दुनिया, भीतर का संसार, भीतर का कुटुम्ब, भीतर के विकार ये सब समाप्त हों—यह मेरी चाह है। बाहरी पदार्थ आपके भीतर नहीं है। वह तो वह ही है, आप आप ही हैं, किन्तु किसी एक जीव में वह मेरा पुत्र है, ऐसी जो भीतर की कल्पनायें हैं ये आपको दुःखी कर रही हैं। बाहर का कोई कुछ नहीं है—हां भीतर से कल्पना में बस गया कि यह मेरा पुत्र है, यही कल्पना पुत्र बनकर आपको दुःखी कर रही है। बाहर कोई आपका पुत्र नहीं। इसी तरह धन वैभव की बात है। बाहरी धन वैभव से आप अपने को धनी न अनुभव करें। मेरे पास कितना धन वैभव है? इस प्रकार की भीतर में जो कल्पनायें आ गई हैं। उन कल्पनाओं से अपने को धनी अनुभव करते हो, बाहरी वस्तुओं से आप पर कुछ असर नहीं है। क्योंकि बाहरी पदार्थों को सोच सोचकर तो अपना परिणाम बनाते हैं उन परिणामों का क्या असर है। मुझमें मेरा असर है दूसरे में मेरा असर नहीं। आपका आप पर असर है, दूसरे पर नहीं।

कभी कोई साधारण आदमी को किसी कारण से कचहरी में जाना पड़ता है तो बाउण्डरी में पैर रखते ही दिल कांपने लगता है, और जज को देखकर उसकी हुलिया बिगड़ जाती है। क्या उस जज का असर उस आदमी पर है? नहीं, उस आदमी पर असर उसकी बेवकूफी व देहातीपने के उपयोग का असर है। वह सब उसका अपना असर है, जिसका जज को देखकर दिल घबड़ा गया। जैसे कोई कहता कि मैं वहां नहीं जाऊंगा, अरे क्या उसे कोई दूसरे खा लेंगे? खुद ही मैं खुद का ही असर पड़ता है, किसी दूसरे का असर नहीं पड़ता है। मुझमें जो असर है वह मेरे अंतर जगत का असर है। इस बाह्य जगत का असर नहीं। मैं जो कुछ कार्य कर सकता हूँ सो अपने विकल्प और निर्विकल्प स्थिति का कर सकता हूँ, उससे आगे मैं कुछ नहीं कर सकता हूँ। मैं जो कुछ भी भोग सकता हूँ, मैं अपने ही परिणाम को भोगता हूँ। इसलिए किसी अन्य पदार्थ को तू अपना न मान, अन्य पदार्थों से तेरा कुछ सम्बन्ध नहीं है। अन्य अन्य ही है, मैं, मैं ही हूँ। वह अपने आप परिणमते हैं। मैं अपने आप परिणमता हूँ। उनकी दुनिया उनमें है। मेरी दुनिया मेरे में है। मेरा किसी से रंच भी सम्बन्ध नहीं। राम, लक्ष्मण का जब तब संयोग रहा, सम्बन्ध रहा, राम की वजह से लक्ष्मण ने शांति पाई हो तो बताओ, लोग कह देंगे कि वाह उसने उसका साथ किया सुख ही तो दिया। पर परमार्थ से, भीतर से वहां अशांति ही रहती है। राम के वियोग की बात को सुनकर लक्ष्मण के प्राण निकल गये और लक्ष्मण के प्राण निकलते देखकर राम पागल से हो गये। रामचन्द्र को शान्ति कब मिली? जब समस्त बाह्य पदार्थों को त्याग दिया और अपने

में रमे तब उनको शान्ति मिली? सीता जी मोह के राग में विचरती रहीं, उनकी सारी कहानी देख लो। उनको शान्ति कब मिली जब सम्यक् ज्ञान के जोर से अपने आप ज्ञान किया और उसमें ही लीन हुई तब शान्ति प्राप्त हुई। इस जीव को इस जगत् में कोई शान्ति देने वाला नहीं, कोई दुःखों से दूर करने वाला नहीं। अपना यह विवेक, अपना यह ज्ञान अपनी रक्षा कर सकने वाला है।

इसी कारण ज्ञानी जीव के ऐसी भावना जगती है कि मेरे को केवल आत्मा का लाभ हो, यही इच्छा है। परमार्थ दर्शन के अतिरिक्त, ब्रह्म प्राप्ति के अलावा अन्य किसी में मेरी मति न जावे, अन्यत्र कहीं भी मेरी मति न हो। मेरा यह अन्तर जगत् नष्ट हो। मैं इस दुनिया के बीच में ही हूँ, और रहूँगा, सदा रहूँगा। सिद्ध प्रभु को देखो वह भी मुक्त होकर दुनिया से बाहर नहीं है, दुनिया में ही है। राम, हनुमान इत्यादि महापुरुष सिद्ध हो गए और सिद्ध होकर इस दुनिया के अन्दर हैं दुनिया से बाहर नहीं। मोक्ष स्थान इस लोक के अन्दर ही तो है। इस लोक से बाहर नहीं है। दुनिया में रहने से मुक्त आत्माओं का कोई बिगाड़ नहीं, पर मैं दुनिया में रह लूँ तो मेरी ही बर्बादी है, जैसे नाव पानी में रहती है, वह जल को छोड़कर जावे कहां, पानी में नाव रहने से बिगाड़ नहीं किन्तु नाव में पानी रहने से बिगाड़ है, नाव पानी में बैठ जायगी। मैं दुनिया में हूँ इससे मुझमें बिगाड़ नहीं, पर मैं दुनिया को बसा लूँ तो मैं ही बिगाड़ करने वाला बन बैठा हूँ। यही बिगाड़ है, अंतर जगत् की सफाई कर लो, वाह्य की सफाई की चिन्ता न करो। हमारा अंतर जगत् हमने किया है तो अपने अंतर जगत् के मिटाने का हमें अधिकार है। इस अंतस्तत्त्व के बनाने का, समुन्नति करने का हमें अधिकार है, हमें अपने आप में ही कुछ बनाने या मिटाने का अधिकार है, किसी दूसरे को बनाने का अधिकार नहीं है, और मेरी ही यह उन्नति मेरी ही आत्मा की उन्नति का नाम है, और उन्नतिका उपाय है कि परमार्थ का दर्शन किया जाय, कितने लाभ की बात है सदा के लिये छूटने की बात है, अत्यन्त पवित्र हो जाने की बात है और उसका उपाय भी कितना सरल है, कितना मुफ्त है। अपने में दृष्टि ला लाकर औरवाह्य पदार्थों को भूल भूलकर केवल ज्ञानमय, चैतन्यमात्र, जगमगस्वरूप ही अपने को मान लो। इतनी बात में कितना आनंद भरा है? इसके उत्थान का यही उपाय है कि जिसको समता करने वाला और कुछ नहीं है, और उसे करने के लिए हम सब समर्थ हैं। कीड़े-मकोड़े होते तो कहा जाता कि हम विवश हैं, कोई खोटा संग होता तो मैं कहता कि भाई मैं क्या करूं विवश हूँ। यहां तो आराम है, कमाई से भी किसी की चिन्ता नहीं करना है, खूब खाते पीते हो अन्यथा शिकायत तो कहीं भी समाप्त न होगी। हजार और लाख की भी आमदनी हुई तब भी कुछ नहीं है। ऐसा विचारने में क्या देर लगती, ऐसा बोलने में जीभ के हिलाने में क्या देर लगती? वैसे तो सब कुछ है कोई कष्ट नहीं, तृष्णा की बात अलग है। लाखों की आमदनी भी हो तो और चाहिए। ऐसा सोचा जा सकता है। यह तो आपके मन की बात है।

यदि आप शान शौकत दिखाते हैं तो यह अधर्म की बात है। पर कोई चिन्ता नहीं, कोई बात नहीं आराम से रहते हो। ज्ञान इतना हो गया है कि सोचने समझने की शक्ति है, धर्म को पकड़ने की शक्ति है, आत्मा के तत्त्व को पकड़ने की शक्ति है। ऐसी अवस्था में भी हम अपने में जरा भी हिम्मत

नहीं कर सकते तो क्या विवेक है ? जैसे जाड़े के दिनों में कुछ लड़के मिलकर तालाब में नहाने जाते हैं तो तालाब के पास गए और किनारे के पत्थर पर या भीत पर बैठ गये। नहाने में डर लगता है, जाड़ा लग रहा है। पानी में कैसे जावें? उनको शांति नहीं है। पर चबूतरे से कूदकर पानी में गिर जावें तो आधे मिनट में ही सब जाड़ा खत्म हो जाय। वह एक सेकेन्ड का साहस तो करें, इतना कर लें और फिर अच्छी तरह नहाकर अपने घर आ जावें, पर इतना साहस नहीं करते हैं, बैठे रहते हैं और ब्रातें करते रहते हैं, हिम्मत नहीं करते हैं तो बिना नहाए ही घर चले आवेंगे। इसी तरह भैया हम धर्म करने के लिए चाहे जो चाहते हैं, परन्तु किसी क्षण हम यथार्थ पूर्णतया मान जायें, हम अपने कल्याण के रास्ते में लग जावें।

बहुत से लोग ऐसे हैं जो धर्म की ओर आते ही नहीं हैं और धर्म की ओर आने की भीतर से प्रवृत्ति ही नहीं है। कितने ही मनुष्य भरे पड़े हैं। हम आप तो कितना निकट आ गए हैं। जो वाणी सुनते हैं, इसके तत्व को हृदय में रखते हैं, कल्याण की इच्छा भी रहती है। अभी थोड़ा काम और बाकी है। किसी क्षण वस्तु के स्वरूप को देखकर हिम्मत तो कर लो कि यह मैं चिच्चमत्कारमात्र आत्मा हूँ मेरे स्वरूप में केवल मैं ही हूँ। अन्य जीव के स्वरूप में केवल वे ही हैं। उनसे मुझमें कुछ नहीं आता और न मेरे से कुछ उनमें जाता है। किसी से किसी का कुछ सम्बन्ध नहीं। इस तरह अपने शुद्ध स्वसत्तामात्र चैतन्यस्वरूप को मान लेने की हिम्मत तो बनाओ। फिर अनुभव का आनन्द पाकर अपने घर में मौज से बैठो, परमात्मा की तरह सदा आनन्दमय रहोगे, संसार के सारे विकल्प समाप्त हो जायेंगे। ज्ञानी मनुष्य की केवल एक चाह है कि उसको शुद्ध आत्मतत्त्व लाभ हो, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मेरा यह अन्तर जगत् नष्ट हो और मैं अपने में अपने लिए अपने आप सुखी होऊँ।

यत्र चित्तस्य न क्षोभः स्वे वैकान्ते वसन्त्यहम्।

जनव्यूहे हितं किं मे स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥१७-३८॥

अर्थ— जनसमूह में मेरा क्या हित है? इसलिये जहां चित्त को क्षोभ न होवे ऐसे निज आत्मा में अथवा एकांत में मैं रहूँ और अपने में अपने लिए अपने आप सुखी होऊँ।

जहां चित्त को क्षोभ नहीं है, मन में अशान्ति नहीं है, आकुलता व्याकुलता नहीं है, ऐसे विज्ञानधन स्वरूप अपने में मैं रहूँ। वह अपना कहां है तो परमार्थ से देखो तो वह अपना अपनी आत्मामें ही है। अपने आपकी आत्मा को शुद्ध, सबसे निराला, अपनी सत्तामात्र जैसा सहजस्वरूप है उस रूप को निरखता हूँ। मैं सबसे उत्कृष्ट स्वयं एकान्त हूँ, मनुष्य के सम्पर्क में हूँ तथा मैं मनुष्य हूँ आदि विकल्प के सम्पर्क में तो अशांति आयेगी। मैं एकान्तवासी हूँ। जैसा शुद्ध एकाकी निजस्वरूप है उस स्वरूप में बसने को एकान्त का निवास कहते हैं और जहां अपने स्वरूप से हटकर किन्हीं विकल्पों में पड़े बस वह एकांत से पृथक् है। बाह्य एकान्त निश्चय एकान्त के तैयार करने में सहायक है। बाह्य एकान्त से शान्ति नहीं आती, पर अन्तरङ्ग एकान्त से शान्ति आती है। यह आत्मस्वरूप शान्ति और आनन्द का भण्डार है। इसको अकेले निरखो, शुद्ध विधान से देखो तो इसमें से शांति और आनन्द प्रगट होगा और यदि इसमें कुछ दूसरापन

आ गया तो शांति और आनन्द में कमी पड़ जायगी। इस मनुष्य के समूह में क्या कुछ हित है? इन विकल्पों के बीच में पड़कर बहुत हानि है। विकल्प करते-करते अनन्तकाल व्यतीत कर डाले, पर आज देखो संसार का प्राणी किस परिस्थिति में है। इस जगत् के प्राणियों ने जगत् के अन्य जीवों को अपना माना। इतनी हैरानी कर डालने पर भी जिधर देखो उधर जीव दीन हीन ही बसे हैं। आज जो हम आपने स्थिति पाई है उसमें अपना काफी उद्धार का उपाय किया जा सकता है, पर उस अपने को अपना काम करने की रुचि होनी चाहिये। जो अपने थोड़े समय के लिये जैसे आया है वैसे ही मिट जाता है, वह अपना गौरव कायम नहीं रख सकता है। यह जगत् एक मायाजाल है। इस जगत् में जो वाह्य आनन्द मिलता है उसमें भी यह प्राणी दुःख ही पाता है। अतएव इस वाह्य सम्पर्क की रुचि में कोई हित नहीं है। मेरा जो विकल्पजाल है, वह जंजाल है।

हम समाज में गृहस्थी में रहते हुए भी फंसे नहीं हैं, क्योंकि जो विकल्प नहीं रखते हैं वे नहीं फंसे होते हैं। यह आत्मा तो एक ही है, अपने स्वरूप में है। इसका इससे बाहर कुछ नहीं है, किन्तु अनुभवे तो होना आवश्यक है। उसके लिये भी क्या करना है? बस समझना ही समझना है। बाहर से किसी को कैसा ही मान ले, इसमें कुछ बाहर से फेर पड़ने का नहीं, बस अपने आपको मान लो। ये पर बुद्धियां तो सब चक्कर हैं। इन्हीं में पड़े हुए हो। मान लो कि यह मेरा लड़का है, इससे आत्मा में क्या गुण हो गया? अरे वह मेरा नहीं है, वह तो एक दूसरा पदार्थ है। मेरा किसी भी पर से कुछ सम्बन्ध नहीं। सब अपनी-अपनी कषाय में चलते हैं। किसी पर को मान लेने से कुछ अपना हो जाता हो, ऐसा नहीं है। पर को अपना मान करके अपने को अंधेरे में और डाल लेते हैं। अपने स्वरूप का अनुभव किसी प्रकार हो कर लो। बस एक ही कार्य कर लो जिसका सानी और कुछ नहीं है। ऐसा भी कोई निरापद स्थान है तो वह है जहां आत्मा का शुद्ध दर्शन है। जिसको इस उपयोग में विराजमान कर हम शान्त रह सकते हैं। जनसमुदाय में, परिणामन बुद्धि में हम क्या कर सकते हैं? अपने एकान्त में हम रहें तो अपने मर्म का हम पता लगा लेंगे। समस्त आपदाओं को सहकर भी मैं इस निज एकान्त में बसना चाहता हूँ।

आज जो रक्षाबन्धन का दिन है। क्या हुआ था कि इसी दिन इस तिथि को आज से लाखों करोड़ों वर्ष पहले चतुर्थकाल में एक महान् ७०० ऋषियों में अथवा ऋषिगणों में जिनमें अकम्पनाचार्य प्रमुख थे, वे सब इसी हिन्दुस्तान में एक बार उज्जैन नगरी में एक जगह ठहर गए। वहां बहुत से लोग दर्शनार्थ गए हुए थे। राजा भी गया। उन मंत्रियों को भी साथ में ले जाना पड़ा था जो धर्म से द्वेष रखते थे। अकम्पनाचार्य जी ने निमित्त से यह जान लिया कि यहां कोई विपत्ति आवेगी। सब मुनियों से कह दिया कि यहां सबका मौन रहेगा जब तक यहां ठहरेंगे। जब यहां सब दर्शन को गये तो मोही मंत्री भी दर्शन करते रहे किन्तु किसी ने उनको कुछ नहीं कहा। मंत्री कहते थे कि राजन् देखो ये सब बेवकूफ हैं, मूर्ख हैं, वे सब समझते होते तो बात तो करते। वापिस जाते हुए उन मंत्रियों को श्रुतसागरजी मिले, जो आहार करके वापिस आ रहे थे और जिन्होंने आचार्य जी का उपदेश न सुन पाया था। उन मुनिजी से मंत्रियों

ने विवाद छेड़ दिया। परन्तु विवाद में वे मंत्री हार गये। मंत्री लोग अपने अपने घर चले आए और उन्हें इस गति का बहुत बड़ा धक्का लगा। जब यह घटना आचार्य को मालूम हुई तब यह सोचकर कि संघ पर संकट आयेगा, सो श्रुतसागरजी को विवाद स्थान पर ही रात्रि में प्रतिमायोग करने की आज्ञा दी। रात में सब मंत्री तलवार लेकर पहुंचे। श्रुतसागर जी को देखकर मंत्रियों ने सोचा कि इसी को मारो। सबको मारने से क्या फायदा? मंत्रियों ने श्रुतसागरजी पर तलवार एक साथ चलाई पर वे मंत्री कीलित हो गए। एक भी तलवार उनपर न लगी। राजा भी सुबह आए, बोले— इन मंत्रियों को फांसी दी जायगी। आखिर मुनि ने वन देवता से कहा कि इनको छोड़ दो। यह सब अपने अपने कर्म के अनुसार सुख दुःख उठाया करते हैं, सबको छोड़ दिया। मुनिजनों ने मंत्रियों का प्राणदण्ड राजा से हटवा दिया। किन्तु राजा ने गधे पर चढ़ाकर उन मंत्रियों को देश से निकाल दिया। ये मंत्री हस्तिनापुर में पहुंचे, वहां पद्मराजा के मंत्री हो गए। यह राजा सिंहबल को आधीन करने के लिए चिन्तित था। इन मंत्रियों ने हरा करके सिंहबल को पकड़ लिया। तब राजा ने मुंहमांगा इनाम मांगने को कहा, कि जो चाहो सो मांग लो। बलि मंत्री ने कहा कि अभी भण्डार में रख लीजिये, जब चाहूंगा मांग लूंगा। कुछ समय बाद वे साधु हस्तिनापुर पहुंचे, बलि ने बदले का मौका देखकर कहा कि महाराज हमारा वचन भण्डार में है सो दीजिए। राजा ने कहा, ले लो, क्या चाहिये? तब मंत्रियों से सलाह लेकर बलि ने कहा कि महाराज हमें ७ दिन का राज्य दे दो। बस क्या था राज्य मिल गया। अब तो बलि ने उन साधुओं को बाड़े में बेड़ दिया। अपवित्र वस्तुयें जला दीं, और ईन्धन भी। सब लकड़ी कंडा आदि में आग लगा दी। साधु जलने लगे। श्रावण शुक्ला चतुर्दशी की रात थी। श्रवण नक्षत्र कांपा, कहीं पर्वत पर बैठे दूसरे मुनि ने ज्ञान से जाना। उन्होंने एक क्षुल्लक जी को मुनि विष्णुकुमार के पास भेजा। क्षुल्लक जी ने कहा कि महाराज ऐसा उपसर्ग हुवा है आपको विक्रिया ऋद्धि है, आप उसे दूर कर सकते हैं। विष्णु जी ने विक्रिया ऋद्धि जानने को हाथ पसारा, पसारते ही रह गए। तब राजा के यहां मुनिराज विष्णु बावनरूप धारण कर पहुँचे। बोले—महाराज हमें कुछ मिलना चाहिये। महाराज ने कहा कि जो चाहो सो मांग लो। मुनिराज विष्णु ने कहा कि महाराज हमें तीन कदम भूमि चाहिये। महाराज बोले कि १००, ५० कदम मांग लो, तीन कदम से क्या होगा महाराज विष्णु ने तीन ही कदम माँगी। मुनिराज विष्णु से बलि ने संकल्प किया। तब मुनिराज विष्णु ने अपना रूप बढ़ा लिया। एक पैर तो मेरु पर्वत पर, दूसरे से मानुषोत्तर पर्वत घेर लिया। अब तीसरा पैर रखने को जगह नहीं रही। अब राजा बलिका बस नहीं चलता कि वह क्या करे? सब लोग थर्रा गए। कहा, महाराज कष्ट निवारण करो, शांत होओ, मुनिराज विष्णु ने अत्याचारी मंत्रियों को धिक्कारा व उपसर्ग शान्त कराया।

तब से यह रक्षाबन्धन चला है। धर्म के कार्यों में सब सावधान रहो व अपनी रक्षा करो। कैसे भी उपद्रव आवें हम उनसे विचलित न होकर अपनी ओर दृष्टि करें। धर्म में हानि होती हो तो उसे भी न होने दें। अधर्म को खुद न होने दें, इसका यह सूत्र है।

जिसने अपने बल से ऋषियों के उपसर्ग दूर कर दिये, वह मुनिराज विष्णु थे। कितने ही संकट

थे, महान् आत्माओं, ७०० ऋषियों की रक्षा करके विष्णु मुनिराज समाधिविचलन का प्रायश्चित्त लेकर फिर समाधिस्थ हो गए। महात्मा लोग फिर अपनी तपस्या में लग गए।

इस जगत् में अपना क्या है? यह परिवार, कुटुम्ब इत्यादि त्याग करके यदि अपने धर्म की रक्षा करनी पड़े तो धर्म की रक्षा कर लो। यदि तुम्हारे अंतरंग में धन, वैभव इत्यादि का मोह आए तो उसका त्याग कर लो। मेरी बुद्धि धर्म के कार्यों में हो, बुद्धि निर्मल हो, ज्ञानमय हो, ज्ञान का प्रसार हो, धार्मिक कार्यों की प्रीति बढ़ावे। ऐसे कार्यों के लिए अपना कुछ उत्सर्ग भी करना पड़े तो वह भी करना चाहिए।

मेरा धन मैं ही हूँ। मैं ही सब कुछ हूँ। इस संसार में यह शरीर नहीं रहेगा, यह घरद्वार भी नहीं रहेगा, यह धन वैभव इत्यादि भी यहां कुछ नहीं रहेगा। यह सब अपनी अपनी परिणति से है और अपनी ही परिणति से चले जावेंगे।

जगत् वाह्यपदार्थों में मोह की नींद का जो स्वप्न हो रहा है, इसमें नाना विकल्प जग रहे हैं और कीचड़ अपने में लपेट रहे हैं जिसके फल में भविष्य का फल भी बिगड़ेगा। अपने शुद्ध फल को बनाने के लिए और दूसरों से बर्बादी न होने देने के लिए साधारण सहज भाव में अपने अपने उपयोग को बनाते रहें। हम इस सहज चैतन्यस्वरूप से बढ़कर कुछ नहीं हैं। धर्म ही आनन्द की खान है। ऐसे धर्म में हम लगे रहें। यदि धर्म के कार्यों में हमारे क्षण गुजरे तो समझो कि हमारा जीवन सफल है और मोह चिन्ता में अगर हमारी क्षणें गुजरती हैं तो समझें की जहां हमारी आखें मुंदी तहां सब कुछ यहां का यही खत्म है। परमार्थ से तो जब अपन गए ही। यदि धर्म की ओर हमारी दृष्टि है तब जीवन सफल है अन्यथा नहीं।

ऐसा कौनसा स्थान है जहां रहने पर क्षोभ नहीं हो, वह स्थान बाहर कहीं भी नहीं मिला। क्योंकि वाह्य से अपने आपसे कोई सम्बन्ध नहीं है, बाह्यपदार्थ न तो क्षोभ का कारण होता है और न शांति का कारण होता है। वह स्थान तो स्वयं यह ध्रुव आत्मा है, जो अपने सब परिणमनों का स्रोत है, आधार है, वह मैं ही हूँ। यह मैं सबसे निराला, शुद्ध चैतन्यमात्र भगवान् आत्मा हूँ, ज्ञानमय हूँ, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि रूप मेरा परिणमन होता है, किन्तु ये सब पर्यायें हैं दूसरे क्षण नहीं रहती हैं। ये सब रूप पर्याय ये जिस शक्ति की होती हैं वह शक्ति मैं हूँ, वह है ज्ञानशक्ति। वह ज्ञानशक्तिमात्र मैं हूँ। ऐसा यह मात्र ज्ञानस्वरूप मैं स्वयं एकांत हूँ। इस एकांत में मैं बसू तो वहां कोई क्षोभ नहीं है। ऐसे इस निज सहज ज्ञायकस्वभावमय अपने आपमें मैं रहूँ और स्वयं स्वयं में सुखी रहूँ। सुखका अर्थात् आनन्द का एकमात्र उपाय यही है। आनन्द यहीं हमारी आत्मामें है। यह सहजआनन्द तो प्रगट होने के लिए अनादि से इसी की बाट जोह रहा है किन्तु यह रागादि भाव उस पर अनादि से ही पानी फेर रहे हैं। यह रागादि भाव मात्र मायाजाल है। यहां सारा ठोस चीज कुछ नहीं मिलती, कैसे मिले यह रागादिक भाव स्वयं सत् तो हैं नहीं, यह एक परिणमन है सो वह परिणमन भी जीव के स्वरूप से उठा हुआ भी नहीं, यह तो अज्ञान में एक कल्पना हो गई जो प्रकृति के निमित्त से जीव में एक झलकरूप है। उसकी अमूलता का पता

सुख यहाँ प्रथम भाग

ज्ञानियों को है, इसी कारण वे रागादिभाव में आस्था नहीं करते। अज्ञानी जीवों को न तो अपना पता है और न रागादिभावों की असारता का पता है। इस कारण बिना पता लिखे या गलत पता लिखे लिफाफे की तरह यहां वहां डोला करते हैं और जिन चाहे विषयों में आसक्त होते रहते हैं। आसक्त ही हो लेवें; पल्ले कुछ उनके पड़ता नहीं है, कारण कि पर वस्तु से पर में कुछ परिणति नहीं आती और न परपदार्थ पर कोई अधिकार है कि मनमाफिक उसे पास रखलें या परिणमन करा दें। अनहोनी बात तो कभी होगी नहीं परन्तु अज्ञानी जीव अनहोनी को होनी करना चाहते हैं। इसका परिणाम केवल यह होता है चित्त में उनके क्षोभ होता रहता है।

जहां चित्त को क्षोभ न हो ऐसा यह तो सम्यक्त्व है, अपने शुद्ध स्वतः सिद्ध स्वभाव का उपयोग है। जब कभी जिस किसी प्रकार का क्षोभ हो उसका तात्त्विक और सत्य इलाज केवल एक यही है, करना भी यही चाहिए, हमको जब कभी कोई क्षोभ हो, तो सर्व विकल्पजालों को असार अहितकर जानकर उनसे मुख मोड़कर आनन्दनिधान ज्ञानघन निज सहज परमात्मतत्त्व की उपासना करने लगें। मैं सर्व परपदार्थों से अत्यन्त भिन्न हूँ, अतः शुद्ध हूँ। मैं सर्वाङ्ग नमक की डली में जैसे खार है वैसे ही विज्ञानघन एकरस हूँ, ऐसा चित्त्वभावमय हूँ अतः शुद्ध हूँ। मैं समस्त बाह्य उपाधियों से व आन्तरिक उपाधियों से अनादिमुक्त हूँ, ऐसा चित्त्वभावमय हूँ अतः निरंजन ही ऐसा मैं स्वयं धर्मस्थ हूँ, एकान्तस्वरूप हूँ। इस ही निज तत्त्व में रहकर मैं अपने में अपने आप आनन्दमय रहूँ, अन्य समूह से कोई प्रयोजन नहीं, किन्हीं भी विकल्पों से मेरा कोई हित नहीं।

हितैषी हितयन्ताऽस्मि हितज्ञोऽस्मादहं गुरुः।

अस्यैव साक्षितायां शं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥१७-३६॥

अर्थ— हित का चाहने वाला, हित का जानने वाला, हितरूप वर्तन में लगाने वाला मैं हूँ, इस कारण स्वका गुरु वास्तव में मैं ही हूँ इसकी छत्रछायामें मैं सुखी हूँ, इसलिये मैं अपने में अपने लिये आप सुखी होऊँ।

हित का चाहने वाला मैं ही हूँ, और हित की बात को जानने वाला भी मैं ही हूँ और हितरूप बर्ताव में रहने वाला भी मैं ही हूँ। इसलिये मेरा गुरु मैं ही हूँ। इस मुझ आत्मतत्त्व का साक्षी बना रहे तो इसमें ही सुख है। अन्य पदार्थों की उपासना में उनके आदर में, उनके आकर्षण में रंच भी हित नहीं है। यह आत्मा अनन्तगुणों का पिण्ड है। जिनमें मुख्य हैं ज्ञान दर्शन, चारित्र्य, सुख, शक्ति आदि। ये गुण इसमें अनादि से हैं और अनन्त काल तक रहेंगे। ये गुण इसमें एक ही हैं और एकरूप ही रहेंगे। ध्रुव हैं किन्तु इनका प्रतिसमय परिणमन कोई न कोई चलता रहता है। जैसे पुद्गल में रूप है, रस है, गंध है, स्पर्श है, चारों शक्तियां हैं और उस पुद्गल परमाणु में प्रतिसमय कोई न कोई परिणमन होता रहना आवश्यक है। जैसे रूप में उसका परिणमन चाहे काला हो, पीला हो, लाल हो, सफेद हो या इसके मेल वाला कोई रंग हो, पर होता रहना आवश्यक है। इसी प्रकार आत्मा में जो गुण हैं वह तो अनादि अनन्त हैं, किन्तु इसका जो परिणमन है वह परिणमन सादि सान्त है और मिट जाता है, और

यही आत्मा अगर अपने स्वरूप में जो इसमें ज्ञान है उस ज्ञान का परिणमन कर ले तो इतना ही यह कर पाता है। तब यह इच्छा जिसके वश में सारा जगत है, जिसके कारण विवश होकर मिथ्यात्व, अन्याय, अभक्ष्य का सेवन करता है। ऐसी इच्छा यह है क्या? यह इच्छा आत्मा की चारित्र शक्ति का विकार है, आत्मा का जो चरित्र गुण है, जिसका स्वाभाविक विकास आत्मा में रम जाने का है, सो स्वाभाविक विकास न होकर वैभाविक विकास जब चलता है तो यह परिणमन होता है। चारित्र गुण के विकार लोभ, मोह आदि हैं। लोभ की ही एक प्रकार की इच्छा है, और इच्छा जीव में होती है और अपने जीव को ही चाह सकता है। मैं क्या चाह सकता हूँ? क्या मैं धन चाह सकता हूँ? धन कभी नहीं चाह सकता हूँ। आप क्या धन की चाह करते हैं? आप धन नहीं चाह सकते हैं। आप जो चाहते हैं सो अपने आपको ही चाहते हैं। धन को नहीं चाहते, वैभव को नहीं चाहते, इज्जत प्रतिष्ठा को नहीं चाहते। आप जो चाहते हैं, वह अपने को चाहते हैं। जगत् के सभी जीव केवल अपने को चाहते हैं, दूसरों को नहीं चाहते। क्योंकि यह एक परिणमन है और वह परिणमन आत्मा में ही हो रहा है, तो उस परिणमन का कार्य आत्मा में ही है, तो चाह में आत्मा ही चाहोगे। धन नहीं चाहोगे मैं धनी कहलाऊँ ऐसा अपने को चाहते हो। धन को नहीं चाहते, परन्तु ऐसी शुद्ध दृष्टि मोह में नहीं हो पाती है। आत्मा की ऐसी चाह होते समय तो वस्तुतः कोई भी प्राणी अपने से बाहर किसी को नहीं चाह सकता। जो चाहता है वह अपने को चाहता है। मैं धनी कहलाऊँ ऐसी चाह है पर धनकी चाह नहीं है।

अपने आप में जो तरंग उत्पन्न होती है उसकी ही वह जीव चाह करता है। चाह की बात तो दूर रही, बाहर किसी भी चीज को यह जीव जानता नहीं, जानता है तो अपने को। बाह्य पदार्थों को नहीं जानता है। यह जीव स्वतंत्र ज्योतिस्वरूप है। इस कारण इसका स्वरूप जानने का है। सो सब कुछ जो कुछ इसमें प्रतिबिम्बित हो, ग्रहण हो, सो इसकी ज्योति को जानता हूँ। धन को, वैभव को, कुटुम्ब को न जाना, पर अपने आप में जो आकार आया है उसको जाना, बाह्यपदार्थों का जो आकार आया है उसको तू जानता है, बाह्यको नहीं जानता।

जैसे एक दर्पण को सामने रखें तो हम केवल दर्पण को देख रहे हैं पर पीठ पीछे दशों चीजें दर्पण में झलकेंगी। हम तो केवल दर्पण को देख रहे हैं पर उसमें दिखता है कि अमुक आदमी को देख रहा हूँ, अमुक लड़के को देख रहा हूँ, अमुक पेड़ को देख रहा हूँ। हम दसों को क्या देखते हैं? हम तो दर्पण को देख रहे हैं। दर्पण में दसों चीजों का आकार बन गया, प्रतिबिम्ब आ गया, जिस पर उनको देखकर हम दस चीजों का बयान कर देते हैं। इसी तरह हम केवल अपने को जानते हैं कि अपने में इन सब चीजों का बयान कर देते हैं। इसी तरह हम केवल अपने को जानते हैं कि अपने में इन सब चीजों का आकार आ गया है। हम बताते हैं कि हम जानते हैं, पंखा जानते हैं, बिजली जानते हैं, सब कुछ जानते हैं। पर वास्तव में अपने को ही जानते हैं। यह अंतरात्मा ज्योतिर्मय है। सबका आकार आ जाता है। हम जानते हैं, अपने आप में वर्णन करते हैं सारे जगत् का। अब बतलाइए कि जब तुम्हारा इन पदार्थों के साथ जानने तक का भी सम्बन्ध नहीं है तो फिर यह मेरा है, यह उसका है, यह

सुख यहाँ प्रथम भाग

सुख देता है। यह संबंध कैसे हो? कोई पदार्थ किसी अन्य का कुछ है — ऐसी मान्यता करना यह सब भूल है। आपकी आत्मा दूसरे को साक्षात् जानती भी नहीं है। केवल अनन्तकारी होने से इस अनन्ताकार रूप परिणमते हुए आत्मा को जानता है, वाह्य चीजों को नहीं जानता। जब हम इन पदार्थों को जानते ही नहीं हैं, जानने तक का भी इनसे सम्बन्ध नहीं है तब भला अन्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध ही क्या है?

यह मैं आत्मा जगत् के सब पदार्थों से अछूता हूँ। यदि मेरा भवितव्य अच्छा है, मुक्ति मेरी निकट है, अल्पकाल में ही भगवान् होने वाला हूँ तो यह ज्ञान मुझमें जग जायगा कि मैं दुनिया में सबसे अछूता हूँ। मैं जग के सब पदार्थों से न्यारा हूँ, किसी से छुवा हूँ ऐसा नहीं है। ऐसा अबद्ध अस्पष्ट यह आत्मा मैं अपने नजर में आ जाऊँ। मैं अपने आपको, अपने आपकी आत्मा को अपने ज्ञान की ओर बिना छुवे हुए देख सकूँ। यह बात तो तभी आयेगी जब निकट काल में परमात्मा होने वाला होगा। आप जब निकट काल में परमात्मा होने वाले होंगे तो अन्तर में ज्ञान जगेगा और अपने आपको अछूता शुद्ध चैतन्यस्वरूप नजर आयेगा। यदि अपने आपको पर्यायमात्र ही मानते रहें तो इसके फल में क्या होगा? संसार के जन्म-मरण के चक्कर में ही तो जाना होता है। मनुष्य से मरकर पशु होते हैं और पशु से मरकर अन्य योनियों में जाना होता है। ऐसे ही योनियों में चक्कर लगाना पड़ता है तो संसार के पदार्थ जिन्दगी भर तक छोड़ नहीं सकेंगे। अतः आत्मा को बड़ा बनाने का समय है। यह महान् बनेगा तो इसकी सद्बुद्धि चलेगी और इसको ऐसे ही रहना होगा तो मोह में वाह्यपदार्थों में ही जकड़ा रहेगा। यह बड़े सौभाग्य की बात है जो इस आत्मा को अपने शुद्ध ज्ञानस्वरूप में देखें। इससे बढ़कर ऊँचा भवितव्य और नहीं कहा जा सकता है। स्वप्न में बड़े हो गये तो क्या वह बड़प्पन आगे रहेगा? बल्कि स्वप्न में देखा हुआ बड़प्पन थोड़े समय बाद में दुःख करेगा। जैसे एक कथानक में कहते हैं कि कोई घसियारा था। वह सिर पर घास का गट्ठा धरे जा रहा था। साथ में ४, ५ घसियारे और थे। और एक पेड़ के नीचे बोझ उतार कर आराम से लेट गये। उनमें से एक घसियारे को नींद आ गई। नींद में स्वप्न आ गया। स्वप्न में देखता है कि लोगों ने उसे राजा बना दिया है। एक अच्छा महल है। बड़ी हाल में अनेकों दरवाजे लग रहे हैं। बड़े-बड़े राजा मुकुटधारी आ रहे हैं। लोगों के द्वारा प्रशंसा हो रही है। गाने ताने हो रहे हैं। सब झुक रहे हैं। इतने में एक घसियारा जागता है और कहता है कि चलो समय हो गया, बड़ी देर हो गई है। जब वह जाग गया तो बोला हाय, हाय मेरा सब कुछ कहाँ गया? रोने पीटने लगा।

इसी तरह मोह की नींद में जो सोये हुए हैं उनको जो स्वप्न में बड़प्पन दिखाई दे रहा है, मैं ऐसा हूँ, ऐसा बुद्धिमान हूँ, मैं भी सरकार की पहुँच वाला हूँ आदि जो स्वप्न देख रहे हैं वह सच्चे लग रहे हैं। घसियारे को स्वप्न सा नहीं लग रहा था, अब तक स्वप्न में था। पर जब वह जाग गया तो उसे झूठ लगा। मोह छूट जाने पर यह भी झूठा लगेगा। मोह की नींद खुल जाने पर यह जगत् का बड़प्पन अच्छा नहीं लगेगा। पर जब तक मोह ममत्व है, जब तक अपने को भिन्न-भिन्न नहीं परखा तब तक

यह सब कुछ है। बड़ा अच्छा मेरा लड़का है, मेरा पोता है, मेरा बड़ावा है, मेरा उत्थान है, मेरा आदर है, मेरे परिवार में लोग खुश रहें, दुनिया चाहे दुःखी रहे। मेरे लड़के, नाती अच्छी तरह रहें। दुनिया चाहे जिस तरह रहे। मेरा व्यापार अच्छी तरह चले। दुनिया के चाहे चलें चाहे न चलें। पर्यायबुद्धि में जब तक बसे रहेंगे तब तक मोह के स्वप्न सच्चे लगते रहेंगे। यह ही मैं अपना हूँ। मेरा अपना मेरा आत्मा ही तो है। जगत् के सब जीव एक समान हैं। सब अपने-अपने स्वरूप वाले हैं सब मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं। सबका स्वरूप मेरे ही समान है। मोही जीव इस प्रकार का ज्ञान नहीं करता, यह मेरा है, यह पराया है— इस प्रकार का अंतरंग में जो घर बन गया है यह भूल निरन्तर इस जीव को शूल की तरह दुःख दे रही है। रात दिन आकुलता उत्पन्न हो रही है। हम धर्म के समय में भगवान् को भजते हैं, पर भगवान् के भजने में जो भगवान् का हुक्म है उसको नहीं करते हैं। भगवान् का हुक्म है कि इस जगत् में अपने को अछूता निरखो। अछूता मानना यह बहुत बड़ी भक्ति है और बातें बना देना यह कोई भक्ति नहीं है। हम भगवान् के हुक्म का पालन नहीं कर सकते तो भगवान् के हुक्म की नजर तो कर सकते हैं। भगवान् का हमको हुक्म क्या है? यह ध्यान तो बना सकते हैं। हम ध्यान ऐसा न बनायें और २४ घण्टों में कुछ भी जोड़ तोड़ करें, इस अपने स्वरूप का उपयोग न बनायें और भगवान् के भक्त बनने का अपने ही मन में दावा रखें उससे तो काम नहीं बनता। भगवान् की भक्ति यही है कि जैसा भगवान् का स्वरूप है तैसा ही अपने अन्दर में ऐसा स्वरूप देख जाये और गद्गद् होकर अपने ही स्वरूप में मिल जाय, इससे बढ़कर भगवान् की भक्ति और क्या होगी? भगवान् कुछ नहीं चाहता है। उनके धन दौलत नहीं हैं, उनके कुटुम्ब परिवार नहीं है जो आप से कोई सेवा करवावें। आप से भोग चढ़वावें और द्रव्य चढ़वावें। यह भोग भगवान् के पेट के अन्दर नहीं जाता भगवान् की भक्ति हम अपने आपके अन्दर करें तो होती है। बाहर दृष्टि डालकर करें तो नहीं होती है। भगवान् की भक्ति यह है कि हम शुद्ध दृष्टि वाले बनें और प्रापरहित बनें, अपने से अधिक दूसरे को समझें। अपने को तो कुछ दुःखी करना पसन्द कर लें, पर दूसरों को दुःखी कर देना पसन्द न करें, यह है भगवान् की भक्ति।

हे प्रभु! आप भी कभी इस अनाथ संसार में रूतने वाले और निगोद में पड़ने वाले थे। प्रभु इस प्रकार मेरी जैसी अवस्था आपने भी कभी पायी थी। किन्तु मुझ जैसा साधारण भाग्य भी आपने पाया तो वहां आपका विवेक जगा था। उस समय आपने अनोखा उत्थान किया जिसके फल से अपने को शुद्धदृष्टि पूर्ण किया। केवल अपने आपको निरखते रहे। आप केवल अपने आप स्वरूप में सब कुछ हो गये। आप आज ऐसे स्थान पर पहुंचे कि सारा विश्व आपके ज्ञान में झलक रहा है। अनन्त आनन्द में आप निरन्तर डूबे रहा करते हैं। संसार की कोई भी आपदा आप पर नहीं आ सकती है। ऐसा उत्तम स्थान आपका हुआ है। स्वरूप तो मेरा और आपका एक ही है। केवल एक प्रस्ताव को कर लिया। दूसरे प्रस्ताव को कार्यान्वित कर लिया जाता है — इतना फर्क है। हम प्रस्ताव कर रहे हैं। क्या 'आत्म के अहित विषय कषाय, इनमें मेरी परिणति न जाय।' विषय कषायों में आत्मा का अहित है उनमें मेरी परिणति न जावे। विषय-कषायों में आत्मा का अहित है उनमें मेरी परिणति न जावे। मेरी अपनी दृष्टि इन विषय कषायों में न जावे। पर यह प्रस्ताव कार्यान्वित नहीं होने पा रहा है। आपने कार्यान्वित कर

सुख यहाँ प्रथम भाग

लिया है। यदि ऐसा साहस हम कर लेते हैं कि विषय कषायोंमें उपयोग न जाय। ऐसा दृढ़ कदम उठा लेते हैं कि अपने ज्ञानमें ही सदा लक्ष्य रखें तो मेरी भी परिस्थिति विशुद्ध हो लेगी। कभी हम साहस भी करते हैं कि ऐसा कदम उठा लें किन्तु यह करते करते इसे मुन्ना-मुन्नी का ख्याल आ जाता है। यदि ५ मिनट किसीका ख्याल न रखें तो क्या वे गुजर जाते हैं, मिट जाते हैं। सब मिल जायगा, मगर भीतर तो कुछ और है। कैसे काम बनें?

सम्यक् में सीमा नहीं होती है। चारित्र्यमें तो सीमा होती सम्यक् तो वह है जिसका वह पूरा हो। न हो तो रंच नहीं है। श्रद्धा में अपनी ओरका झुकाव है पूर्ण है, नहीं है तो नहीं है। चारित्र्य से हम नहीं प्रबल हो पाते हैं। नहीं सही, पर श्रद्धा तो हमारी मजबूत रहे। क्योंकि देखो पूजामें भी कहा है कि—

‘कीजे शक्ति प्रमाण शक्ति बिना सरधा धरै।

‘धानत सरधावान अजर अमर पदको लहे।।

अपनी रुचि ही अगर नहीं बनाई तो वह आत्मा मिले कहां से? हमारे लिए हम ही सहाय हैं, दूसरे मेरा हित नहीं कर सकते हैं और दूसरे न मेरे हितकी बात जानते हैं। यह सब स्वप्नके बड़प्पनकी जिम्मेदारी अपने पर नहीं समझे। यह तो सब पुण्य की जिम्मेदारी है ये घरमें बसने वाले सबके पुण्यकी बात है। यह उपयोग किसकी जिम्मेदारी लेकर शुद्ध करें, अपने आप निर्मल बनायें, अशुद्धोपयोगी रहें व संसार में रुलते रहें— यह तो योग्य नहीं। अतः मैं अपने आपकी ऐसी श्रद्धा बनाऊं कि मैं अपने आप ज्ञानमें परिणमता रहूँ। जो कुछ करता हूँ, वह अपने भीतरकी दुनियामें ही कर पाता हूँ। इसका इससे ही ताल्लुक है, इसका किसी दूसरेसे सम्बन्ध नहीं है। किसीसे यह छुवा हुआ नहीं है। यह तो स्वयंमें ही जगमग रहता है। इतना ही मैं हूँ। इस मेरे को दूसरा पहचानने वाला भी कोई नहीं है। जब दूसरा मेरा कोई पहिचानने वाला नहीं है तो कौन मुझपर रोष करता है जबकि मुझे किसी ने पहचाना भी नहीं है। लोग तो हमें जानते ही नहीं है और भीतर ही भीतर कल्पनायें करके विपत्तियाँ किया करते हैं। मुझे कोई जानता नहीं है और यदि कोई जान जायगा तो उसकी दृष्टि मेरे ऊपर भली बुरी हो सकती और आगे देखता है कि वह उससे रुष्ट क्यों है और वह उससे क्यों खुश हो गया है? यह पुद्गलकी चीज है। मूर्ति ही मूर्तिको देख कर रीझती है। इस अविनाशी को कोई देखने वाला है क्या? अगर १० आदमियों ने हमारा सम्मान कर दिया तो यह इसी हाड़मांसका ही तो सम्मान किया। जिसको यह मान रक्खा है कि यह धनी है, यह पंडित है, यह साधु है। वह सब तो खाक हो जाने वाला है। मेरा पहिचानने वाला दूसरा कोई नहीं है। मैं तो अछूता हूँ। अपने आपके स्वरूप को देखो तो क्या यह करोड़ रुपयोंसे कम है या ज्यादा? अरबों तथा खरबों रुपयोंसे कम है, या ज्यादा? अरे चक्रवर्ती की सम्पदा इन्द्र सरीखे भोग, काकबीटसम गिनत है सम्यक्दृष्टि लोग। यह दुनिया ज्ञानी जीवको नहीं सुहाती जिनको अपने ज्ञानका भण्डार मिल गया है तो उनको भगवानका सही आनन्द प्राप्त होगा। ज्ञानीको यह सम्पदा पापकी तरह लगती है, क्योंकि ज्ञानी जीवको सर्वोत्कृष्ट आनन्द प्राप्त हुआ है।

आप लोग दुकान करते हैं।- साल दो साल पहले तो दुकानमें टोटा ही पड़ता है। साल दो साल पहले धनही लगाना पड़ता है। धनका लगाना ही लगाना है और फिर बादमें मुनाफा मिलता है। जिसमें ज्यादा मुनाफा मिलनेका प्रोग्राम है तो लम्बा धन लगाना पड़ता है। लम्बा परिश्रम लगाना होता है और शुद्ध भगवानका पाना यह कितना बड़ा मुनाफा है। इसकेलिए तन, मन, धन, सर्वस्व सब कुछ भगवानको समर्पित कर देना पड़ेगा। मेरा कुछ नहीं है— ऐसी दृष्टि लेकर केवल ज्ञानमय अपने को दर्शन करना होगा। इतना करते हैं तब यह लाभ होगा। मेरे इस कार्यको केवल मैं ही कर सकता हूँ, दूसरा इसको नहीं कर सकता है। अपने आपकी जिम्मेदारी महसूस कर धर्मपर ध्यान अवश्य देना चाहिए।

ज्ञानं स्वमेव जानाति तदा स्वस्वामिता कृतः।

अहमद्वैतबुद्धिः सन् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥१-४०॥

अर्थ— ज्ञान स्वको ही जानता है तब यह स्व है यह स्वामी है इस तरहकी बात कहाँसे हो, इसलिये एक निज अद्वैतबुद्धि होता हुआ मैं अपनेमें अपनेलिये स्वयं सुखी होऊँ।

ज्ञान आत्मामें जानने वाला गुण है। ज्ञान किसको जानता है? ज्ञान, ज्ञानको जानता है। ज्ञान सबको जानता है। यह कथनव्यवहार है। अंगुली किसको टेढ़ी करती है? अंगुलीको टेढ़ी करती है। दीपक ने प्रकाशित कर दिया। किसको प्रकाशित कर दिया? दीपकको प्रकाशित कर दिया। ज्ञान वास्तवमें अपनेको जानता है परको नहीं। इस आत्माने स्वाद ले लिया। किसका स्वाद ले लिया? अपना स्वाद ले लिया, भोजन का स्वाद ले लिया, यह कहना व्यवहार है। भोजन करते समय आत्मा ने यह ज्ञान किया कि यह मीठा है, स्वादिष्ट है, इसी प्रकारका ज्ञानकरनेसे उसने आनन्द माना तो आत्माने एक विकल्पका स्वाद लिया। उस ज्ञानने एक ज्ञानका स्वाद लिया है, भोजनका स्वाद नहीं लिया है। भोजनका रस भोजन में है। भोजनका रस आत्मामें नहीं आता है। भोजनको निमित्त करके आत्माने जो ज्ञान किया उस ज्ञानका रस आत्मामें आया और यह जीवको जो खुशी हुई तो अपने ज्ञानके रससे खुशी हुई, भोजन के रससे खुशी नहीं हुई। लोगोंको ऐसा लगता है कि शायद आत्मा उसका रस ले लेता है, सामने जो दीखने वाली चीजें हैं। अच्छा, भोजनके अलावा और देखो। सिनेमा देखा, नाटक देखा, बन्दरका खेल देखा, रीछका खेल देखा। अब उनके खेलसे आनन्द आया। किससे स्वादका आनन्द आया? बन्दरके खेल का आनन्द आया या रीछ के खेलका आनन्द आया या अन्य किसी खेलका आनन्द आया? इन किसी भी परवस्तुओं का आनन्द नहीं आया। उनको देखनेसे ज्ञान हुआ, उस ज्ञानका रस आत्मामें आया और खुश हो गये। आत्मा स्वाद ले लेता है। आत्मा ज्ञान करता है, अपने आप करता है, अपने आप स्वाद ले लेता है। आत्मा ज्ञान करता है, अपने आप करता है। मेरा अपना जो कुछ होता है वह अपनेमें ही होता है और अपने लिए होता है। ऐसा मैं अत्यन्त न्यारा आत्मा हूँ। पर मोहके वशमें बाह्यपदार्थों में मिल रहा हूँ और अपनी स्वतन्त्रताको भूल बैठा हूँ। मान लिया कि यह मेरा है, अच्छा है, बुरा है आदि। इसके विकल्पोंमें मैं पड़ा रहता हूँ, अज्ञान मिटे तो ज्ञान जगे, ज्ञान जगे तो अज्ञान मिटे, कुछ कह लो, ज्ञानी हूँ, ज्ञानमात्र हूँ, शरीरसे भी न्यारा हूँ, केवल ज्ञानस्वरूप हूँ। इससे आगे और मैं कुछ नहीं हूँ, मेरा इसके आगे और

सुख यहाँ प्रथम भाग

कुछ नहीं है। यदि अपने स्वरूपका ज्ञान बने तो संसार में भटकना नहीं पड़ेगा। दखो भैया ज्ञानहा दूसरेका नहीं जानता है। ज्ञान अपने आपको ही जानता है। जब जानने तकका भी सम्बन्ध दूसरेसे नहीं है, फिर और बातों की चर्चा करना बेकार है। क्या मेरा धन है? मैं धनको जानता हूँ। क्या मैं शरीरको जानता हूँ? क्या मेरा शरीर है? यह मोही जगतके सारे स्वप्न देख रहा है। स्वप्न के समय जैसे स्वप्नकी बातें झूठ नहीं मालूम होती हैं। मोहमें त्याज्य त्याज्य नहीं मालूम होता। इस जीवमें सबसे अधिक विपदा छाई है। भ्रमसे होने वाले दुःखका मुँकांबला किसी औरसे नहीं किया जा सकता है। हम दूसरों के भ्रम और बेवकूफीको देखकर कितना अधिक मजाक करते हैं। जैसे कोई चारपाई है, खाली ढांचा पड़ा हुआ है और उसमें अच्छी तरह चादर तान दी जाय और कच्चे धागे से चारों ओर बांध दिया जाय और किसी बालकसे कहा जाय कि आंवा भाई साहब बैठो। वह बैठ जाय तो दूसरे लड़के कैसे हंसेंगे। पीठ नीचे और पैर उसके ऊपर हो जावेंगे। क्यों हंसे? उसके गिरनेसे नहीं हंसे, ये उसके भ्रमको देखकर हंसे। जब यह समझमें आता है कि इतनी बातमें सार कुछ नहीं था और सार मानकर इसमें फंस गए और नष्ट हो गए। दूसरों के भ्रमको देखकर हम बेवकूफीका अन्दाजा लगाते और हम उसका कितना मजाक करते हैं। इन बातोंमें सार तो कुछ है नहीं और ये भ्रम मान लेते हैं। अभी किसी के लड़केको गोद में ले लें और जबरदस्तीका वह बाप उस लड़के से भारी प्रेम करे, खूब खिलाये, गोदमें रखे रहे तो देखने वाले हंसेंगे। है कुछ नहीं इसका और देखो कितना बेवकूफ बन रहा है? और अगर खुदका लड़का है तो जो समझदार होंगे वह यह अन्दाज नहीं लगावेंगे कि यह बेवकूफ है, यह स्वतंत्र परमात्मा सदृश चैतन्यमात्र है और ऐसा भ्रम हो गया और कैसा अटक गया है। यहां इस दुनियामें कैसी विपदाओंमें पड़े हैं, दुःखी भी होते हैं। और हठ भी नहीं छोड़ते हैं, मरे भी जाते हैं पर हठको नहीं छोड़ते हैं, बरबाद हुए जाते हैं। यह जगतके प्राणियों का हाल है। जिनका निकट संसार है, भवितव्य अच्छा है, वह अपने आपमें अपने आपको लक्ष्यमें ले सकता है अन्यथा तो मोही प्राणी बाहर ही बाहर घूमता रहता है। मेरा परवस्तुओंसे किसी से क्या सम्बन्ध है, कौनसा सम्बन्ध है; कौन सा आनन्द है? जानने तकका तो परसे सम्बन्ध है नहीं और के सम्बन्धकी तो बात ही क्या है? मैं अमुक चीजोंको जानता हूँ ऐसा कहना केवल व्यवहारसे है, कल्पना के विचारसे है, निश्चयसे यह बात नहीं है। मेरा अपनेमें बाहरका क्या है? कुछ नहीं है।

यह किताब किसकी है? किताब की है। यह चौकी किसकी है, यह चौकी अपने काठ की है, यह चौकी आदमीकी नहीं है। यह हाथ किसका है? हाथका हाथ है। मेरा हाथ होता तो मेरे ही साथ रहना चाहिए। हम तो चले जायेंगे और यह यहीं खाक हो जाएगा। जो जिसकी चीज है वह त्रिकाल तक उसके साथ तन्मय रहती है। जो आज यहां है कल वहां है, उसको कौन कह सकता है कि यह मेरी है। वेश्या को कौन कह सकता है कि यह मेरी है। वेश्याको कौन कह सकता है कि यह मेरी स्त्री है। आज यहां है, कल वहां है ५ मिनट यहां रही और १० मिनट वहां रही। किसी एक का उसपर कोई अधिकार नहीं, घरकी विवाही को लोग स्त्री कहते हैं क्योंकि हमें विश्वास है कि जब तक यह जिन्दा है तब तक मेरी है। ५०-६० वर्ष की अवस्था जबतक है तब तकमेरी है। और आगेचलो तो घर की स्त्री

भी उसकी स्त्री नहीं है। आप जीवन को छोड़कर चले जावेंगे, वह यहाँ रह जावेगी। और आगे चलो तो यह शरीर भी आपका नहीं है। और आगे चलो तो यह कर्म भी आपके नहीं हैं, यह सब झड़ जायेंगे। और आगे चलो तो यह राग, द्वेष, कषाय भी आपके नहीं हैं, यह होते हैं और तुरन्त चले जाते हैं। जो राग, द्वेष जिस समयमें हों वह दूसरे समयमें नष्ट होंगे, दूसरे समयमें नये राग होंगे। जैसे कोई किसी बातकी तृष्णा करता है कि इसमें २० हजारका फायदा हो जाय। २० हजार हो जानेके बाद फिर तृष्णा तो नहीं रहेगी पर दूसरे २० हजार में फिर तृष्णा हो जायगी। यह तृष्णा का गड़ढा इतना बड़ा है कि बढ़ता ही जाता है। बड़ा कूड़ा करकट डालने वाला गड़ढा कूड़ा करकट डालनेसे कम हो जायगा, पर तृष्णा का गड़ढा बढ़ता ही चला जाता है। तृष्णा में कितनी ही विभूति का कूड़ा डालते चले जाओ, तृष्णा बढ़ती ही चली जाती है। इसी प्रकार राग, द्वेष मिट गए, फिर सब राग, द्वेष आ जाते हैं। इसी तरह राग, द्वेष चलते रहते हैं। जैसे चक्की में गेहूँ पिसता है उससे भी अधिक पिसता है। उसमें तो फिर भी अधिक दाने होते हैं। यह ऐसा पिस जाता है कि इसके स्वरूपका विकास ही नहीं हो पाता है। जैसे कहा है कि “सूत न कपास कोली से।” वैसे ही लेना न देना मोह पूरा बना हुआ है। यह मेरा है, यह पराया है। तन लगाया गया परिवार के लिए, मन लगाया गया परिवारके लिए, धन लगाया गया परिवारके लिए। अगर पड़ौसका बच्चा बीमार है या कोई दूसरी परेशानी में है तो उसकी ओर उसकी दृष्टि ही नहीं जायगी। यह है मोहका तेज नशा। यदि वह तुम्हारे ही घरमें पैदा होता तो उसे अपना मानते। यदि यह आत्मा तुम्हारे ही घरमें न आयी हुई होती तो तुम उसे अपना न मानते। तुम्हारा कुछ है क्या, तुम्हारी कल्पनाओं में जो अपना आए, बस सोई तुम्हारा बन बैठा है। बाह्य चीजें तुम्हारी नहीं हैं, कल्पनाओंमें जो परिणमन हुआ वह परिणमन तुम्हारा है। उसमें सब अन्दाज किया करते हो, बाहरसे तो कोई अन्दाज करते नहीं, मेरा किन्हीं परपदार्थों से कोई सम्बन्ध नहीं है। मैं किसी भी अणुमात्र परपदार्थ का स्वामी नहीं, किसी पर द्रव्यका स्वामी नहीं मैं केवल अपना ही स्वामी हूँ।

करि विचार देखो मन मांही।

मूँदहु, आंख कितहुं कछु नाहीं।।

अन्ये पुरुषोंको देखा होगा, प्रायः वे बेलिहाज होते हैं। जैसे यहां सूझते, दूसरे की शर्मसे कोई काम कर दे, दूसरेका ऐहसान मान ले, यह अनुभव अन्धेमें कम होता है। कुछ थोड़ासा फर्क तो प्रायः रहता है। क्योंकि जो आंखसे देखते हैं वह थोड़ासा लिहाज करते हैं। यदि समाजमें कोई बात कहता है तो कोई नहीं कह सकेगा और अगर अंधेसे कह दो तो वह झट कह देगा। कई लोग सोचते रहेंगे कि कैसे कह दें। पर अंधा भाई आंखोंसे नहीं देखता है, वह कह देगा। जब हम बाहरी पदार्थों में जग रहे हैं, इनको देख रहे हैं, इनकी ओर मुड़ रहे हैं तो हम लिहाज करते हैं, शर्म करते हैं, अपेक्षा करते हैं। कैसे राग छोड़ दें, कैसे द्वेष छोड़ दें। अभी दो स्त्रीमें, दो पुरुषों में, दो लड़कोंमें बोलचाल बंद हो जाय और जो दो चार महीने तक चल जाय तो इच्छा होती है कि मैं बोलूँ, चालूँ, मनमें है कि मैं बोलूँ, तो भी शर्मकी कषाय कहती रहती है कि न बोलो। अरे कोई सुन पायगा कि यह पहिलेसे बोल गए तो देखनेका,

बाहरमें जगनेका, बाहर रहनेका, लिहाज चलाता है। अपेक्षा चलती है, पर 'मूंदहु आंख कितहु कोऊ नहीं।' वह ज्योतिमात्र है, अपनेको ज्योतिर्मय करता है। यह ज्ञान ज्ञानको जानता है, यह ज्ञान यह अनुभव करके कि मैं केवल अपने स्वरूपको जान रहा हूँ। मानता रहा हूँ कि मैं अमुक चीजको जानता हूँ। बस इसी भ्रममें बड़ा दुःख है।

मैं करता हूँ तो अपने आपको करता हूँ, भोगता हूँ तो अपने आपको भोगता हूँ दुःखी होता हूँ तो खुद ब खुद अपने आप बिना जड़ मूलके दुःखी होता हूँ और सुखी होता हूँ तो अपने आप कल्पनायें बनाकर सुखी होता हूँ। दूसरे पदार्थों से कुछ संबंध नहीं है, लगाव कुछ नहीं है। खुद ब खुद अपने आप कल्पनायें बनाकर अपनी नाना प्रकारकी अवस्थायें कर रहा हूँ। इसका किसीसे सम्बन्ध नहीं है। आपका बाहरी किसी भी चीजोंसे रंच भी सम्बन्ध नहीं है, मेरा कुछ नहीं है। मैं किसीका स्वामी नहीं हूँ। मैं अद्वैतबुद्धि वाला होता हूँ। केवल अपने आपको अपने ज्ञानमें लेता हुआ केवल प्रतिभास मात्र ज्ञानस्वरूप अपने को अनुभव करूँगा। यह मैं हूँ, शांत हूँ और अपनेमें अपने लिए अपने आप सुखी हूँ। अपना प्रभु, अपना रक्षक, अपनी शरण मैं ही हूँ। अंतमें तुम ही मिलोगे, दूसरा नहीं मिलेगा।

दो पुरुष थे, वे स्वाध्याय करते थे उनमें आपसमें बात हुई कि जो कोई मर जाय और देव हो जावे तो वह देव दूसरेको समझाने आवे। उनमें एक गुजर गया और देव हो गया। उसने ज्ञानसे सब जाना कि वह पुरुष स्वाध्याय कर रहा है, तब वह देव आया। अब तो राग, द्वेष छोड़ दो आत्मध्यान में आवो। पुरुष बोला, अभी बात समझमें नहीं आती है। माता, पुत्र सदा हित ही हित चाहा करते हैं। पुत्र बड़ा अच्छा है, गड़बड़झाला कुछ नहीं है। तुम्हारी शिक्षाकी बात समझमें नहीं आ रही है। बोला— कल १२ बजे दिनमें समझायेंगे। हम देव बनकर कह देंगे। तुम पेटका बहाना करके बीमार पड़ जाना। वह पुरुष बीमार बन गया। बड़ा दर्द हो रहा है। डाक्टर आए, कुछ आराम नहीं। देव १२ बजे सड़क पर घूम रहा है। कह रहा है कि मेरे पास सब पेटेंट दवा है जो व्यर्थ नहीं जावेगी। उस पुरुष के घरके लोग बोलें, इसके पेटमें दर्द है सो ठीक करदो। कहा बहुत अच्छा। एक चांदीका गिलास ले आओ उसमें स्वच्छ पानी ले आवो। अपनी थैलियोंसे सफेद सफेद शक्कर झूठमूठकी दवा उसमें मिला दी। उस पुरुषकी मां से बोला, मां जी इसे पी लो, उसका पेट ठीक हो जायगा। लोगोंने कहा कि पेट किसका दर्द करता है और दवा किसको पिलाएगा? बोला, मंत्रसिद्ध दवा है। यह दवा जो पी लेगा वह मर जायगा और यह अच्छा हो जावेगा। मां सोचने लगी कि मेरे चार लड़के हैं। अगर एक गुजर गया तो तीन लड़कोंका सुख देखूंगी और अगर मैं ही मर गई तो मैं किसीका भी सुख न देख सकूंगी। उसके पिताजी से कहा, पिता जी ने भी ऐसा ही सोचा। स्त्रीसे कहा कि तुम पी लो। तो स्त्री सोचती है कि अगर मैं मर गई तो पुत्रोंका भी सुख न देख सकूंगी। वैद्यजी कहते हैं कि मैं पी लूं। हां हां पी लो, सब बोलते। उसने कहा कि अच्छा आप लोग जावो, ठीक हो जायगा। अब कानमें देव कहता है कि तुम्हारे लिए कोई मर मिटने वाला है क्या? उसकी समझमें आ गया। भैया! यह तो वस्तुस्वरूप है। तो इसका बुरा न मानना चाहिए कि मेरे लिए हाय कोई मर मिटता नहीं। मगर कोई कभी मेरे लिए नहीं मरा, वह अपने ही विषय

कषाय के लिए मर मिटेगा। अगर कोई मेरे लिए मर गया तो वह मेरे लिये नहीं मरता। वह अपने मनमें कल्पनायें करके अपने विषय कषायकी पूर्ति के लिए मरता है। इसीसे पदार्थों का कोई दूसरा पदार्थ स्वामी है क्या? किसीका कोई अधिकारी है क्या? किसी का कुछ लगता है क्या? आप लोग सोचते होंगे। आपसे अच्छे तो विदेशी लोग हैं। वह सरकारको लड़के सौप दें तो सरकार ही लड़कों का पालन पोषण करती है, पढ़ाती लिखाती है? वहां किसीका कोई नहीं है। वहां मोह ममता कम होंगे। परन्तु अपने आपमें पर्याय की ममता है, कार्यों की ममता है। मगर इससे झगड़ा कितना बढ़ेगा? बढ़े-बड़े जो भवके चक्कर लगेंगे उनमें कितना झगड़ा बढ़ेगा? ऐसा क्यों हुआ? यों ही हुआ। भूलमें बात कितनी मिली कि मैंने अपने आपको नहीं समझा। परवस्तुको यह मान लिया कि यह मेरी है, यह उसकी है। भूलमें केवल इतनी बात मिली कि इससे झगड़ा सारा बढ़ गया। ८४ लाख योनियों में इसे भटकना पड़ा। जैसे पुत्रादि के हैरान होनेपर लोग कहते हैं कि झगड़ेकी जड़ विवाह है, न विवाह करते न झगड़ा होता। इसी तरह संसारके सब झगड़ोंकी जड़ परकी दृष्टि है। इससे यह सारी विपदायें ले लीं, यह सारे चक्कर हो गए। इसकी विपदा कर ली कि यह मेरा है। परपदार्थों को अंगीकार कर लिया। इससे इतना बड़ा झगड़ा बढ़ गया। अब मैं अद्वैत बुद्धि होकर केवल अपने आपको अपना सर्वस्व समझकर ज्ञानमय बुद्धि रखकर अपने में अपने आप स्वयं सुखी होऊं।

ज्ञप्तिमात्रदशायां न दुःखं स्यात्कर्मनिर्जरा।

सैषोऽहं ज्ञप्तिमात्रोऽस्तः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१७४१॥

अर्थ— जानने मात्र की दशा में दुःख नहीं है, कर्मों की निर्जरा होती है वह ज्ञप्तिमात्र यह मैं हूं। सो अपनेमें अपने लिये स्वयं सुखी होऊं।

जिसका आत्मा केवल जानता है, जानने के अलावा जाननेके विषयभूत पदार्थ में कोई राग, द्वेषकी तरंग नहीं उठती है तो वहां दुःख नहीं है। अब देखिए जीवका कुछ है, तो नहीं और उसपर मर रहा है। पहले तो यह निर्णय कर लो कि जीवका यहां कुछ है क्या? इसी निर्णय पर सब कुछ दारमदार है, सब कुछ सार है, यही है ऋषीजनोंका उपदेश और वास्तविकता यही है कि मेरा कुछ है नहीं। कुछ लोग ऊपरी ढंगसे कह रहे हैं, मान रहे हैं कि मेरा अन्य कुछ नहीं है, क्योंकि कुछ भी साथ नहीं जाता। कोई कहीं रहेगा, कोई कहीं-रहेगा, कोई साथ नहीं रहेगा। यह तो है ऊपरी ढंगका वर्णन, वस्तु स्वरूप का वर्णन यह है कि जगत्में अनन्त पदार्थ हैं। कैसे कैसे अनन्त जीव हैं, अनन्त पुद्गल हैं, एक धर्मद्रव्य है, एक अधर्मद्रव्य है, एक आकाशद्रव्य है व असंख्याते कालद्रव्य, यह है इनकी संख्या। यह जो कुछ चीज हैं, एक एक चीज नहीं है। जैसे किवाड़ यह एक नहीं है। एक चौकी यह एक चीज नहीं है। यह अनन्त चीजोंसे मिलकर बनी हैं क्योंकि-एक तो उतना होता है जिसका दूसरा टुकड़ा नहीं। जो वास्तवमें एक होता है उसका दूसरा हिस्सा-नहीं है। एक टुकड़ा हो जाय तो समझो कि दो चीजें थी न्यारी न्यारी हो गई है। यह चौकी अनन्त परमाणुओंका पुंज है। शरीर यह एक या अनन्त परमाणुओंका पुंज है। मेरे हाथ, पैर इत्यादि जो टूट जावें तो सब अलग-अलग वस्तु हैं तभी टूट जाते हैं। तो जहां कहते हैं कि एक

चीजका हजारवां हिस्सा तो वहां वह एक नहीं है, वहां हजार हैं। सब मिलकर एक पिंड बना और व्यवहारमें उसके लिए एक पिंड कहते हैं। एक चीजका हिस्सा ही नहीं हुआ करता है। जो दृश्यमान पदार्थ हैं उनको एक एक चीज नहीं मानना। उनको हम एक पिंडकी तरह ही देखें। जो एक हो उसका स्वरूप अलग नहीं होता है। वह एक दिखाई नहीं देता है, पर ज्ञानमें समझमें आता है।-जब यह अनन्तपरमाणुवोंका पिंड है तो एक एक जो वस्तु हैं वे अनन्त हैं, वे स्वतन्त्र हैं। उनमें मेरा कुछ दखल नहीं है। यहां यह देखना है कि मेरा कुछ नहीं है तो क्यों दुःख हो? जैन धर्म किस तरह देखता है कि हमारा कुछ नहीं है। जब लोग सीधा बोल देते हैं कि हमारा कुछ नहीं है क्योंकि न मेरे साथ कुछ आया है और न मेरे साथ जायगा। इसमें तत्व नहीं निकला। तत्व तब निकलेगा जब हम वस्तुस्वरूपसे देखते हैं, अनन्त जीव हैं, अनन्त पुद्गल हैं, एक धर्मद्रव्य है, एक अधर्मद्रव्य है, एक आकाशद्रव्य है व असंख्यात कालद्रव्य हैं।

एक कहते किसको हैं जिसका दूसरा हिस्सा हो नहीं सकता है। आकाशका दूसरा हिस्सा नहीं हो सकता है। आप यही कहते हैं कि यह दूसरे तल्लेका आकाश है, नीचे यह तीसरे तल्लेका आकाश है तो एक आकाशका टुकड़ा हो गया। नहीं हो गया। एक कहते ही उसे हैं जिसका दूसरा टुकड़ा नहीं है। इसी तरह धर्मद्रव्य उसे कहते हैं जो जीव और पुद्गलोंके चलने में सहायक हो। वह तुम्हें नहीं दिखता। उसमें रंग, स्वाद, गंध नहीं होती। वह सारा अलग से एक द्रव्य है। इसी तरह एक अधर्मद्रव्य होता है। अधर्मद्रव्य उसको कहते हैं जो ठहरनेमें सहायक हो। हम चलते हैं तो चलकर रुकनेमें यह मददगार है। अगर अधर्मद्रव्य नहीं है तो हम रुक नहीं सकते। निरन्तर चलते ही रहेंगे। इन परमाणुवोंमें से एक परमाणु पुद्गल ले लो। यह भी एक द्रव्य है। उसका भी दूसरा हिस्सा नहीं हो सकता है। परमाणुवोंका क्या दूसरा हिस्सा हो जायगा? नहीं होगा। हम अपना एक जीव ले लें। क्या इसके हिस्से हो सकते हैं? नहीं हो सकते हैं और दूसरी पहिचान क्या है? एक परिणमन जितने में हो पूरेमें होना पड़े। और जिससे बाहर कभी नहीं हो उतनेको एक कहते हैं। जैसे इस चौकीका कोई भाग यदि जल जाय, इस खूंटमें यदि आग लग जायगी तो यही जला, जिसमें यह भाग जल रहा है तो यह परिणमन यहीं तो हो रहा है, सारेमें तो नहीं हो रहा है। एक कहते उसे हैं जिसमें एक परिणमन उस पूरे में हो। इस चौकी ने एक जगह रूप बदल लिया तो सब जगह रूप बदल लिया तो सब जगह तो नहीं बदला। एक चीज उतनी होती है कि एक परिणमन जितने में पूरेमें होना पड़े उतनेको एक कहते हैं। जैसे मेरा जीव एक है। क्यों एक है कि इसमें कोई सुख परिणमन है तो यह पूरेमें ही होना पड़ेगा। ऐसा नहीं है कि पेटके हिस्सेमें आत्मप्रदेश तो सुखी हो रहा है और पेटके नीचेका आत्मप्रदेश दुःखी हो रहा है। कभी ऐसा होगा कि हाथमें फोड़ा है। फोड़े में दुःख हो रहा है। ऐसा नहीं है कि हाथका अंगला हिस्सा तो सुखी हो रहा है और पेटके नीचेका आत्मप्रदेश दुःखी हो रहा है। कभी ऐसा होता है कि हाथमें दुःख है, मगर दुःख परिणमन जो है वह फोड़े का नहीं है। आत्मा को जो मुझमें दुःख हो रहा है वह परिणमन मेरे हाथ को फोड़े का निमित्त पाकर कहते हैं कि फोड़े का दुःख है। हाथ को दुःख है। देखो परिणमन सारे जीवमें हो रहा है। एक परिणमन जितनेमें पूरे में होना ही पड़े और जिससे बाहर कुछ नहीं है। वहीं तो एक वस्तु है।

इस जीवका जितना परिणमन है वह मेरे जीवमें होता है। बाहर कहीं नहीं होता है। प्रत्येक वस्तुका परिणमन उसमें ही होता है। उससे बाहर कहीं नहीं होता है। जगत्में जितने भी जीव हैं, मित्र हैं, दोस्त हैं, कोई भी हों, उनका परिणमन उनमें ही होता है। उनका परिणमन उनकी आत्मामें ही होता है। उनसे बाहर उनका परिणमन कहीं नहीं होता है। मेरा परिणमन मेरी आत्मामें ही होता है। मेरा परिणमन मेरी आत्माके बाहर कहीं नहीं होता है। तब मैं जो कुछ भी कर सकता हूँ, अपनी आत्मामें ही कर सकता हूँ। मैं अपनी आत्माके बाहर कुछ नहीं कर सकता हूँ। दूसरे जीव जो कुछ कर सकते हैं वह अपनेमें ही कर सकते हैं। अपनेसे बाहर वे कुछ नहीं कर सकते हैं। क्योंकि वह एक सत् है। क्योंकि उनका उत्पाद व्यय ध्रौव्य उनमें ही होता है। उनसे बाहर नहीं होता है। जब किसीका उत्पाद व्यय ध्रौव्य कोई परिणमन, कोई कार्य किसी अन्य द्रव्यमें नहीं हो सकता है फिर कौनसी ऐसी गुंजाइश है कि उसमें किसी दूसरेका सत्व माना जा सके। कोई सम्बन्ध ही नहीं है। मैं व्यवहार से केवल कहता हूँ कि मैं परपदार्थों को जानता हूँ, पर मैं परमार्थसे केवल अपनेको जानता हूँ। अपनेके अतिरिक्त और मैं किसीको नहीं जानता। मैं केवल अपनेको जानता हूँ, पर दुनिया भरका बखान करता हूँ। जैसे दर्पणको सामने रख लें तो पीठ पीछेकी बातें, यह लड़का है, यह गिर रहा है, यह अमुक है, यह कुछ कर रहा है। जैसे दर्पणको हम जानते हैं। इसी बलसे हम सबका वर्णन कर डालते हैं। इसी तरह हम अपनी आत्माको ही जानते हैं पर को नहीं जानते हैं। यह है ज्ञानियों की दृष्टि जो जंगल में रहते हैं और प्रसन्न रहते हैं। हम दूसरे को जानते ही नहीं हैं, तो दूसरे हमारा करेंगे क्या ? दूसरे मेरे कुछ नहीं है। अगर श्रद्धा में यह बात पूरी तरह जम जाय और जड़ से सबका संबंध काट दिया जाय, उसको सम्यक्त्व होगा ही। जिसको सम्यक्त्व होगा उसको दुःख नहीं होगा। चाहे १ भव, चाहे १० भव, चाहे हजार भव रहना पड़े, दुःख उसको नहीं होगा। अगर सम्यक्त्व लगातार बना रहे तो ७, ८, भव तक में मुक्ति हो जावेगी। अगर सम्यक्त्व छूट जाय, मिथ्यात्व आ जाय तो वह अनेकों भव संसार में रोक सकता है। कुछ कम अर्ध पुद्गल परिवर्तनकाल तक रोक सकता है। परन्तु फिर सम्यक्त्व पाकर रत्नत्रय पूर्ण कर मुक्ति हो ही जावेगी। एक बार सम्यक्त्व प्राप्त हो जाय फिर इस जीव का भला ही है। आप यह बतलाइये कि इस सम्यक्त्व का प्राप्त हो जाना अरबों और खरबों रूपयों से बढ़कर है या नहीं। अरे धन तो जिसके भाग्य में होगा वह खायगा। वह दूसरों के लिये है। इसमें तो केवल आपके हाथ पैर के श्रम का काम है। वह धन उनके लिये है जिनके निमित्त पापी बन कर आप संसार में रहते हैं। यह धन धर्मियों के लिये नहीं है, वह उनके लिये है जो पापी बनकर संसार में रुलेंगे। स्त्री के लिये, बच्चों के लिये, अपने लिये, परिवार के लिये संसार में रुलेंगे और अगर सम्यक्त्व मिल जाय तो सदा के लिये कल्याण है। मोह कैसे छूटे, इसका साधन है कि जगत् के ये जो परपदार्थ हैं, वे परपदार्थ अपने में ही अपना परिणमन करते हैं, अपने को ही अपने परिणमन में विलीन करते हैं और अपना जो निजी स्वरूप है, निजी स्वत्व है उसको त्रिकाल लिये रहते हैं। इसलिये परपदार्थ अपने ही ढंग में बने रहते हैं। तब फिर किसी पदार्थ का किसी से सम्बन्ध है नहीं। इसी प्रकार जैनसिद्धान्त समझाता है कि हमारा जगत् में कुछ है नहीं। जब ऐसी दृष्टि बनेगी और ऐसा दूसरे पदार्थों को देखने

लगोगे तो एक जगत् को देखते, जानते रह जावोगे। इष्ट अनिष्ट मानने का विकल्प छूट जायगा। जब तक सही ज्ञान नहीं है तब तक इष्ट अनिष्ट बुद्धि है।

बच्चे की तकलीफ देखकर किसी ने कहा कि मेरे तकलीफ है। कैसी तकलीफ है? मेरा स्वतंत्र स्वरूप है। वह अपने चतुष्टय से है। पक्की हिम्मत बनाओ। दूसरे लड़के को देख कर तो जल्दी मान लेते कि यह अन्य है अगर घर के लड़के के प्रति यह हो जाय कि मेरा कुछ नहीं है, मेरा किसी से सम्बन्ध नहीं है याने जिनमें अज्ञान बस रहा था, मोह बस रहा था उनमें ऐसा अगर दृढ़ प्रत्यय हो जाय कि मेरा कुछ नहीं है, मेरा किसी से सम्बन्ध नहीं है मेरा तो मात्र मैं ज्ञानस्वरूप हूँ। ऐसा निर्णय हो जाय तो सम्यक्त्व हो जाय। ऐसा निर्णय करने के लिये सारा शरीर सौंप दिया जाय, सारा धन सौंप दिया जाय, अगर यह एक श्रद्धा मिल जाय तो सब कुछ मिल गया। मान लिया कि धन किसी के पास है उसे सरकार भी सताये, चोर भी सतायें, धोखेबाज भी सतायें, और की बात छोड़ दो खुद को ही यह चिन्ता करके सतायेगा खुद ही दुःखी होता है। इस वैभव से पुरुष को क्या आनन्द होता है? अपने ज्ञान से ही अपने उपयोग में रहूँ तो मैं आनन्द भोगता हूँ। ऐसा आनन्द कितना सरल है? मेरे ही अधिकार की चीज है। यह आनन्द मेरे ही में बसा हुआ है। आत्मीय शक्ति के अनुभव से उत्पन्न हुआ आनन्द ही भीतर की निर्जरा है। जैसे तपस्या करें मगर भीतर से क्लेश है तो क्या दुःख व कर्म कट जावेंगे? नहीं कटेंगे। ये दुनिया के लोग जो खुद मोही हैं, दोषी हैं, पापी हैं, दुःखी हैं, संसार में रुलने वाले हैं, उनमें अपने को अच्छा कहलाने की या कहलवाने की बुद्धि लगाये बैठे हैं कि इनमें मैं अच्छा कहलाऊँ, इनमें मैं धनी समझा जाऊँ, इनमें मैं खास समझा जाऊँ। यह सब दृष्टि छोड़कर मुझे किसी से कुछ नहीं चाहिये। ऐसी हिम्मत करो कि मुझे अपने में खुद सुखी रहना है। यह हिम्मत ज्ञानी के होती है। उस ज्ञान में जरा भी दुःख नहीं होता है और कर्मों की निर्जरा है। ज्ञाता बन जाना, केवल जाननहार बन जाना, यह तो मेरा स्वभाव ही है। यह तो मेरे अन्दर में स्वभाव से ही कला भरी हुई है। जैसे कूदना, फांदना, छलांग मारना, हिरन के बच्चे में प्रकृति से ही होता है। हिरन की मां हिरन के बच्चे को कुछ सिखाती है क्या? उसमें खुद कला भरी होती है। इसी तरह केवलज्ञानी बनने की कला इस जीव में स्वयं भरी होती है। इस कला को कोई सिखायेगा क्या? भगवान बनने के लिये मेरे अन्दर यह कला भरी होती है। मेरे स्वभाव में ही भगवान् बनने की कला है। आनन्दमय होने की कला मेरे स्वभाव से ही भरी हुई है। केवल ऊधम छोड़ना है ऊधम जो लगा रखा है, वाह्य पदार्थों को अपना मान रखा है उसको केवल छोड़ना है बस आनन्दमय हो जावोगे। आनन्द करने की कला तो स्वयं में स्वभाव से भरी हुई है। ऐसा ज्ञानमय आत्मा मैं स्वयं हूँ। ऐसे ज्ञानमात्र का अनुभव करके अपने में अपने लिये स्वयं सुखी हूँ।

हमारा सुख कहाँ है? भोजन से सुख है क्या? नहीं है। भोजन करके जो ज्ञान बनता है उसमें ज्ञान रसका आनन्द है। भोजन करके आनन्द नहीं मिलता है। बाहुबलि स्वामी एक वर्ष तक तपस्या में रहे। एक वर्ष तक भोजन नहीं किया, आनन्दरस में डूबे रहे। बराबर एक वर्ष तक खड़े रहे। वे आत्मीय

आनन्द में मग्न थे। अन्यथा क्या कोई यों खड़ा रह सकता है? या तो बैठ जायगा या खाने- पीने दौड़ेगा, पर बाहुबलि महाराज तपस्या में खड़े रहे।

आत्मीय आनन्द अपने ज्ञानरस से आता है, बाहरी पदार्थों से नहीं आता है और वह ज्ञान आनन्दरसमय है तू भी ज्ञानघन है, अतः तू ज्ञानस्वरूप को देखकर और अपने ज्ञान का रस लेकर सुखी हो ले।

जैसे कभी-कभी बच्चे दूसरे बच्चों से जिसके हाथ में लूटका आम हो। आम ले लेने के लिये छेड़ते हैं और पीटते हैं। यदि वह आम को फेंक दे तो सारे बच्चे पीटना छोड़ देंगे। इसी प्रकार पक्षी दूसरे पक्षी से मांस का टुकड़ा छीनते हैं। उस पर अनेक आक्रमण होते हैं, पर यदि वह उस टुकड़े को छोड़ दे तो पक्षी आक्रमण करना छोड़ देंगे।

इसी तरह ये जगत् के जीव जो दुःखी हो रहे हैं, लोग जो पीट रहे हैं इसलिये कि पर को अंगीकार कर रहे हैं। एक काम कर लो, पर की तृष्णा छोड़ दो। सबसे मिलने वाली विपदा समाप्त हो जायगी, सारी तृष्णा यहीं खत्म हो जायगी। जानने मात्र से ही आनन्द है और उसमें ही कर्म की निर्जरा होती है। इसलिये अपने को अपने ज्ञान में रखो और शांत होओ।

यदुपासैतदाप्तिः स्यादतः शुद्धात्मतां भजै।

शुद्धाप्तिः शांतिसम्पत्तिः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥१७-४२॥

अर्थ— मैं जिसकी उपासना करूँ, उसकी प्राप्ति होती इसलिये मैं शुद्धात्मा को ही भजूँ क्योंकि शुद्ध आत्मभाव की प्राप्ति और शांतिरूप सम्पत्ति एक ही बात है सो शुद्ध स्वरूप वाले अपने में अपने लिए अपने आप सुखी होऊँ।

मैं जिसकी उपासना करूँ उसकी ही मुझे प्राप्ति हो जाती है। पर उसमें शुद्ध, अशुद्ध की बात लेना है। हर एक बात नहीं लेना है कि मैं हजार रुपया चाहूँ उसकी उपासना करके वह रुपया मिल ही जाय। मैं यदि शुद्धतत्व की उपासना करूँ तो शुद्धतत्व मिल जायगा और यदि अशुद्ध तत्व की उपासना करूँ तो अशुद्धतत्व मिल जायगा। जैसे धन की उपासना की, तो शुद्धतत्व की उपासना की? नहीं, शुद्धतत्व की उपासना नहीं की। यह मैंने अपने को माना कि मैं धनी हूँ, अमुक हूँ, मेरा कितना मान है, राग है? इस तरह से अपने को देखो तो क्या शुद्धतत्व की उपासना की? अपने को मोहरूप अनुभव कर रहा है कि यही मैं हूँ तो अशुद्धतत्व की उपासना हुई। मैं ऐसा जानने वाला हूँ, ऐसा बुद्धिमान हूँ, ऐसा अपने को समझने वाला हूँ, यह भी अशुद्ध तत्व की उपासना हुई। मैं अच्छी समझ वाला हूँ, ज्ञान वाला हूँ, जानने वाला हूँ, यह भी अशुद्धतत्व हुआ।

मैं केवल शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ, इस तरह की उपासना की तो वह शुद्धतत्व हुआ। मैं केवल शुद्धचैतन्यस्वरूप हूँ, ऐसी उपासना को शुद्धतत्व की उपासना कहते हैं और इसके अलावा किसी भी रूप में हो अशुद्धतत्व की उपासना कही जायगी। मैं अपने को एक समझ रहा हूँ। अपने को समझने पर ही सारे सुख दुःख निर्भर हैं। सुख, दुःख न धन पर निर्भर हैं, न परिवार पर निर्भर हैं, न मित्र जनों पर निर्भर हैं। मैं अपने

को जैसा समझता हूँ उसी पर सुख, दुःख निर्भर हैं। यदि मैं अपने को सब जीवों के समान शुद्ध चैतन्य मात्र जिसका नाम नहीं है किन्तु चेतनास्वरूप एक वस्तु हूँ—इतना मात्र अपने को अनुभव करूँ तो वहाँ व्याकुलता नहीं है। जो अनुभव संसार मय अपने को करता है, अपने को नाना रूपों में अनुभव करता है, न जाने किन किन रूपों में अनुभव करता है, वह जगजाल में रलता है। जिसका निरन्तर ज्ञानमय चित्त रहता है, जो मोहियों के संग में कम से कम रहता है, जिसने दुनिया में कार्य करने का भार नहीं लादा है, जिसके अपने को दुनिया में दिखाने का अभिप्राय नहीं आता है वह शुद्ध तत्व की उपासना के योग्य है। दुनिया उसे जान नहीं जाती है। यह सब दुनिया माया रूप है। इसको समझने से मुझ में सुधार कुछ नहीं आता है। और यह दुनिया उसे जानती भी नहीं है और यदि जानती है तो वह और चीज है। शुद्ध ज्ञान में जिसका उपयोग प्रायः लगता है, ऐसा पुरुष ही ऐसा अनुभव कर सकता है कि मैं शुद्ध चैतन्य मात्र हूँ।

धर्म करो, धर्म करो, धर्म क्या करें ? एक टांग से खड़े रह जायें धर्म क्या करें? यही धर्म करना है कि अपने को ऐसा अनुभव करो कि मैं शुद्ध चैतन्य मात्र हूँ, चेतनामात्र हूँ, हमें कोई पहिचानता भी नहीं है। लोग मुझे क्या कहेंगे ? यदि यह समझ में आता है तो समझो कि मेरी बुद्धि कहीं बाहर फंसी है। लोग यदि कुछ कहते हैं तो समझो कि हमारी कहीं बाहर में बुद्धि गई हैं। चाहे वह धर्म के नाम में हो ऐसी बात आवे। मैं धर्म में कमी करूँगा, लोग मुझे क्या कहेंगे? तो भी समझो कि बाहर में बुद्धि लगी है। लोग मुझे जानते ही नहीं तो मुझे कहेंगे क्या ? मैं अपने स्वरूप में हूँ, अपनी चैतन्यशक्तिमें हूँ, प्रभु हूँ, भगवान् या भगवान् स्वरूप हूँ, अपने कुल की शान रखो, चैतन्य मेरा कुल है। ज्ञाता, द्रष्टा बने रहना ही कुल का उजेला है। यही उसका कल्याण है।

सारा जगत् यदि मेरी प्रशंसा कर दे तो क्या कुछ इससे मुझमें फेरफार हो जायगा। जगत् के लोग मेरी निन्दा कर दें तो क्या मेरा बिगाड़ हो जायगा। खोटे कार्य किये हैं तो मर कर नरक तिर्यञ्च में जाना पड़ेगा। मैं अन्तर में भला हूँ, शुद्ध दृष्टि वाला हूँ, पूर्वोदयवश सारा जग निन्दा करे तो क्या मेरा स्वर्ग मोक्ष रुक जायगा ? मेरे करने से ही मेरे में फेरफार होगा। दूसरे के करने से फेरफार नहीं होगा। जहाँ अपने कल्याण का प्रश्न हो वहाँ अपने आपके परिणाम पर ही सारा निर्णय छोड़ना चाहिये। कल्याण की बात दूसरे जान जावें तो क्या कल्याण हो जावेगा ? लोग मुझे पूजा करते हुए देख लें तो क्या मेरा कल्याण हो जावेगा ? ऐसी दृष्टि जो रखते हैं वे लौकिक पुरुष हैं।

मैं इस जगत् में अनाथ हूँ, मैं तो लोक में असहाय हूँ, केवल अपने आपका ही मैं आप हूँ, इसके लिये दूसरा कोई नहीं है। मुझे अपनी जिम्मेदारी निभानी चाहिये। इस समस्या में चाहे लाखों हजारों की माया हो, चाहे सचेतन पदार्थ कितने ही हों, कोई भी मेरी मदद करने वाला नहीं है। मैं तो मात्र परिणाम करता हूँ, फिर जैसे यह आटोमेटिक हो वैसे ही मेरी दशा हो जाय करती है। हमें अपने आपका ज्ञान व विश्वास निर्मल रखना चाहिये, जिससे मेरी रक्षा हो। मेरी इसी में सहज व्यवस्था है कि मैं अपने सहजस्वरूप को देखूँ और उसे ही अपना मानूँ। मैं जिस रूप में अपनी उपासना करता हूँ, मैं उसी रूप

को पा लेता हूँ। मैं स्वयं कल्पवृक्ष हूँ। मैं दूसरे से क्या मांगू ? जो मैं अपने को मानता हूँ, वही रूप मेरे में हाजिर हो जाता है। यदि मैं शुद्धता अपने में चाहता हूँ तो शुद्धता हाजिर हो जाती है और यदि मैं अशुद्धता अपने में मांगता हूँ तो अशुद्धता हाजिर हो जाती है। मैं अपने को जैसा देखता हूँ, उसी प्रकार अपने को बना लेता हूँ। इसी कारण योगी जन अपने को निरन्तर अछूता, सबसे निराला, अनादि अनन्त अपने को देखते हैं।

एक कथानक है कि एक आदमी था। गर्मी के दिनों में दोपहरी में चला जा रहा था। जब गर्मी लगी तो सोचा कि अगर कोई वृक्ष मिल जाय तो आराम कर लूँ। रास्ते में एक वृक्ष मिल गया। वह वहीं बैठ गया। वह कल्पवृक्ष था। वह सोचने लगा कि अगर थोड़ी सी हवा चल जाय तो और आराम मिले। हवा चलने लगी। फिर सोचा कि अगर थोड़ासा ठण्डा पानी मिले तो और आराम मिले। ठण्डा पानी भी आगया। अब उसने सोचा कि फल और मिल जावें तो बड़ा ही अच्छा हो जाय। फल भी आ गये। फिर सोचा कि यह क्या हो रहा है ? यहां कोई आदमी भी नहीं है। सोचा यहां कोई भूत तो नहीं है; जो आकर खा जाय। तो भूत भी आ गया और उसको खा गया। हां तो कल्पवृक्ष के नीचे जैसा सोचे वैसा आ जावे। वह तो साक्षात् चिंतामणि ही है।

आप हम भी स्वयं कल्पवृक्ष हैं या चिन्ता-मणि हैं। जैसा मानो तैसा बन जाओ। अब बताओ कि शुद्ध बनना चाहते हो या अशुद्ध बनना चाहते हो। यदि हम अपने को अशुद्ध देखना चाहें तो अशुद्ध बने रहेंगे और यदि हम अपने को शुद्ध देखना चाहें तो शुद्ध बन जायेंगे। जैसे मैं अपनी उपासना करूँ तैसा मैं बन जाऊँ। राम, हनुमान जी, भरत जी, बाहुबलि जी भगवान् कैसे बन गये ? इन्होंने अपने आप में शुद्ध आत्मा की उपासना की। मैं शुद्ध चैतन्य मात्र हूँ, मुझमें कोई बखेड़ा नहीं है। मुझमें किसी दूसरे का अस्तित्व नहीं है। मैं अपने ही तत्व में हूँ, ज्ञान में हूँ, सबसे निराला हूँ। जहां इस केवल की भावना की तो केवल ही रहोगे। केवल रह जाने का नाम भगवान् है। अपने को केवल देखो तो केवल बन जाओगे और अपने को दूसरा रूप देखो तो दूसरा रूप बन जाओगे। जैसा ही अपने को देखोगे वैसा ही अपने को बना लोगे। मंत्रों में और क्या है? मैं बीमार हूँ तो मंत्रों से ठीक हो जाता हूँ। मंत्र से यह भावना की जाती है कि मैं ठीक हूँ, अनन्त बलशाली हूँ तो मैं ठीक हो जाता हूँ। कभी-कभी कोई आदमी के खराबी हो, कहते हैं कि टी०बी० हो जाने के लक्षण हैं और यदि-उससे कोई कह दे कि तुम्हारे रोग है तो वह घबड़ा जायगा और यदि कह दे कि स्वस्थ है तो उनका दूसरा ही असर पड़ेगा। किसी सेठ से किसी का मुकदमा था। सेठ के विपक्षी वकील ने सलाह दी कि सेठ मुकदमें में जायगा, वहां तुम पहुंच जावो। ५-१० आदमियों से जैसे टिकट-देने वालों से, तांगे वालों से पुलिस वालों से बता देना कि अगर सेठजी आवें तो उनसे कहना कि सेठ जी तुम्हारा चेहरा आज क्यों गिर गया है? आज तो चेहरा बिल्कुल बदल गया है, बीमार थे क्या ? सेठ जी टिकट लेने गये तो टिकट देने वाले बाबू ने सेठ से कहा कि आज तुम्हारा चेहरा बिल्कुल बदल गया है, बीमार थे क्या? इसी प्रकार से रिक्शे वाले ने, तांगे वाले ने तथा पुलिस वालों ने भी सेठ जी से पूछा। चेहरा तो बिल्कुल बदल गया है। अब सेठजी

का हुलिया बिगड़ गया, बुखार आ गया, आखिर मुकदमे का ख्याल छोड़कर घर लौट आये। जैसी उपासना कर ली, वैसा परिणाम कर लिया। अपने आप में अगर शुद्ध चैतन्य की उपासना करो तो शुद्ध चैतन्यस्वरूप बन जाओ। यह बड़े मर्म की बात है। केवलज्ञान, जो सारे विश्व का ज्ञान करता है। ऐसा केवलज्ञान जो सारे विश्व को जाने। केवलज्ञान पैदा होने का उपाय क्या है कि हम अपने को केवल देखें, ज्ञानमय देखें। केवल, सिर्फ, मात्र, (एलोन) ही अपने को देखें कि मैं ज्ञानमात्र हूँ। केवल ज्ञानमात्र अपने को अनुभव करने का फल है केवलज्ञान हो जाना। तो योगियों ने क्या किया? बस केवल अपने को ज्ञानमात्र अनुभव करने में ही जोर दिया और केवल अपने को ज्ञानमात्र ही अनुभव किया। बस केवल अपने को ज्ञानमात्र अनुभव करने में सम्यक्त्व का अनुभव है। मैं केवल ज्ञानमात्र हूँ, यह अनुभव शुद्ध तत्व का अनुभव है। शुद्ध तत्व का ज्ञान करने से शुद्धता मिलती है और अशुद्ध तत्व का ज्ञान करने से अशुद्धता मिलती है। भगवान् बनने का उपाय अपनी शुद्धता है। ऐसे मैं अपने शुद्ध आत्मतत्व को भजता हूँ। स्थापना किसी चीज की करते हैं तो हजारों, सैकड़ों आदमी भावना करते हैं। जैसे यह मूर्ति केवलज्ञानी भगवान् की है, ऐसा मानकर हम भगवान् की स्थापना करते हैं। गर्भकल्याणक हुआ, जन्मकल्याणक हुआ, ज्ञान कल्याणक हुआ। भावना ही से तो सब है। भगवान् स्वरूप हम अपने को मानकर एक बार अपने में स्थापना तो कर लें। जैसे हम भगवान् की मूर्ति का आदर, सत्कार, पूजा इत्यादि करते हैं, वैसे ही हम अपने आप में भगवान् की मूर्ति मानकर आदर व सत्कार तो कर लें।

जैसे लड़का, लड़की की शादी हुई। लड़की की यह भावना हुई कि यह मेरे पति हैं और लड़के की यह भावना हुई कि यह मेरी स्त्री है। केवल भावनाओं का अन्तर है। भावनायें भरकर वह ऐसा कहलाये। कि वास्तवमें वह ही उसका सब कुछ है। केवल भावनायें भरकर वह ऐसा कहलाये। किसी स्त्री और पुरुषको देखकर कोई नहीं कहेगा कि यह उसकी स्त्री है और वह इसका पुरुष है। केवल भावनायें करनेसे ही संकल्प हो गया है। वह स्त्री दूसरे पतिपर अपनी बुद्धि नहीं लगाती है और वह पुरुष दूसरी स्त्रीपर अपनी बुद्धि नहीं लगाता है। इसका कारण यह है कि उनकी भावनायें स्त्री और पुरुषकी भरी हुई हैं। जैसे मैं अपनेको देख लेता हूँ तैसे ही मैं अपनेको पा लेता हूँ। जब बालक लोग आपसमें खेलते हैं कि मैं चोर बन जाऊँ, तुम बादशाह बन जाओ, वह सिपाही बन जावे, वह कोतवाल बन जावे तो हम जज बन जावेंगे। जब जज के सामने चोरको पकड़कर लाता है तो कभी कभी इसीमें बालकोंमें झगड़ा हो जाता है, पिटाई भी हो जाती है। कहीं-कहीं नाटकमें तो जैसे अमरसिंहका नाटक बड़ा प्रसिद्ध बतलाया जाता है। उस नाटकमें एक बार जो अमरसिंह बना था उसने जवाब सवालमें ही सलामतखांको याने जो बालक बना था उसको मार डाला था। अमरसिंह को जोश आ गया। उसने जो सलामतखां बना था उसको तलवारसे मार दिया था। उसकी भावना ऐसी भर गई कि मैं अमरसिंह हूँ। उसने ऐसा नहीं सोचा कि मैं एक लड़का हूँ। बस जो जैसी भावनायें करता है वैसी ही भावनायें अपनेमें प्राप्त कर लेता है। तो मैं निरन्तर अपनेमें अशुद्ध भावनायें किया करता हूँ। मैं गृहस्थी हूँ, साधु हूँ, पंडित हूँ, त्यागी हूँ, मैं अमुक हूँ, इत्यादि नाना प्रकारसे अपनेको अनुभव करता है। तो अपनेको अशुद्ध बनाता चला

जाता है। अपनेको जो अशुद्ध मानेगा वह अशुद्ध ही बनता चला जायगा और जो शुद्ध मानेगा वह शुद्ध ही बनता चला जायगा। यदि मैं नहा लेता हूँ, तो भावना यह हो जाती है कि मैं शुद्ध हूँ, भावनासे ही शुद्ध है। पेटके अन्दर चाहे विकार ही भरा हो परन्तु स्नान कर लिया तो शुद्ध हो गए। यह भावना हो गई कि अब मैंने स्नान कर लिया है और शुद्ध हो गया हूँ, अच्छा यह बताओ कि शरीर शुद्ध है कि आत्मा शुद्ध है। शरीर शुद्ध है कि नहीं? यह तो डाक्टर ही जांच करके बतायेगा। तो न शरीर शुद्ध है और न आत्मा शुद्ध है। केवल भावनाकी बात है कि मैं शुद्ध हूँ, अथवा अशुद्ध। उस भावनाका क्यों बनानेका रिवाज चला? केवल एक प्रकारका व्यवहार चलाने के लिये यह भावना चली कि मैं शुद्ध हूँ अथवा यह भावना बनी कि मैं अशुद्ध हूँ, पाप साधनों से दूर रहने के लिये भावना बनी है। मनुष्य भावना बनानेके अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकता है। एक बार तू ऐसी हिम्मत किसी क्षण कर ले कि चाहे कितनी ही परिस्थितियों में फँसा हुआ हो, चाहे कैसा ही अवसर हो, किसीका उपयोग ज्ञानमें न आवे मुझे कुछ नहीं सोचना है। सब असार हैं, सब पर चीजें हैं। इस मुझमें कुछ भी नहीं आता है। मैं केवल ज्ञानमात्र हूँ ऐसा ज्ञानमात्र ज्योतिर्मय अपनेको देख, ऐसी हिम्मत तो बन जाय। भीतरसे जो आनन्द आयेगा वह भगवानके समान है। अपने आप ऐसा अनुभव करनेका उपाय करना चाहिए। यदि मैं इस प्रकार शुद्ध आत्मतत्वकी उपासना करता हूँ तो मैं शुद्ध बन जाऊंगा और यदि मैं अपनेको अशुद्ध ही अनुभव करता हूँ तो अशुद्ध ही बना रहूंगा।

जगत्के जितने सुख हैं उन सब पर लात मारना होगा। इतनी हिम्मत जो कर सकता है वह शुद्ध आत्माको प्राप्त कर सकता है। मैं चार आदमियोंमें अच्छा कहलाऊँ, यह भी एक जगत्का सुख है। मेरे दो चार बच्चे हों। लोग समझें कि बाल बच्चे वाला है। यह कल्पनायें जगत्के सुख हैं। कोई भोजन करके सुखी होता है, वह भी जगत्का सुख है। कोई पूजा उपासना करके सुखी होता है, कोई पंडित बनकर सुखी होता है। धर्मकी बात अभी नहीं आयी। विद्या पढ़ो, देखो इसमें क्या रक्खा है? यह भी एक जगत्का सुख है। धर्म वहां है कि इस जगत्की सारी सुखकी बातें हटा दें और केवल निराकुल ज्ञानमात्रका अनुभव जिसके आ रहा है, किसीका ख्याल नहीं है तो वह धर्म है। तो यह धर्म मिलता कैसे है? इस धर्मस्वरूपकी ही उपासना करें तो धर्म मिलता है। अधर्म किसे कहते हैं? जब नाना रूपोंमें उपासना करें तो अधर्म मिलता है। धर्मका मिलना, शुद्ध आत्माका मिलना सदा यह अलौकिक वैभव है, सुख है। मैं अपनेमें शुद्ध आत्माकी भावना करके अपनेमें सुखी होऊँ।

लोग कहते हैं कि ईश्वर पहले जब अकेला था, संसार न था। उसने सोचा कि मैं अकेला हूँ। बहुत हो जाऊँ तो बहुत हो गये। जीव असंख्य हो गये। उसमें समाधान मिलता है कि हम सब एक हैं, शुद्ध चैतन्यस्वरूप हैं। हम जब संकल्प करते हैं कि मैं अमुक हूँ, मैं अमुक हो जाऊँ तो अपनेको नाना रूप बनाता रहता है। नाना शरीरोंमें जन्म मरण कर रहा है। जैसे 90 तरह की आग लगती है, कोयलेकी आग, लकड़ी की आग, कपड़ेकी आग, तृणोंकी आग आदि आदि। उन सबमें आग है, मगर 90 तरहकी नहीं। स्वरूप सबका एक है। यह बताओ कि क्या आग गोल है, चौकोर है, टेढ़ी टाढ़ी है, तिखूटी है, लम्बी लकड़ी यदि जल रही है तो क्या वह लम्बी है? आग कैसी होती है, बताओगे।

केवल गर्मीका नाम आग है, गोलका नाम आग नहीं, लम्बीका नाम आग नहीं। केवल मात्र गर्मीका नाम आग है, वह एकस्वरूप है। इसी तरह यह जीव नाना रूप हो रहा है। यह मनुष्य है, यह कीड़ा है, यह पेड़ है, यह पक्षी है, यह काला है, यह गोरा है, यह नाग है, यह देव है। इस जीवका स्वरूप उतना है क्या ? नहीं वह तो एक है। क्या जीव लम्बा है, नहीं है। क्या वह दूसरे प्रकारका है? नहीं है। कैसा है वह जीव? एक चैतन्यशक्ति का नाम जीव है और वह चैतन्यशक्ति एक ही स्वरूप है। ऐसे एक स्वरूप चैतन्यस्वभावको जिन्होंने उपयोगमें लिया वह ज्ञान है और जिसने नाना रूपोंमें उपयोग लिया वह अज्ञान है। एक हमारा सहपाठी था। उसने यह प्रश्न किया था कि बोलो महाराज क्या बात है कि साधुजनोंको यदि कोई नमस्कार नहीं करता तो वे गुस्सा भी होते हैं और दुःखी भी होते हैं। इसका कारण क्या है? हमने कहा कि तुम्हीं बताओ कि इसका कारण क्या है? निर्णय निकला कि जो यह मानते हैं कि मैं साधु हूँ, इसने नमस्कार मुझे नहीं किया तो गुस्सा आ जाता है। अरे मैं साधु नहीं हूँ, मैं एक चैतन्य वस्तु हूँ। ऐसा उपयोग हो तो कषाय नहीं आवे। मैं चैतन्यस्वरूप वस्तु हूँ। ऐसा अनुभव करे तो वह ज्ञान है। इसमें जैसे गृहस्थीने अनुभव किया कि मैं कुटुम्ब वाला हूँ और साधुने अनुभव किया कि मैं साधु हूँ। अगर गृहस्थ अपनेको गृहस्थ अनुभव करे तो वह मिथ्यात्व है और अगर साधु अपनेको साधु का अनुभव करे तो वह भी मिथ्यात्व है।

तू ऐसा अनुभव कर कि मैं शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ, यदि ऐसा अनुभव नहीं करता है तो अज्ञान है। इसी प्रकार वह साधु भी अनुभव करे तो वह अज्ञान है यह तो कर्मका उदय है कि इतना अनुभव कर चुकनेपर भी फिर आहार करना पड़ता, अपने को गृहस्थ जीवन बिताना पड़ता है, गृहस्थ बनना पड़ता है, अपनेको महारथी बनाना पड़ता है क्यों ऐसा करना पड़ता है? यह सब कर्मों का उदय है। मैं आत्मा वास्तव में एकस्वरूप हूँ। अतः अपनेको चित्त्वभावी मात्र अनुभव करे तो वह शुद्ध होता है और यदि अपनेको नाना रूपोंमें अनुभव करे तो वह अशुद्ध बन जाता है।

संयम्याक्षानि मुक्त्वा च कल्पनां मोहसम्भवाम्।

अन्तरात्मस्थितः क्षान्तः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥११-४३॥

अर्थ—इन्द्रियोंको संयमित करके और मोह से उत्पन्न होने वाली कल्पना को छोड़ करके क्षमाशील अन्तरात्मा में स्थित होता हुआ मैं अपनेमें अपनेलिये अपने आप सुखी होऊँ ।

यह जीव स्वभावसे ज्ञानघन एवं आनन्दमय है। इसका स्वरूप, इसका अस्तित्व इस ही प्रकारका रचा हुआ होता है कि ज्ञान और आनन्द ही इसका सर्वस्व है। पर इस स्वरूपकी श्रद्धा न होने के कारण किसी न किसी परपदार्थों में आनन्द की आशा लगायेगा ही । फल यह होगा कि यह बाह्य पदार्थों में आशा लगाता है। बाह्य पदार्थों का ज्ञान इन्द्रियोंके निमित्तसे हो रहा है। इसलिये इन्द्रियां उनके ज्ञानका कारण तो बनती हैं पर स्वभाव ही इन इन्द्रियों का ऐसा है कि किसी न किसी कुपथमें लै जानेमें सहायक होती हैं। फल यह होता है कि हम इनमें अपना हित मान लेते हैं। इन सब विपत्तियोंका मूल इन्द्रियों द्वारा ज्ञात करना हो जाता है। जिन इन्द्रियों के द्वारा हम गर्व करते हैं उस गर्वके ही मूलमें हमारे पतनका

कारण निहित है। जब आपको इन्द्रिय ज्ञान हो रहा है चाहे इन्द्रिय ज्ञान से देख रहे हों चाहे सुन रहे हो। हर जगह इन्द्रिय ज्ञान चला करता है। यही इन्द्रियज्ञान हमको भूल देनेमें कारण बन गया। हम जानते हैं कि इन इन्द्रियोंके द्वारा हम तो समझ रहे हैं, स्वाधीन हो रहे हैं, पर इनके कारण हम अपनेको भूल रहे हैं। आंखोंसे बाहर देखा तो जो देखा वह सही लगा। भूल गया अपने आपको। कानों से जो सुना वह सही लगा। अपने आपके परमार्थको भूल गया। इन इन्द्रियोंसे जो भोग किये वह सही लगे, हम अपने शुद्ध ज्ञानस्वरूपको भूल गए। इतनी बड़ी विपत्तिमें आ गए। इसी कारण ज्ञानी जीव अपने कर्मविजयके मैदानमें कूदते हैं तो वह सबसे बड़ी इन्द्रियों का संयम करते हैं। जहां इन्द्रियोंका संयम हुआ, इन इन्द्रियों द्वारा काम करना बन्द किया। इनकी ओर हम ज्यादा उत्सुक न रहें। इन्द्रियविषयोंका नियंत्रण किया कि हमने अपने आपका अपने आप दर्शन पाया। जब तक ये इन्द्रियां जीवित हैं, जिन्दा हैं तब तक हमको दुःख होना प्राकृतिक बात है। कुन्दकुन्द भगवानने तो प्रवचनसार में जो लिखा, उसकी टीका करते हुए श्री अमृतचन्द जी सूरि कहते हैं—

‘तेषां जीविदवस्थानि हतकरनीन्द्रियाणि तेषांमुपाधिप्रत्ययं न दुःखं किंतु स्वाभाविकमेव।’

जिन जीवोंकी इन्द्रियां जिन्दा हैं, उनको दुःख होना प्राकृतिक बात है। उसमें उन्हें जो दुःख होता है उसमें उन्हें यह नहीं कहना चाहिए कि मुझको किसी उपाधि से दुःख होता है। नहीं, जहां इन्द्रियोंमें रत हुए वहां उनको दुःख होना स्वाभाविक ही है। हाथी पकड़े जाते हैं स्पर्शन इन्द्रियके वशीभूत होकर। मछलियां पकड़ी जाती हैं रसना इन्द्रियके वशीभूत होकर। भंवरे मर जाते हैं तो घ्राणके वशीभूत होकर। पतंगा दीपकमें जल जाता है नेत्रइन्द्रियके वशीभूत होकर। हिरन, सांप पकड़े जाते हैं तो श्रोत्रइन्द्रियके वशीभूत होकर। यह इन्द्रियज्ञान जिसमें हम रस इत्यादि पाते रहते हैं बड़ा विसंवादपूर्ण है। इनके वश होकर जीव अपने आपको भुलाए रखते हैं। इन इन्द्रियों का संयम करना ही धर्मकी शुरुआत है, चारित्रकी शुरुआत है। ये इन्द्रियां हैं, भीतर आत्मा है। यह आत्मा इन्द्रियज्ञानसे सुखका अनुभव करता है। पर यह आत्मा इन्द्रियज्ञानको छोड़कर केवल अपने स्वरूप रसका स्वाद ले तो अत्यधिक सुखी हो जाय। ज्ञानी गृहस्थीको छोड़कर केवल अपने स्वरूप रसका स्वाद ले तो अत्यधिक सुखी हो जाय। ज्ञानी गृहस्थको भी गुजर करना पड़ता है, खाना पड़ता है किन्तु इस तरह से जीभ चलाकर भी अपने आत्मस्वरूपकी ओर दृष्टि रखता है।

मेरा स्वरूप केवल ज्ञानमात्र है। ज्योतिर्मय, ज्ञानस्वरूप बनना मेरा कार्य है यह सब जानते हुए भी उपाधिवश करना पड़ता है। यह सब पर्यायके चक्कर हैं, परन्तु मेरा स्वरूप तो शुद्धज्ञानमय है। यदि ऐसा कोई रहे तो वह इन्द्रियज्ञानसे ढका है तो भी उसके सम्यक्त्व कहा जाता है। एक को भीतर झुककर भी बाहरका काम करना पड़ता है और एक भीतर न रहकर बाहर ही करनेमें आसक्त हो जाता है। दृष्टियां मुख्य दो हैं। एक सम्यक्त्व दृष्टि, दूसरी मिथ्यात्व दृष्टि। मनुष्य खाते तो सभी हैं। भोगते, पालते पोषते तो सभी हैं परन्तु एकका अन्तरमें झुकाव है। एकको करना पड़ रहा है। आंखों को अन्दरसे कुछ पता ही नहीं है। यह सब कुछ उत्तम मालूम देता है और आसक्त होकर इसका उपभोग करता है। इन दोनोंमें

सुख यहाँ प्रथम भाग

इतना अन्तर है कि ज्ञानी कर्मों का संवर करता है और यह बाहर झुका हुआ अज्ञानी कर्मों का आस्रव करता है। समझके अलावा जीवके पास कुछ नहीं है। सारा जौहर समझका है। समझके द्वारा यह जीव दुःखी हो जाता है और समझके द्वारा ही यह जीव सुखी हो जाता है। सारी स्थितियोंमें समझ ही मूल है। समझके अलावा इसके अन्दर और कोई कारण नहीं है। यह आत्मा अपने सहजस्वरूप में कैसा है? इसकी सच्ची समझ ही सबको सुखी कर देती है और अगर इसमें समझ नहीं है तो वह विपत्तियोंमें ही पड़ा रहता है। यह चार दिनकी चांदनी कितने दिन तक रह सकती है। फिर विपत्तियां आवेंगी और फिर वही अंधेरी रात आवेगी। यह भाव कब छूटेगा, इसका भी ठिकाना नहीं है। चलते फिरते ही कई गुजर जाते हैं। ऐसी घटनायें अनेकों दीखती हैं। प्रथम तो इस जीवका भी भरोसा नहीं है और यह भी कर लिया, भरोसा भी कर लिया तो कोई दिन तो जरूर आने वाला है जब हम यहां नहीं रहेंगे। जैसा परिणाममें आयेगा, जैसे तत्वमें आयेगा तैसे ही एकदम परिणमन हो जायगा, परिणमन मिल जायगा। ऐसा यह जगत्का चक्कर है। यहां इस इन्द्रियज्ञानमें एक विश्वास बनाया। यह सब मेरे सुखके साधन नहीं हैं। मैं इन्द्रियोंको संयमित कर लूं और मोहसे उत्पन्न कल्पनाओंका त्याग कर लूं। जैसे कोई जा रहा है और अपने साथमें खाना लिए जा रहा है, जब उसे भूख लगती है तुरन्त डिब्बा निकाल लिया और खा लिया। वह बिल्कुल स्वाधीन है। वह भूखसे छटपटा नहीं सकेगा। उसे किसीसे पूछताछ नहीं करना पड़ेगा। जब कभी भूख लगी तुरन्त निकाल कर खा लिया।

इसी प्रकार जिस ज्ञानी पुरुषको अपने आत्माके सहजस्वरूपकी दृष्टि मिल गई है, वह किसी भी परिस्थिति में हो, कैसे ही झगड़ों के बीच में हो, जब वह चाहे सारी बातोंको भूलकर अपने ज्ञानमात्र स्वरूपको लक्ष्यमें लेकर तुरन्त सुखी हो सकता है। वह जानता है कि जगत्में परपदार्थों से विपत्तियां कहां क्या होती हैं? जब हम इन असार पदार्थों की ओर झुकते हैं तो विपत्तियां हैं। जब हम वाह्यपदार्थों की ओर झुकेंगे तभी विपत्तियां आवेंगी। ये वाह्यपदार्थ मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं, ठीक उसी प्रकार पूरे तौर से जिसे स्त्री, पुरुष, बच्चे मान रखे हैं वह जीव भी उनसे भिन्न है। रंच भी गुंजाइश नहीं है कि यह जीव भी मेरा होगा। बस कल्पनायें बन गई कि यह मेरा है और परिस्थितियां ऐसी बन गई हैं कि वह छोड़ नहीं सकती हैं। घरमें ही तो रहता है और जीव कहां है? वहां तो काम करता है और यह इस ही को तो ठीक मानता है। परन्तु यह अपने स्वरूप व कर्तव्यको नहीं देखता कि क्या करना चाहिए? मैं तो केवल ज्ञानमात्र हूँ, और ज्ञानमात्र रहना चाहिए, ज्ञातादृष्ट्य रहना चाहिए। पहली अवस्थामें गलतियां कर डाली थीं। परकी ओर झुकनेका संस्कार दृढ़ कर डाला था। उसके फलमें यह व्याकुल हो रहा है। यह संस्कार भी ज्ञानकी दृढ़तासे छूटेंगे। जैसे रस्सीकी रगड़से पत्थरमें भी लकीर हो जाती है, इसी तरह मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ, अन्य रूप नहीं हूँ। मैं मनुष्य ही हूँ, मैं धन सम्पत्ति वाला नहीं हूँ, मैं गृहस्थ नहीं हूँ। अंतरंगसे देखा जाय तो मैं जगमग देखनहार तत्व हूँ। जो आत्मा है वह अमूर्त, ज्ञानमात्र, आत्मस्वरूप है। मैं ज्ञानमात्र हूँ, इसी प्रकारकी भावनाके बलसे यह मोह का संस्कार सब दूर हो सकता है। फल तो करनेसे ही मिलता है। बातोंसे फल नहीं मिलता है। प्रयोगसे ही फल प्राप्त होता है। रोटी बना लिया,

खा लिया, अपना पेट भर लिया, इतने शब्द कहनेसे नहीं रोटी बनती है और न पेट भरता है। हम काम खुद करते हैं। इसी तरह मोक्षमार्ग के लिए ऐसा उपयोग बनाते हैं कि मैं ज्ञानमात्र, जगत्में सबसे निराला, सबसे जुदा हूँ। सबसे पूरा जुदा मान लिया। घरके एक दो आदमियोंमें अपनेको मिला हुआ तू चाहे मान ले चाहे हजारसे मिला हुआ मान ले, उसमें अन्तर नहीं आता है। किसी एक जीवमें मोह करो या अनेक जीवोंमें मोह करो, अन्धकार तो वही है। इसे ज्ञानबलसे हटाना यह तुम्हारा ही तो काम रहा। आंखके आगे एक कागज लग जाय तो सब जगह अन्धेरा रहता है। इसी तरह एक भी परपदार्थमें, एक भी जीवमें, एक भी अणुमें यदि अपनेको मिला लिया है, उसे अपनी श्रद्धा में मान लिया है तो यह ठीक नहीं है। वहां भी अंधेरा ही अंधेरा है। यह बात तो तब समझमें आयेगी जब अपनेको सबसे निराला, केवल ज्ञानस्वरूप देखो। यह लिया दियासे धर्म का पालन नहीं है। जैसे स्त्रीके साथ, बच्चों के साथ पूजा कर रहे हैं तो वहां भी राग लगा रहे हैं। अरे यह पूजा नहीं कर रहे हैं, यह तो जगत् का मोह कर रहे हैं। अरे धर्मका पालन करने के लिए जगत्में अपनेको सबसे निराला अनुभव करो, बच्चोंको साथ में लेकर पूजा करने में राग हो रहा है। लड़कों ने अगर पूजा पाठ पढ़ लिया तो बड़े खुश हो रहे हैं। अरे यह धर्म नहीं है। धर्मका पालन तब होगा जब अपने आपको जगत्में निराला अनुभव करोगे। संकल्प तो यह किया कि मैं अपने एकत्वस्वरूपका अनुभव करूँगा। जब यह पढ़ते हैं कि -

अर्हन्पुराणपुरुषोत्तमपावनानि वस्तुनि नूनमखिलान्ययमेक एव।

अस्मिन् ज्वलद्बिम्बल केवलबोधवन्धौ पुण्यं समग्रमहमेकमनाजुहोमि।।

हे पुराण, हे पुरुषोत्तम, यह फल है, यह अक्षत है, यह पुष्प है, यह नैवेद्य है, ये अनेक पवित्र चीजें हैं, पर मैं इसे कुछ नहीं देख रहा हूँ। हमें केवल एक दिख रहा है। यह सारी चीजें मुझे तो एक ही दिख रही हैं केवल शुद्ध ज्ञानस्वरूप। यहां कुछ नजर ही नहीं आता है। अभी किसी से कुछ हो जाय, कोई गुजर जाये तो नाना जी बैठे हैं, फूफाजी बैठे हैं, मौसाजी बैठे हैं, मगर उसे कुछ नजर नहीं आ रहा है। वे मन बहलाते हैं कि गप्पें लगाना चाहिये, पर उसे कुछ दिखता नहीं। न मौसा दिखे, न बुआ दिखे, न सिनेमा दिखे। उसे केवल एक ही दिखता है जो गुजर गया, उसमें ही केवल नजर है। इसी प्रकार इस पुजारी में ज्ञानस्वरूप का इतना प्रेम है, उस सारे तत्व का इतना प्रेम है कि इसे थाली भी नजर नहीं आती। उसे लोग भी नजर नहीं आते हैं, प्रभु की प्रतिमा ही केवल नजर आती है। उसे कुछ दिखता नहीं है। उसे केवल ज्ञानस्वरूप, ज्ञायकस्वरूप ही दिखता है। जैसे इष्टदेव एक ही दिखता है, उसे १० रिश्तेदार नजर नहीं आ रहे हैं। वह केवल एक के ही गुण गाता है। उस पर ही आसक्त होता है और इतने आनन्द और शोक में गद्गद् होकर आंसू बहा देता है। आनन्द आया गुणों की दृष्टि करके, और शोक आया वियोग की दृष्टि करके। यह पुजारी जिसको यह ज्ञानस्वरूप ही रुचा है, उस एक पर को ही वह तन, मन, धन सब कुछ वार कर देता है। वह सब कुछ उसके लिए है जो कहते हैं कि मैं केवल ज्ञान की अग्नि में समस्त द्रव्यों को एक मन होकर स्वाहा करता हूँ, त्याग करता हूँ। इतने को ही, जो यह द्रव्य रखा है, यह तो मेरे दिल लगाने का साधन है। वह पुजारी तो उन समस्त सम्पदाओं

सुख यहाँ प्रथम भाग

को त्याग देता है, जो व्यवहार में उसके हैं। वह केवल अपने को एकाकी निरखता है। समस्त वैभव को त्याग देता है। सोना, चांदी तथा अन्य सम्पदायें सब कुछ त्यागने की बात कह रहा है। कोई मानों भगवान का वकील पूछे कि उनको त्यागने की कौन सी बड़ी चीज है? पुद्गल द्रव्य है, अत्यन्त भिन्न है तो आगे सुनो-जिस पुण्य के उदय से वह प्राप्त है उसको भी त्यागता हूँ, पुण्य कर्म है उसको भी त्यागता हूँ। अब पुनः प्रश्न होता कि पुण्यकर्म भी तो अन्य द्रव्य हैं। केवल बातें करता है कि मैं पुण्य को त्यागता हूँ। जब निज शुभ भाव का भी संन्यास ले लिया तो सारा वैभव कहां रहेगा, वह सब छूट जायगा। शुद्ध भक्ति यह है। जिस भक्ति में भगवान से ही तू तू मैं मैं हो जाती है, जब भगवान का स्वरूप ही दृष्टि में रह गया है तो भगवान को भी कहते हैं कि मैं उनकी भक्ति को भी त्यागता हूँ और मैं शुद्धदृष्टि भक्ति रखता हूँ, सब विकल्पों को त्यागता हूँ, ऐसी शुद्धदृष्टि करते हुए पुजारी केवल एक तत्व को निरख रहा है। ऐसा विकल्प किये हुए पुजारी पूजा में खड़ा है।

केवल एक शुद्ध ज्ञानस्वरूप ही नजर में आना चाहिए था। आंख खोलकर भगवान को देखो तो स्पष्ट नहीं दिखाई पड़ते हैं। और यदि आंख मून्दकर देखो तो स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। ये इन्द्रियां इस इन्द्रियज्ञान को इतना दबा देती हैं कि मैं अपनी समझ में नहीं आता हूँ। इस इन्द्रियज्ञान का मोह छोड़, यह इन्द्रियज्ञान पर है। कुछ ज्ञान भी नहीं है। मुझे इस ज्ञान की जरूरत भी नहीं है। मैं हूँ और परिणमता हूँ। इसके आगे मेरे में कुछ काम होता ही नहीं है। मैं हूँ और परिणमते चला जाता हूँ। ऐसे शुद्ध निजस्वरूप की दृष्टि करके जो अपनी अन्तर आत्मा में दर्शन होता है वह यहीं अपने आप सहजस्वरूप में आनन्दमग्न हो जाता है। यह बस धोखे की माया के लिये है। इन्द्रियों की माया ही असत्य ही नजर आता है, पर्याय ही नजर आता है। ऐसा पर्याय जो जानने में आता है वह सब असत्य है। सत्य तो वह है जो इन्द्रियज्ञान के परे है। यह सब कुछ मोह की नींद में स्वप्नसा हो रहा है। मैं इसको छोड़ कर अपने में अपने आप स्वयं सुखी होऊँ।

भावनाप्रभवः क्लेशो भावनातः शिवं सुखम्।

भावयेत्तः शिवं स्वं शं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥१-४४॥

अर्थ- क्लेश भावना से उत्पन्न होने वाला है और शिव स्वरूप सुख भी भावना से होता है, इसलिये शिव, कल्याण और सुख स्वरूप निज आत्मा की भावना करुं और अपने में अपने लिये स्वयम् सुखी होऊँ।

क्लेश जितने भी होते हैं वे सब भावना से होते हैं। जैसी भावना हुई उसी के अनुसार सुख दुःख भी होते हैं और जीव तो केवल अपनी भावना ही कर पाता है। बाह्यपदार्थों का परिग्रह कर ले, यह जीव के बस की बात नहीं है। जीव के बस की बात केवल परिणाम कर लेना है। क्योंकि वह जितना स्वरूपमय है, उतने ही स्वरूप में रह सकता है। स्वरूप से बाहर किसी भी पदार्थ का अस्तित्व नहीं है। आध्यात्मिक मार्ग में इसी को मिथ्यात्व कहते हैं कि परिणाम में द्रव्य की बुद्धि कर ले, अध्रुव में ध्रुव बुद्धि कर ले, इसी को ही मिथ्यात्व कहते हैं। पदार्थ जितने भी हैं वे सब स्वतः ही हैं। उनको किसी ने बनाया है नहीं। जो भी पदार्थ बने होते हैं वे पदार्थ नहीं हैं किन्तु पदार्थों की पर्यायें हैं। सो पर्याय

भी किसी दूसरे के द्वारा बनाई हुई नहीं होती हैं, पर अनुकूल परपदार्थ को निमित्त पाकर परिणमन वाले पदार्थ परिणमन कर लेते हैं। कोई दूसरे पदार्थ उसको परिणमाते नहीं हैं। उनका किसी प्रकार कोई दूसरा कर्ता नहीं है। यह तो सब पदार्थों का स्वभाव है कि वह हैं और निरन्तर परिणमते रहते हैं। इसके अलावा उनका कुछ प्रयोजन नहीं है। किसी अन्य से किसी अन्य का सम्बन्ध नहीं है। हैं और परिणमते रहते हैं। यही उनका काम है। पुद्गल में कितने ही पदार्थों का समूह बना रहे, वहां कोई झगड़ा नहीं होता है, क्योंकि सब अपने अपने काम में लगे रहते हैं, अर्थात् स्वयं परिणमते रहते हैं। पर जीव ही झगड़ा करता रहता है क्योंकि वह कल्पनायें करता, भावनायें करता, उल्टी सीधी बातें मानता रहता है। पदार्थ कैसा है, मानता और तरहका है। इतनी बात होने से जीव के साथ संकल्प लगा और किसी के साथ संकल्प न लगा। सब हैं और परिणमते हैं। एक लकड़ी है, एक ओर जल गई। जल जाने में उसमें कोई संकट नहीं। राख हो गई तो यहां भी परिणमन है। द्रव्य वही का वही है। उन्होंने ही पर्याय में यह अवस्था रख ली, पर बबाल तो इस जीव में आ गया है। यह यों करता है तो करने दो। वह एक पदार्थ है, अपनी योग्यता से परिणम रहा है। हमारा इसमें क्या दखल है? ज्ञाता दृष्टा रहे, परन्तु जो जीव ज्ञाता दृष्टा नहीं रह सकता है उसके बड़े विकल्प संकल्प होते रहते हैं। यह ऐसा ही होना चाहिये, ऐसा विकृत स्वभाव बना लेता है तो दुःख होता है। अभी किसी संगीत में या नृत्य में कोई कमी जानी जाय तो खेद हो जाय, अरे कैसी तान कर दी, कैसा तबला बजा दिया। क्यों दुःख होता है, क्योंकि उनका राग है, कल्पना है।

परिवार में, घर में निरन्तर विवाद ही बना रहता है। झगड़ा हुआ, वह भी तो विवाद है, प्रेम है वह भी तो विवाद है। विसम्वाद दोनों में है, मिल-जुल कर रहें, प्रेम-पूर्वक रहें, वह भी तो विवाद है। झगड़ा कर रहे, प्रेम कर रहे, वह भी तो विसंवाद है। अपने स्वरूप से अलग होकर बाह्य में किसी में लगना, वह सारा का सारा विसंवाद है। अच्छी तरह रह लिया, कब तक रह लिया, अवधि तो है, सीमा तो है। अपने स्वरूप से अलग होकर कौन सा सुख पाया, कौन सी शान्ति पायी? यह जीव अपनी भावनायें बनाता है और उन्हीं के अनुसार सुख, दुःख प्राप्त करता है। भावना ही संसार को नष्ट करने वाली है और भावना ही संसार की वृद्धि करने वाली है। जहां पर्याय में आत्मबुद्धि किया वहां संसार बढ़ने लगा जहां पर्याय को पर्याय मानकर, अध्रुव जानकर उससे हटकर सत् निज चैतन्य स्वरूप में आए वहां संसार का नाश होने लगता है। अर्थात् अपनी गतियों का विनाश होने लगता है, प्रत्येक पदार्थ अनन्त ज्ञान वाले हैं, अनन्त शक्ति वाले हैं। जैसे यह आत्मा है इसमें ज्ञान, दर्शन चारित्र्य अनेक गुण हैं और वह अपनी अनन्त शक्तियों से भरा हुआ है। यह अपने शाश्वत गुणों में रहता है, सामायिक पर्याय में रहता है, व्यक्तिगत रूप में रहता है। उनका कोई-न कोई प्रगट रूप बना रहता है। जो प्रगट रूप बना रहता है उसको ही सर्वस्व मान लेना सो ही मिथ्यात्व है। जैसे मनुष्य पर्याय यहां प्रगट रूप है, कषायादिक यहां प्रगट रूप हैं। इसको मान लेते हैं कि यह मेरा है, इसको स्वीकार करना ही मिथ्यात्व है। तीन चीजें हुआ करती हैं-द्रव्य, गुण, पर्याय। जितना भी शास्त्रों में ज्ञान भरा है वह आपका तब सफल है यदि द्रव्य, गुण और पर्याय की बात ठीक समझ में आए यदि वह समझ में नहीं आये और सब कुछ ज्ञान बढ़ने लगे तो

वह निष्फल है। सो द्रव्य, गुण, पर्याय का निर्णय नहीं है तो फिर सारा जानना बेकार है। द्रव्य, गुण, पर्याय क्या कहलाते हैं ? द्रव्य तो वह चीज है जो अनादिसे है और अनन्त काल तक है। वह एक वस्तु है और द्रव्य की जो नाना शक्तियां हैं, जो शक्तियां द्रव्य में तन्मय हैं, अनादि से अनन्त काल तक हैं, वह गुण कहलाती हैं। जो उत्पाद व्यय हो रहा है, जो बन रहा है, बिगड़ रहा है यह सब पर्याय हैं। जगत् के जीवों में प्राण पर्याय को सर्वस्व मानने का तो ज्ञान आगया, किन्तु जिसकी पर्याय है उस ध्रुव पदार्थ की ओर दृष्टिपात भी नहीं किया। आंखों से जो देखा है वह सब पर्याय है। इन्द्रियों से जो ज्ञान आया वह सब पर्याय है। मोटी पहिचान यह है कि जो नष्ट हो जाय उसे पर्याय कहते हैं। जिसका नाश हो जाता है उसको पर्याय कहते हैं। न नाश होने वाली चीजों में किसी बिरले जीव की रुचि है और नाश होने वाली चीजों में यहां सबका बखेड़ा लग रहा है। जो नष्ट हो उसे पर्याय कहते हैं। यह जो काला, पीला, नीला, लाल, सफेद दिखता है वह नष्ट हो जाता है। यह सुगन्ध, दुर्गन्ध आदि जो प्रतीत होते हैं वे सब नष्ट हो जाते हैं। रूखा, चिकना, कड़ा, नर्म, ठंडा, गर्म इत्यादि सब नष्ट हो जाते हैं। खट्टा, मीठा, कड़ुवा आदि ये पर्याय भी नष्ट हो जाते हैं। गुण वह कहलाता है कि जिसकी ये पर्याय चलती हैं। आप में काला, पीला, नीला ये रंग बदलते हैं, पर रंग जो शक्ति है, रूप जो शक्ति है, वह शुरू से अंत तक एक है। उसके बदलने की बात नहीं है। परन्तु रूपशक्ति को ज्ञान से ही जाना जाता है, रूप पर्याय को सब ही देखते हैं।

इसी तरह जो कषाय है या कषायरहित परिणमन हैं ये तो समझ में आ जाते हैं पर यह जो इन पर्यायों का स्रोत रूप है, जिसे चारित्र कहते हैं, इतना यह किसकी समझ में आता है? चौकी जान लिया, भीत जान लिया, अमुक को जान लिया, यह सब समझ में आता है, परन्तु यह परिणमन जिस शक्ति का हो रहा है वह किसकी समझ में आता है? पर्याय में तो सारा मोह होता है, द्रव्य की ओर दृष्टिपात नहीं है। पर्याय बुद्धि करके अनिष्ट बुद्धि व इष्ट बुद्धि करता है परन्तु द्रव्यों की ओर दृष्टि भी नहीं करता है। यह मेरा भला है, यह मेरा बुरा है। यह होता तो रहता है बड़ा सस्ता, क्योंकि झट कह देते हैं, मान लेते हैं, पर को अपना मान लेना, यह बड़ा आसान काम बन रहा है। झट अपना मान लिया, झट अपना सोच लिया, परन्तु यह बहुत महंगा पड़ता है। इसके मीठे रस का कितना भयंकर परिणाम होता है कि ८४ लाख योनियों में भ्रमण होना, चारों गतियों में चक्कर लगाने का फल सामने होता है। इतनी बात का ही यह भयंकर फल है कि पर सत् को यह कहना कि यह मेरा है। इस बीज का इतना भारी यह संसार वृक्ष बन गया। ये ५ इन्द्रिय, ६ काय, ३ वेद, २ कषाय, ये क्या हैं ? यह संसार वृक्ष ही तो है। यह इतने भारी वृक्ष का बीज केवल मिथ्यात्व है। मोह में बहे जाते हैं। परवस्तुओं में ममता लगाकर उन्हें अपना सर्वस्व समझकर, उनको ही अपना जानकर अपना जीवन गुजारते हैं, पर इस बीज का कितना बड़ा फैलाव है, तो यह सारे संसार में भटकना ही इसका फल है।

यह क्लेश सारे भावना से ही बने हैं और यह भावना से ही मिटेंगे। यह सारे उपद्रव केवल भाव करने से ही हैं और भाव से ही उपद्रव नष्ट होंगे। जैसे लोक में किसी को बुरा कह देना, गाली दे देना,

कितना आसान काम है। झट जिसे चाहे जैसा बोल दिया, पर इसके फल में दूसरे की लाठियाँ लगीं, मार पीट हुई और बांधे भी जावें, यह सारी विपदायें कितनी बड़ी हो जाती हैं ? किसी किसी की तो जान भी ले ली जाती है। इतनी बड़ी बात क्यों हो गई ? कहा कि मैंने उसको उल्लू कह दिया था। इतनी बड़ी बात कहने का झगड़ा इतना बड़ा बन गया। न कहते, न झगड़ा बनता। यह सारा संसार जितना कहेगा उतनी ही विपत्तियाँ आयेंगी। ये विपत्तियाँ क्यों आ गयीं? भाव झूठा आ गया। ममता की भावना आ गयी। ऐसे ही यह सारा संसार बन गया। हमारा काम क्या है ? हम अपना सही काम सोचें।

किसी नगर का एक राजा गुजर गया था तो मंत्री ने यह सोचा कि अब वह राजा बनाया जाय, जो कल सुबह अपने को इस फाटक में सोते हुए पड़ा मिले। ऐसा सब मंत्रियों ने इस सम्बन्ध में निर्णय किया। सुबह फाटक खोला गया तो एक संन्यासी लंगोटी पहिने हुए मिल गया। मंत्रियों ने कहा कि चलो हम तुम्हें राजा बनावेंगे। उसने सुन लिया कि हमें राजा बनाया जायगा। सुना क्या मानो वज्रपात हो गया। संन्यासी ने कहा कि हम राजा नहीं बनेंगे। मंत्रियों ने कहा कि तुम्हें राजा बनना ही पड़ेगा। संन्यासी को पकड़कर ले गये। संन्यासी ने कहा कि देखो राजा बन जावेंगे, मगर शर्त है कि हम राज पाट का काम नहीं करेंगे। हम तो केवल एक जगह पर बैठे रहेंगे। मंत्रियों ने कहा कि मंजूर है। मंत्रियों ने संन्यासी की लंगोटी को उतार दिया और सारे कपड़े जो राजा के होते हैं उसको पहना दिये। लंगोटी को एक काठ की पेटी में संन्यासी ने रख दिया। दो, चार वर्ष तक काम चलता रहा। इसके बाद किसी राजा ने चढ़ाई कर दी। मंत्री लोग घबड़ाकर एकदम राजा के पास आ गये पूछा, राजाजी क्या करना चाहिए? शत्रुओं ने चढ़ाई कर दी है। राजा कहता है कि सोचकर बताता हूँ। कहा अच्छा हमारी काठ की पेटी उठा लाओ। पेटी से लंगोटी निकालो। राजसी कपड़ों को संन्यासी ने उतार दिया और लंगोटी पहन लिया। हम आत्म राम को तो यह करना चाहिए। जिसको जो कुछ करना हो वह जानें। सर्वत्र अपने अपने को सोचो कि हम राम को क्या करना चाहिए? सर्वत्र दृष्टि डाल लो, सर्वत्र घूम लो। सर्वत्र घूमने के बाद यह सार मिलेगा केवल आत्म अनुभव ही एक अपना केवल आत्म अनुभव है, दूसरा अपना नहीं है। जैसे मैं सहजस्वरूप मात्र आत्मा हूँ वैसे ही अपने को अनुभव करो बस इतना काम है सार-भूत और इसके अलावा जितनी भी हमारी चेष्टायें हैं, राग, द्वेष, अधर्म, मोह, पाप इत्यादि की हैं वे सब हमारे लिए विपत्ति हैं। सम्पदा केवल एकमात्र अनुभव ही है। धन्य हैं वे जीव जिन्होंने मनुष्य भव पाकर यह काम किया। जो सार बनकर असार से दूर हुए। जो चैतन्य सामान्य होकर बड़े-बड़े योगी ज्ञानी, बलधारियों के उपासनीय बनें। जब तक यह जीव अपने को विशेष विशेष मानता है तब तक यह संसार में भटकता है और जब केवल अपने को चैतन्यस्वरूप मानता है तो इन संसारी बन्धनों से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। जैसी उसमें सब विशेषतायें हैं वह उनको लादे फिरता है, बताता फिरता है। ज्ञानी की दृष्टि में, योगी की दृष्टि में उसका कोई सम्मान नहीं और जो अपने को सबमें घुला मिला एक ही बताता है, उसकी दुनियां में इज्जत है और ज्ञानी की दृष्टि से वे अन्तर में उठते हैं और उठते ही चले जाते हैं। हम अपने

स्वरूप को न समझकर यह समझ जाते हैं कि हम उठ रहे हैं किन्तु हमारे उतने ही कर्म उठते चले जाते हैं। धर्म का पालन यही है।

कहते हैं ना कि प्रभु कैसे कहाँ बाहर हैं ? जब चाहो तब अपने प्रभु को गर्दन झुकाकर देख लो। प्रभु बाहर नहीं है। जहाँ यह गर्दन झुकाई, दृष्टि गई तहाँ अपने प्रभु के दर्शन कर लो। जहाँ पर बैठे हो उसका भी ध्यान न हो कि मैं कहाँ पर बैठा हूँ ? चाहे अनेक पदार्थों के बीच में बैठा हूँ तो भी मुझे यह ध्यान न हो कि मैं कहाँ पर बैठा हूँ ? केवल अपने सामान्य स्वरूप का ही अनुभव अपने में आ रहा हो, ऐसी स्थिति को आत्मानुभव कहते हैं। यह सारा जगत् पर होता है। इसमें ऐसी छंटनी करना कि यह मेरा है, हित है, उत्तम है, इष्ट है, ऐसे इन पदार्थों में छंटनी करना अज्ञान है। मैं तो मैं हूँ, मैं गृहस्थी हूँ और सारे काम देखने पड़ते हैं। कमाना, पालन-पोषण करना, यह बात तो किन्हीं और के लिए होगी। इनसे मेरा क्या मतलब है ? ऐसी बात न सोचो।

आत्मा जब विषय कषाय में थक जाती है तो इसको शांति देने वाला, यथार्थ जानने वाला यह ज्ञान ही है। बड़े-बड़े वैभव उन्होंने पाये। बड़ा कठिन गोरखधन्दा है। दो बातें साथ-साथ नहीं हो पाती हैं—संसार का मजा लूटना और मोक्ष मार्ग पा जाना। चित्त तो यह चाहता होगा कि यहाँ का मजा भी मिल जाय, और मोक्ष भी मिल जाय तो यह हो नहीं सकता है। जैसे एक सूई दोनों तरफ से नहीं सीं सकती है, दो कपड़ों को एक साथ नहीं सीं सकती है या कोई मुसाफिर क्या एक साथ दो दिशाओं में जा सकता है ? नहीं जा सकता है। जैसे कलकत्ता जाना है, एक ही साथ जयपुर भी जाना है तो क्या दोनों जगह एक साथ जा सकते हैं ? नहीं। इस प्रकार यह दोनों काम भी एक साथ नहीं हो सकते हैं। विषयभोग और मोक्ष का मिल जाना। यह लौकिक आनन्द बना रहे और मोक्ष भी मिल जाय, यह नहीं हो सकता है। इन दोनों में से एक करना चाहिये। अरे एकको तो देख लिया, विषयभोगों को तो देख लिया। अब तो जाँगो और मोक्ष का मार्ग देखो। यदि मोक्ष का मार्ग देखोगे तो धर्म में लग जाओगे। और धर्म ही ऐसा है जिसमें शांति मिल सकती है और कोई दूसरा उपाय नहीं है। यदि कोई भी जीवन बनाओ तो सही बनाओ। धर्म में तो सबका जीवन लग रहा है परन्तु यह बात कि कोई किसी तरह का धर्म करता है और कोई किसी तरह का धर्म करता है। एक भी मनुष्य ऐसा नहीं मिलता, जो कुछ न कुछ धर्म न करता हो, निरन्तर दूसरों को सताता हो, ऐसा कोई नहीं हो सकता है। जहाँ यह जाना कि मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, शुद्ध आत्मा हूँ, वहाँ सब दुःख दूर हैं और जहाँ पर्याय में बुद्धि की वहाँ क्लेश ही आ जाता है।

देखा होगा कि कछुवा वगैरा पानी में चलते फिरते रहते हैं। कभी-कभी कछुवा अपना सिर ऊपर पानी में करके चलता है। कोई चिड़िया आये तो झट कछुवा पानी में चला जावेगा। इसी प्रकार हम अपने से बाहर उपयोग करके चीजों को देख रहे हैं। अरे अपना उपयोग अपने में दबा लो, अपने में डूब जाओ, जो सारी विपत्तियाँ हैं, दूर हो जावेंगी। जितने उपद्रव हैं सब समाप्त हो जावेंगे। अन्तर में अपने को केवल देखो तो केवल ज्ञान ही सारा जौहर है। विपत्तियाँ हैं, स्वप्न देखने वाले जैसे घबड़ा

रहे हैं जब जग जाते हैं तब दुःख मिट जाता है। अरे यहां कहां से रहें ? मैं आराम से तो हूँ, मेरे क्लेश मिट गये हैं। इसी तरह मोह के क्लेश हैं। अन्तर में देखने में मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानमात्र वस्तु हूँ। यहां किसी का कुछ लगा ही नहीं है। जो मौज मैं बैठे हैं तो वहां क्लेश हो जाता है। मगर जिन्हें यह कला याद है उन्हें ज्ञानी कहते हैं, और अगर यह कला नहीं याद है तो उसे मोही कहते हैं।

सारे देहिषु सर्वेषु व्यक्ताव्यक्ते बुधाज्ञयोः।

ज्ञानमात्रे चिरं तिष्ठन् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१७४५॥

अर्थ- समस्त प्राणियों में सारभूत तत्व, ज्ञानी के प्रकट और अज्ञानी के अप्रकट ज्ञानमात्र भाव में चिरकाल तक ठहरता हुआ मैं अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

इस जगत् में अनन्तानन्त जीव हैं और भिन्न-भिन्न प्रकार की पर्यायों में हैं। देखो यहां ये कितने प्रकार के जीव हैं ? कोई पृथ्वी है, कोई अग्नि है, कोई जल है, कोई वायु है, कोई वनस्पति है, कोई लता वगैरा, कोई चींटी वगैरा तीन इन्द्रिय के जीव। भौरा, ततैया वगैरा चार इन्द्रिय जीव। गाय, बैल, भैंस आदि पंचइन्द्रिय जीव होते हैं। मनुष्य पंचइन्द्रिय में होते हैं, नारकी देव भी पंचेन्द्रिय ही होते हैं और भेद से देखो तो असंख्य प्रकार के जीव हैं। इन जीवों में सार बात कितनी तुमने देखी ? वह सब जो हैं वह पर्याय हैं। यही सब सार है। मनुष्यरूप वगैरा जो हैं वह सब क्या सारभूत हैं ? इन सब प्राणियों में सारभूत क्या है, बतलाइए ? इन सारे तत्वों को क्या अज्ञानी बता सकेंगे ? वे अपने असार को ही सार समझ रहे हैं। तीसरे लोग सार की चीज को क्या बतावेंगे ? पर ज्ञानी जीव को सारकी बात एकदम स्पष्ट है। वह सार की चीज क्या है ? जैसे ये मनुष्य दिख रहे हैं, कोई बच्चे हैं, कोई जवान हैं, कोई बूढ़े हैं, कोई स्त्री हैं, कोई पुरुष हैं। ये सब जो नाना प्रकार के मनुष्य दिख रहे हैं, इन मनुष्यों में एक सार की चीज क्या है ? सदा रहने वाली चीज क्या है ? वह है मनुष्यपना, वह है इन्सानियत। अच्छा बतलाओ कि क्या किसी ने ऐसा मनुष्य देखा है ? जो जन्म से लेकर वृद्धावस्था तक एक रूप रहता है, वह मनुष्य किसी ने देखा है ? देखने में कोई जवान आ रहा है, कोई बूढ़ा आ रहा है पर असल में मनुष्य तो कोई भी आंखों से देखने में नहीं आ रहा है। मनुष्य तो ज्ञान से देखने में आता है। ऐसी दृष्टि लगाने से जो जन्म से लेकर वृद्धावस्था तक रहा वह मनुष्य है। जो मनुष्य एक है वही बच्चा हुआ वही बड़ा बना वही जवान बना और वहीं बूढ़ा हुआ परन्तु मनुष्य वही एक है। क्या उसे किसी ने देखा है जो जन्म से लेकर वृद्धावस्था तक एक रूप रहता है। वह मनुष्य किसी ने देखा है। जो जन्म से लेकर वृद्धावस्था तक एकरूप रहा हो। क्या उसे किसी ने देखा है। एक रूप रहता हो ऐसा क्या दिखाई देता है ? कोई ब्राह्मण है, कोई क्षत्रिय है, कोई वैश्य है, कोई शूद्र है, कोई धनी है, कोई गरीब है। ये सब मनुष्य एक दृष्टि से बराबर हैं। जैसे कहें कि एक मनुष्य ले आवो। वह बूढ़ा ले आवे तो कुछ नहीं कह सकता है कि सब एक हैं। तुम इसे क्यों लाये ? क्योंकि वह भी मनुष्य है। धनी या रंक ले आये तो भी नहीं कह सकते कि इसे क्यों ले आए ? चाहे धनी हो चाहे गरीब हो सब एक समान हैं। मनुष्य मनुष्य की अपेक्षा सब समान हैं। पर लौकिक प्रयोजन होने पर मनुष्य समान नहीं द्वाँखते हैं। यद्यपि

काम पड़ता है, व्यवहार होता है फिर भी किसी ने मनुष्य को समान नहीं देखा है। कोई शृंगार करता है, कोई ऐसा शृंगार करता है, कोई वैसा शृंगार करता है, ऐसे तो दीख रहे हैं पर मनुष्य नहीं दीख रहे हैं। सब मनुष्यों में रहने वाला जो एक मनुष्यपना है वह सबमें एक रूप है। चाहे आज का पैदा हुआ बालक हो वह भी मनुष्य है। चाहे ५०, ६० वर्ष का जवान हो वह भी मनुष्य है। मनुष्य बस एक है। इसी प्रकार ध्रुवतत्व की दृष्टि से सब जीवों को निगाह दौड़कर देखो, सब जीव किसी दृष्टि से एक से हैं या नहीं। कोई कीड़ा है, कोई मकौड़ा है, कोई पेड़ है, कोई छाती से सरकता है, कोई पंखों से उड़ता है, कोई शरीर से ज्यादा बल का काम करता है। अरे यह सब जीव किसी दृष्टि से एक से बराबर हैं या नहीं? वह तत्व सबको नजर नहीं आ सकता, अज्ञानी को नजर नहीं आ सकता है। ज्ञानी की दृष्टि में आ सकता है। वह तत्व जिसकी दृष्टि से सब जीव एक समान हों। जैसे हम हैं वैसे सब जीव हैं। इसका पता भी लग जाना सबसे बड़ा ज्ञान है। यही धर्म का पालन है। यही मोक्ष मार्ग में चलना है। यह सब है।

हम अपने ज्ञान के लिए, धर्मात्मा होने के लिए बड़ा कष्ट सहते हैं, तप करते हैं, खाना पीना छोड़ते हैं, भक्ति करते हैं, पूजा करते हैं, सुबह नहाते हैं सब कुछ करते हैं।

मगर क्रोध, मान माया, लोभ इत्यादि कितने कम हुए, बताओ। अरे धर्म का पालन करने वालों! अपने में फर्क क्यों नहीं आया? अधर्मों में याने विषयकषायों में तो यही परिस्थिति है। यह अधार्मिक जीवन क्यों हैं? ज्यों का त्यों है। कर्मों का श्रम करते बड़ा समय हो गया। धर्म नहीं किया था। अरे धर्म किया होता तो मोह, छल, अन्याय ये सारे कर्म हो जाते क्या। धर्म नहीं किया, अब धर्म करना चाहते हो तो अब धर्म की पाटी शुरू करना चाहिए। पाटी कैसी है? संसार के समस्त जीवों को एक समान एक नजर से देखना। यह धर्म की सीढ़ी की पहली पाटी है। कुछ लोग कहते हैं कि यह बात तो कम समझ में आती है। हमने तो दस लक्षण पर्व के लिए बड़े-बड़े प्रोग्राम बना रखे हैं। ऐसी पूजा करेंगे, ऐसे शास्त्र करेंगे ऐसी बिजली लगवायेंगे, और दो साड़ी नई खरीदकर रख लेंगे, गहने भी मांगकर रख लिये थे धर्म करने के लिये। दुकान का हिसाब भी ठीक-ठीक लगा लिया था, सब कुछ धर्म करने के लिये कर लिया था। हम पहले ऐसी पूजा करेंगे, दूसरी शिफ्ट में ऐसी पूजा करेंगे, तीसरी शिफ्ट में ऐसी पूजा करेंगे, इस प्रकार की भारी-भारी तैयारियां कर रखी थी। वहां तो यह कहा जा रहा है कि सब जीव जिस तत्व की दृष्टि से एक समान है उस तत्व को देखो। यही धर्म की पहली पाटी है। प्रयोग करके देखो। विषय में, कषायों में फर्क जरूर आयेगा। चाहे मैं ५० वर्ष से ही धर्म लगाव में हूँ और फर्क न आया हो विषय कषायों में पर धर्म का अन्तर में पालन होने से उन विषय कषायों में फर्क अवश्य आयेगा।

यह क्या कि सब प्राणी एक समान हैं, जैसे मां अपने बच्चों के दुर्गुण नहीं देखती है, बच्चे को बच्चा ही देखती है, दुर्गुणरहित देखती है। इसी प्रकार ज्ञानी जीव को इन समस्त जीवों के अंगुण नहीं नजर आते हैं। किन्तु एक स्वरूप नजर आता है, जिसकी दृष्टि में सब जीव एक समान हैं। चाहे पेड़

हो, चाहे और कोई छोटा, बड़ा जीव हो सब एक समान हैं। सब चैतन्यस्वरूप, ज्ञानघन व आनन्द घन हैं। ये समस्त गुण समस्त प्राणियों में व्यक्त हैं और यह स्वरूप सब प्राणियों में सारभूत है। यह तत्त्व ज्ञानियों को तो व्यक्त है और अज्ञानियों को अव्यक्त है। अब उसी निगाह में हम अपने आप में भी चलें। मैं ज्ञानमात्र हूँ, मैं अपने असली स्वरूप को देख रहा हूँ, साफ, शुद्ध जो कुछ मैं हूँ उसको लक्ष्य में ले रहा हूँ। जहाँ कोई अमीर भी नजर नहीं आता है, कोई रंक भी नहीं मालूम पड़ता है, कोई तना सा खड़ा हो ऐसा भी नहीं मालूम पड़ता है। नजर केवल आता है शुद्ध चैतन्यस्वरूप, जहाँ मैं अन्य सबको भूल जाता हूँ। ऐसा मैं यह ज्ञानमात्र हूँ। जैसा कहते हैं ना कि जो गरजते हैं वह बरसते नहीं और जो बरसनहार हैं वे गरजते नहीं। इसी प्रकार जब मन काय की चेष्टा है तो अनुभव नहीं और जब अनुभव है तो चेष्टायें नहीं हैं। सत्य तो यह है कि मैं अपने को सबसे निराला, ज्ञानमात्र देख लूँ ऐसा यदि कर पाया तो मनुष्य होना सार्थक है, और यदि न कर पाया तो मनुष्य होना निरर्थक है। प्रेम कर लिया, अपना मान जाओ, दुःखी हो जाओ और कभी दुःखी और कभी सुखी, जीव का यह जीवन तो निरर्थक रहेगा और एक सबसे निराला केवल ज्ञानमात्र अपने को निरख लो तो सब कुछ पा लिया। तीन लोक का सारा वैभव अहितकर है, असार है, क्लेश का कारण है। कोई सोचे कि मेरे पास खूब धन है तो खूब खाते हैं, उपकार भी करते हैं, इज्जत भी बढ़ती है, दस आदमी आते जाते हैं, दस आदमी पूछते हैं, सुख हुआ या नहीं। अरे सुख कैसे हुआ ? भीतर तो अहंकार व तृष्णा से पिस कर मरे जा रहे हैं। देखने वाले बेचारे क्या जानें ? वह तो जानते हैं कि यह सुखी है, पर वह सुखी नहीं है। वह दस आदमियों के बीच अपनी शक्त सुखी सी बना लेता है। कोई नहीं जान पाता कि वह दुःखी है। वह भीतर से अहंकार भरे हुए है। पर्याय, मोह और मूढ़ता इत्यादि की चक्की में वह पिस पिस कर बर्बाद होता चला जा रहा है। जगत् के सब जीव दुःखी हैं, जगत् के सभी साधन दुःख हैं। धन है वह भी दुःख का कारण है, परिवार है, चार आदमियों में इज्जत है, वह भी सुख का कारण नहीं है। वह सब भी दुःख के कारण हैं।

तो फिर सुख का कारण क्या है? वह तो बतलावो। सुख का कारण धर्म है। और वह धर्म इसमें है कि जहाँ स्वरूप में सब जीव एकसमान हैं, इस बात को अपने लक्ष्य में लिया इसका नाम है धर्म करना। अगर धर्म करना धनवान के हाथ में है तो गरीब बेचारे मोक्ष ही न जा सकेंगे। अथवा जो साधु मोक्ष गये हैं उनका रास्ता ही बन्द हो जायगा। धर्म है एक शुद्धनिगाह, धर्म है निज आत्मदृष्टि। पर की दृष्टि में, पर की निगाह में धर्म ही नहीं। समस्त प्राणियों में सारभूत चीज क्या है? इस जीवन भाव में चैतन्य स्वरूप, ज्ञानशक्ति है, इस ज्ञानशक्ति को जिसने लक्ष्य में लिया वह जीव ज्ञानी है, मोक्षमार्गी है, उसका जन्म सफल है। अपने आपको अधिक से अधिक ऐसा अनुभव करो कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, सबसे निराला हूँ। कोई मेरी सहायता कर दे, ऐसा कोई नहीं है। कोई मेरी शरण हो जायगा ऐसा दुनिया में कोई नहीं है। मैं ही अगर सत्य हूँ, पुण्यवान् हूँ, योग्य उपादान वाला हूँ, तो मैं ही शरण रहूँगा और दूसरे लोग भी मेरे सहारे बनेंगे। यदि अपने पल्ले में कुछ नहीं है तो किसी भी घराने में पैदा हो, उसका सभी

तिरस्कार कर देंगे। और यदि पल्ले कुछ है, पुण्य है, धर्म संस्कार हैं तो उसको सब करने को तैयार हो जावेंगे। यह सब निज परिणाम वैभव के सम्बन्ध की महिमा है, दूसरा साथी नहीं है। अपनी आत्मा के शुद्धस्वरूप का ज्ञान करो, शुद्धस्वरूप का ही विश्वास करो और उस शुद्धस्वरूप पर ही निगाह करो। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र का पालन हो, तब हमारा भला होगा, उत्थान होगा। पर इस आत्मधर्म का पालन किये बिना इस अपने आपको विश्वास किये बिना, रुचि किये बिना मेरी गति नहीं होगी, मेरा उत्थान नहीं होगा। हम किसी भी प्राणी का यह विश्वास न करें कि मेरी रक्षा करने वाला अमुक है। अरे आपकी रक्षा करने वाला आपका धर्म है जिसके प्रसाद से ऐसा पावन अँवसर बना, मनुष्य बना, अच्छे समागम में आया। अगर चींटी चींटी होता है, कीड़े मकौड़े होता तो क्या होता? अरे हम ठीक हैं तो हमारा सब ठीक है और अगर हम ठीक नहीं हैं तो हमारा कोई ठिकोना नहीं है। धर्म की पाटी यहां से शुरू होती है। सब जीवों को एक समान जिस निगाह से देखा जा सकता है उस निगाह को बनाओ। सब एकएक चीज हैं, सब एक एक पदार्थ हैं। जो दीखता है आंख से वह न दीखे तो सच्चा ज्ञान है।

देखो भैया जब बहिन बेटी घर से ससुराल जाती है तो पिता से, भाई से भेंट करती है। भेंट करती भी किस तरह है कि छाती से लंगकर, रोककर प्रीति दिखाकर रोया करती है। अब बताओ जो आंखों से शकल, सूरत, रूप रंग दिखता है, क्या बाप व भाई के ज्ञान में दिख रहा है? नहीं। उस पिता के ज्ञान में रंग नहीं दिखता है। बाप, भाई को तो बेटी बहिन ही दिखती है। ज्ञानी को भी जो दीख रहा है वह आकार कीड़े, मकौड़े, पेड़ इत्यादि उसे नहीं दीखते हैं। केवल उसे ज्ञानस्वरूप, चैतन्यमात्र ही दिखता है। जिस तत्व की दृष्टि में सब जीव समान हैं वही स्वरूप मेरा है। जैसे पिता घर में बच्चों को एक समान देखता है, उनसे एक समान बर्ताव करता है। अगर एक बच्चा हठ करता है, जिद करता है, उस बच्चे को यह पिता नहीं रुचेगा, वह अपने इस पिता से द्वेष करेगा, यह उसे महान् नहीं मान सकेगा। इसी तरह ज्ञानी जीव सबको एक समान निरखता है पर इन जीवों में से कभी अपनी कल्पना करके कोई जीव ज्ञानी को बुरा देखता है, उपद्रव करता है, कहीं तो अज्ञानी ज्ञानी को आग लगा देता है, शरीर छील देता है, कष्ट देता है, जान ले लेता है। तिस पर भी ज्ञानी जीव की दृष्टि में सब जीव एक समान हैं। जिस जीवत्व की दृष्टि में सब जीव एक समान है वह जीवत्व ही नजर आवे तो यह धर्म की पहिली सीढ़ी है। ऐसा इस ज्ञानस्वरूप अपने में चिरकाल तक ठहरते हुये अपने में अपने आप आप सुखी होऊँ।

अपनी दृष्टि को बन्द करके और भीतर से भीतर ले जाकर जहां अपने शरीरका भी पता नहीं है, यह मैं केवल ज्योतिमात्र, ज्ञानमात्र उजेला स्वरूप हूँ, जिसको कोई पकड़ नहीं सकता है— ऐसा मैं ज्ञानमात्र हूँ। ऐसी निगाह रखकर अपने आप में मैं निर्विकल्प ज्ञान का अनुभव करूँ इसी में आत्म-अनुभव है। ऐसा करके ही इस जीव का गुजारा चलेगा, भला होगा, पूरा पड़ेगा। बाकी जितने काम हैं उनको हटाना पड़ेगा, सबसे निवृत्ति जरूर लेना पड़ेगा। जो वर्तमान की परिस्थिति है उस परिस्थिति में ही अपना

धर्म करे, अपने में निर्विकल्प होने की व्यवस्था बनाले। और अगर कोई सोचे कि धर्म का पालन करेंगे दो तीन वर्ष बाद में पहिले दुकान की परिस्थिति बना लें, फिर धर्म कर लेंगे। धर्म का पालन करेंगे तो वह नहीं हो सकता है क्योंकि जो वर्तमान में शिथिलता है, वर्तमान में प्रमाद है वह क्या धर्म का कारण बनेगा ? प्रमाद, प्रमाद, का कारण बनेगा। शिथिलता, शिथिलता का कारण बनेगी ? इसलिए कैसी भी स्थिति हो, गरीबी हो, कठिन परिस्थिति हो तो भी अपने को निरखने के काम में प्रमाद न करो। जैसी शक्ति हो उस माफिक धर्म का पालन करो। पुण्य का उदय है तब तो जैन धर्म का प्रसाद मिला, तब तो आत्मा की बात मिली। जो बाहरी बात है वह तो पर है। जो इस आत्मस्वरूप को मानता है वह धनी है। जो परपदार्थों में अपना बड़प्पन मानता है वह गरीब है। इस मनुष्यपर्याय में मिले हुए क्षणिक समागम से बड़प्पन का निर्णय नहीं। गरीब तो वह है जो पर में रम गया और पर में ही अपना बड़प्पन समझने लगा। सम्यग्दृष्टि सब अमीर हैं और मिथ्यादृष्टि सब गरीब हैं। क्योंकि मिथ्यादृष्टि का तो रास्ता बन्द हो गया। अब आगे बढ़ने की गुञ्जायश नहीं है। पर ज्ञानी जीव का आगे सद्गति का रास्ता खुला है। तो मैं अपनी आत्मा में भी अपना ज्ञानस्वरूप पहिचानूँ, यही इस आत्मा में सारतत्व है। ऐसी आत्मा में ठहरते हुए मैं अपने आप में स्वयं सुखी होऊँ। सुख बाहर खोजना व्यर्थ है बाहर में सुख के खोज करने के परिणाम में हैरानी भरी हुई है इससे तो क्लेश ही होता है। अपने को स्वतः स्वयं आनन्दघन देखूँ अपने आपका जो भी परिणमन हो रहा है चाहे वह प्रदेशपर्याय हो, चाहे गुण पर्याय हो वह सब क्षणिक हैं। उस उस पर आत्मस्वरूप की श्रद्धा न करके जो उन सब पर्यायों का आधार ध्रुवसार तत्व है, चित्स्वभाव भाव है उस ही निज सहज परमात्मतत्व में उपयोग द्वारा ठहरूँ और स्वयं स्वयं में चैतन्य चमत्कार मात्र परिणमता हुआ सहज आनन्दमग्न होऊँ।

सद्दृष्टिज्ञानचारित्रैकत्वं मुक्तिरदः सुखम् ।

तच्च ज्ञानमयं तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१७४६॥

अर्थ— सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र का एक-पना मुक्ति है यह ही सत्य सुख है और वह एकत्व ज्ञानमय है सो ज्ञानस्वरूप अपने में अपने लिये स्वयं सुखी होऊँ।

यह आत्मा एक भावात्मक पदार्थ है। यह भावों से ही रचा हुआ पदार्थ है। भावों के अतिरिक्त इसमें अन्य कुछ नहीं मिलता। यह आकाश के समान अमूर्त है। रूप, रस, गंध, स्पर्श से रहित है। यह तो एकभावात्मक चीज है, चैतन्यस्वरूप वस्तु है, सर्वोत्कृष्ट विलक्षण, पदार्थ है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र, श्रद्धा, आनन्द इत्यादि भावमय एक चीज है। यह आत्मा ऐसी विलक्षण वस्तु है कि जिसमें ज्ञान होता है, विश्वास का माद्दा है, कहीं न कहीं ज्ञान को यह लगाये रहता है और आनन्द या कल्पनायें या सुख दुःख विकल्पों को करता है। ऐसा यह एकदम सबसे छुट्टा पदार्थ है। किसी भी अन्य वस्तु से जिसका कुछ लगाव नहीं है, अन्य पदार्थों से इसका अत्यन्ताभाव है। लेकिन अज्ञानी जीव अपने इस स्वरूप को न देखकर अपना सारा पता भूलकर बाहर में देखता है, बाहर में ही उसको सार नजर आता है और इसी कारण यह दुःखी होता रहता है। बाहर पदार्थों में इसने इच्छायें बनायीं, मेरे पास अमुक चीज रहे, अमुक चीज इस प्रकार

से परिणम जावे, नानाप्रकार की कल्पनायें बनीं परन्तु ऐसा तो कभी नहीं होगा कि कोई परपदार्थ किसी पर के आधीन बन जाय। कोई भी परपदार्थ इस आत्मा के आधीन तो बनते नहीं, इच्छा बराबर है। इच्छा का काम होता नहीं, बस यही तो दुनिया में दुःख का साधन लगा हुआ है। इच्छायें करते हैं, पर इच्छाओं से काम नहीं होता है। आनन्द तो तब आता कि इच्छा करें और इच्छा करने से तुरन्त काम हो जाये या कोई इच्छा ही न हो। अज्ञानी तो इच्छा के काम में लगा रहता है और ज्ञानी पुरुष इच्छा के अभाव करने में लगा रहता है। ज्ञानी अन्तर में दृष्टि करके देखता है कि मैं तो यह ज्ञानमात्र पदार्थ हूँ। जानन जिसका स्वभाव है, जानना ही जिसका स्वरूप है, जानना ही जिसका सर्वस्व है ऐसा ज्ञानमय एकवस्तु हूँ। इतना ही विश्वास हो, इतना ही ज्ञान हो और इसमें ही लग जाओ, रम जाओ। इन तीनों में एकता आजाय, इसी के मायने मुक्ति है। कहते हैं कि धर्म में लगे। धर्म में कहां कहां लगे? मन्दिर में लग जायें कि जंगल में लगे कहां जायें। कहां लग जायें जहाँ धर्म है? तो धर्म उस आत्मा के स्वरूप में ही है। धर्म साक्षात् यह आत्मा ही है। इस आत्मा को श्रद्धा से अपने स्वरूप में देखो और देखते रहो। यही धर्म का पालन है। यह आत्मा मैं ज्ञानमात्र हूँ, ऐसा ही विश्वास हो, ऐसा ही उपयोग बनें और ऐसा ही उपयोग बनाकर स्थिर हो जाओ। इन तीनों बातों की जहां परिपूर्णता हो जाती है इसी के मायने मुक्ति है। धर्म की साक्षात् मूर्ति यह सहज ज्ञानमय आत्मा है। इस ही स्वरूप के श्रद्धान ज्ञान व आचरण से आत्मा को सुख होता है। यह बात जब तक घटित नहीं होती है तब तक इसका उपाय करना चाहिये। इसका उपाय क्या है? सबसे पहला उपाय वैसे तो सम्यक्ज्ञान करना ही बताया, किन्तु व्यावहारिक उपाय सच्चे देव, सच्चे शास्त्र और सच्चे गुरु की श्रद्धा करना है। किसी भी काम को करना हो तो उसमें यह त्रितय की पद्धति आती ही है। जैसे संगीत सीखना है तो संगीत में जो अत्यंत निपुण है, इस लोक में सर्वथा प्रसिद्ध है, परिपूर्ण है, ऐसे व्यक्ति की ओर निगाह जरूर रहती है कि मुझे भी ऐसा बनना है, ऐसा संगीतज्ञ बनना है। लेकिन वह एक आदमी जो उसमें पूर्ण निपुण है, वह हमें मिल जाय, पहिले तो यही बात कठिन है। शायद कहीं मिल भी जावेगा अर्थात् कभी दर्शन भी हो जायेगा तो वह मेरे साथ दिमाग लगावेगा, ऐसा भी नहीं है। इस कारण अपने गांव में किसी उस्ताद को देखें तो कहते हैं कि वह सिखा दे। यहां तक देव और गुरु की दो बात हुई। तीसरी बात सरगम के शब्दों का उसे सहारा लेना है। यही संगीत का शास्त्र हुआ। इस तरह संगीत के देव, संगीत के शास्त्र और संगीत के गुरु हुए। किसी को रसोई सीखना है तो वह किसी निपुणका नाम जो जानता है उसे दिमागमें लेगा जो साग, दाल, भात आदि सब कुछ बहुत ही उत्तम बनाना जानता हो, यह तो हुआ रसोई विषयक देव, अब यह निपुण तो मिलना कठिन है। अगर ऐसा आदमी उसे मिल भी गया तो उसे अच्छी तरहसे सिखा दे यह मुश्किल है। तब क्या करना होता है कि जो सहज घरमें मिल जावे ऐसी कोई बड़ी हो जैसे बुवा हुई, जीजी हुई, जो भी हुए उनसे कहता है कि सिखा दो। जिसके प्रति श्रद्धा हो कि बढ़िया यह भी बना लेती है। तो उससे ही वह बनाना सीखेगा। फिर सिखाने वाला कुछ शब्द तो बोलता ही है। जैसे यदि उसे चावल बनाना है तो वह बतावेगा कि १ घण्टा पहले चावल भिगो दो, फिर जब बटलो हीमें पानीका तेज उबाल

आ जाय तो चावल डाल दो। और ऐसे ढक्कनसे बन्द कर दो जिससे भाप न निकल सके। पानी उतना रखो जितनेमें कि चावल समा जावें। शब्द तो बोलना ही पड़ता है। वही शब्द हो जाते हैं शास्त्र, देव, गुरु। शास्त्र पद्धति हर बातमें चलती है।

तब मुक्ति का पाना अगर हमें सीखना है, मोक्ष जाने का काम हमें करना है तो उसके लिए भी हमें धर्म के देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा रखना है जो मुक्त हो चुके हैं जो केवल ज्ञानी हैं, अनन्त आनन्दमयी हैं, ऐसे परम पवित्र भगवान की श्रद्धा कर लो कि मैं ऐसा बन सकता हूँ। यह तो हुई देव की श्रद्धा। मगर यह देव रोज हमें कहीं मिलेगा और कहीं मिलेगा भी तो वह हमारे लिये दिमाग लगायेगा क्या, वह हमसे बोलेगा कैसे, वह हमारी ओर झुकेगा कैसे? देव तो न संगी हैं, न असंगी हैं, अनुभय हैं, कषाय रहित हैं। वे तो अपने आनन्दरसमें मग्न हैं। उनकी तो श्रद्धा ही श्रद्धा काम करेगी। अगर हमारे गांवमें कोई उस मुद्रा का सत्संगी हमें गुरु मिल जाय तो उसे भी ढूँढना चाहिये। ऐसा गुरु जो आरम्भपरिग्रहसे सर्वथा रहित है, जो ज्ञान, ध्यान, तपस्यामें ही निरत रहता है। ऐसा यदि होगा तो उसके सत्संगसे, उसके वचनोंसे हम कुछ धर्म की बात पा सकेंगे। यह धर्मोपदेश जो हमारेमें गुरुओं के द्वारा आया वह शास्त्र है। इससे देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा सर्वप्रथम व्यवहारमें आती है मन्दिरमें भगवान की मूर्ति की पूजा करते हैं। मूर्ति की मुद्रा कैसी है? कषायरहित, कहीं आने जाने का काम नहीं, इससे पद्मासनसे बैठे हैं, कुछ करने का काम नहीं, क्योंकि ज्ञाता दृष्टा हैं, सो हाथपर हाथ लगाये बैठे हैं। कहीं कुछ देखने का काम नहीं। इस कारण नासाग्रदृष्टि से बैठे हैं। जिनका कोई शृंगार नहीं, जिनके पास परिग्रह नहीं केवल वही वही हैं— ऐसी उनकी मूर्ति है, जिसको देखकर हम यह भाव कर सकते हैं कि जगत्में अगर कोई सार काम है तो यही सार काम है कि सब मायाजालको त्यागकर, परिश्रमोंसे दूर होकर अपने आपमें रमो। यही मोक्षमार्ग है, इसमें ही शान्ति मिलेगी। ऐसा उपदेश जिनकी मुद्रा से मिला है उनमें हम भगवान की स्थापना करते हैं और ज्ञानसे हमें देखना है परमात्मा को जो शिवमय हैं हमें उस परमात्मामें दृष्टि ले जाना है जो अनन्त ज्ञानमय है, अपने आपमें परिपूर्ण विकसित है ऐसी श्रद्धा करना यह व्यवहार में प्रथम आवश्यक है जिसने अपने आपको निरख लिया है ऐसा मनुष्य ही भगवान की सच्ची श्रद्धा कर सकता है जिसने भगवान की श्रद्धा कर ली, ऐसे मनुष्यमें वह बल है कि जब चाहे वह उसकी ओर झुक जाय और अपने आनन्द रस का पान कर ले।

हे आत्मन्! तू स्वयं बना बनाया प्रभु है। तेरी आत्मामें भगवान बसा है। तेरी आत्मा भगवानसे न्यारी नहीं है। भगवान इन आत्माओंमें वास करता है। यहां तक भी जहां भेद नहीं है। यही आत्मा साक्षात् भगवान है, क्योंकि यह आत्मा ज्ञानघन है। भगवान का स्वरूप भी ज्ञानघन है। उस अपने स्वरूप को पहिचान ले तो संसार के सारे उपद्रव समाप्त हो जायें और यदि भगवान को, जो अपना है नहीं निरख पाते तो ८४ लाख योनियोंमें चक्कर काटना, यही बराबर जारी रहा करेगा। सबसे बड़ा काम है अपने आपको सही जानकारी कर लेना। यह नहीं कर पाया तो कुछ नहीं रहने का है, यह आत्मा तो केवल भावात्मक वस्तु है, भावमय है, भाव ही लेकर जायगा, भाव ही लेकर बना हुआ है, भाव ही हमारा सर्वस्व है सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र्य की एकता ही मुक्ति है और यह एकत्व ही वास्तविक सुख है।

सुख यहाँ प्रथम भाग

अन्य है वह अन्तरात्मा जिसने सत्यका आग्रह किया है, असत्यमें असहयोग किया है असत्यका असहयोग करना ही सत्य आन्दोलन है। यह सब दिखने वाला ठाट-बाट असत्य है। होकर भी नहीं है, न होकर भी है। यह सारभूत चीज नहीं है, यह परमार्थ चीज नहीं है जैसे नींदमें स्वप्न आनेमें जो कुछ दिखता है वह सच लगता है, इसी तरह मोहकी कल्पनायें होनेपर जो मनमें आता है, जिसका सम्बन्ध अच्छा लगता है वह सब उसे सत्य दिखता है। पर सत्य है कुछ नहीं। सारा जीवन गुजर जाने के बाद अन्तमें वृद्धावस्था में अकल ठिकाने आती है कि सारा जीवन गुजर गया, मैंने अपना हित कुछ नहीं किया। जिनके लिये विकल्प किया, दुर्भावविभाव किया वे लोग भी नहीं रहे। उनका कुछ पता नहीं, और जो बचे हैं वे भी छोड़कर चले जा रहे हैं। यह शरीर भी यहां नहीं रह जायगा, हम स्वयं यहां नहीं रह जायेंगे। यह मैं केवल आत्मा, मैं अपना कुछ नहीं कर सका। जो बुद्धि थकनेके बाद, परेशान हो चुकनेके बाद, हर तरह शिथिल हो जानेके बाद आती है। यदि हाथ पैर चलते समय, दुरुस्त रहते समय यह बुद्धि आ जाय और अपनी ममता बाहर करके अपने आत्माका दर्शन करने का प्रयत्न कर लें तो यह बड़ी सफलताकी बात है और इतना नहीं कर सके तो कुछ नहीं है। कुछ तो कभी भी नहीं है, केवल कल्पना कर लो। पदार्थ तो खुदकी अपनी सत्ताके जुम्मे हैं।

एक साहब के एक चपरासी नौकर था। साहब ने सोचा कि इस नौकरके नाम से १० रु० की लाटरी लगा दें। अगर इसका इनाम आ जायगा तो दो लाख रुपया दे देंगे। अपने लिये तो बहुत लगाया, हजारों रुपये बरबाद कर दिये, पर कुछ न आया। सुयोगसे उसी चपरासीके नाम लाटरी खुल गई। अब वह साहब सोचता है कि इसको अगर दो लाख रुपया यों ही दे देंगे तो यह फूला नहीं समायेगा और इसका हार्ट फेल भी हो सकता है। सो पहिले उसको बैतोंसे मारा और फिर कहा कि देखो तुम्हारे दो लाख रुपये आये हैं। वह हार्ट फेलसे तो बच गया। अब वह सोचता है कि रुपया तो रख नहीं सकता, कोई काम तो करना जरूर है। तब उसने कहा कि ये रुपये हमारे किस काममें लगेंगे? आप ही किसी काम में लगा लें। उन साहबने मैनेजर बनकर कारोबार खोल दिया। अब उसका काम चलने लगा। कल्पना ही तो है कि उसके पास ये चीजें हैं और यह काम कर रहा है। खैर और आगे चलकर देखो तो लाखों और अरबोंकी सम्पदा है तो क्या है? यह मनुष्य तो यों का यों ही है वे तो पुद्गलकी चीजें हैं उनसे इस आत्माकी सिद्धि नहीं है। आत्माकी सिद्धि बस आत्माके ज्ञान में की जाय तो समझो कि सब कुछ पा लिया। इसमें ही अनुपम आनन्द आयेगा। बस अपने आपकी श्रद्धा होनेका नाम सम्यक्ज्ञान है और इस स्वरूपकी ओर झुके रहना, इसमें ही आनन्दका अनुभव करना, यह ही प्रिय लगना, इसकी ही भावना बनाते रहना, इसका ही नाम सम्यक्चारित्र्य है। इन तीनोंकी एकताका नाम मुक्ति है। जो कुछ अच्छा लग रहा है, लड़के हैं, लड़कियां हैं, यह कुटुम्ब है, यह परिवार है, बड़े अच्छे हैं, बड़े भले हैं, जो कुछ भी दिख रहा है उसका विकल्प होना दुर्गतिमें जानेका रास्ता है, उपाय है, धोखा है, आत्माके पतनकी चीज है। यह सब कुछ तो छूटेगा ही, अगर इन सबको छोड़ दें, अपने उपयोगको बदल लें तो हम भी सुखी हो जायें। मगर जैसे जुवारियोंका दल है, वहां दिमाग सही नहीं रह सकता है। इसी तरह जहां मोहियोंका

दल है, वहां संसारमें इस झुंडसे निकल जाना सरल नहीं हो सकता है। पर कोई प्राणी जिसने अपना ज्ञानबल बढ़ाया, जिसने अपने आनन्दका स्वाद चख लिया ऐसे ही आत्मा इन सबसे विरत होकर अपने आपमें रम सकता है। ऐसा जिसका भाव है वही हमारा गुरु है। ऐसा भाव जिसका पूर्ण बनकर स्वभाव पूर्ण विकसित हो गया वह ही हमारा देव है। और जो ऐसा बना रहा वह ही हमारा गुरु है। यह भाव जब हम करेंगे तभी सोचेंगे कि यह देव है, यह गुरु है। तो वास्तवमें मेरा भाव ही गुरु है और वही मेरा रक्षक है और ज्ञानमय आत्मा ही अपना सर्वस्व है। अतः मैं स्वयंमें रुचि करूँ और अपने आप अपनेमें स्वयं सुखी होऊँ ।

तत्त्वतो ज्ञानमात्रोऽहं क्व विकल्पावकाशता ।

ततोऽहं निर्विकल्पः सन् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१७-४७॥

अर्थ- वास्तवमें मैं ज्ञानमात्र हूँ उस मुझमें विकल्पों का स्थान ही कहां है इसलिये अब निर्विकल्प होता हुआ मैं अपने में अपने लिये स्वयं सुखी होऊँ ।

मैं क्या हूँ, कैसा हूँ, कितना हूँ, इस ओर दृष्टि करें तो यह ज्ञानमात्र मालूम होता है। जो जान लिया, जो जाननेमें आ गया, जो जानन बन गया। इसकी शक्ति रूप जो ज्ञानशक्ति है उतना ही मैं हूँ। इससे आगे इसमें कुछ नहीं है। इसमें कहीं पानी नहीं भरा है, जो कोई ढेला मार दे तो इसमें छींटे उछल पड़े। इसमें कहीं आग नहीं जल रही कि लकड़ी घुसेड़ दें तो जल जायगी। यहां रूप, रस, स्पर्शका नाम नहीं हैं यह तो केवल ज्ञानभाव शक्ति है, ज्ञानानन्दभाव है, उतना ही मैं हूँ। क्या मैं हवा से पतला हूँ? अरे मैं हवा से तो कितने गुना पतला हूँ। मैं तो आकाशकी तरह अमूर्त हूँ जिसमें किसी मूर्तिका नाम नहीं है। ऐसा मैं केवल ज्ञानमात्र वस्तु हूँ। बस अधिक बाहर न जाओ और यही देखो। जाननेका ही नाम आत्मा है। ऐसी इस ज्ञानमात्र मुझ आत्मामें विपत्ति कहां हैं, विपत्तियां कहांसे घुसेंगी? यह तो मैं ज्ञानमात्र ही हूँ, वियोग कहां से होगा? संयोग कहांसे होगा? यह तो मैं ज्ञानमात्र हूँ। लोग कहते हैं कि मुझे बड़ी तकलीफ है? दादी गुजर गई, दादा गुजर गये, मां गुजर गई। मुझे बड़ी तकलीफ होती है। अरे तू अपनेको समझता है कि तू क्या है? तू तो ज्ञानमात्र है, जाननस्वरूप है, इसमें कहां संयोग है, इसमें कहां वियोग है? कहीं कुछ लगा हुआ है क्या? मैंने इस कामको कर लिया तो इसमें फंस गया। इतना हमसे खर्च हो गया, बड़ी तकलीफ है। अरे तू आत्मा तो ज्ञानमय है केवल तूने उल्टी सीधी कल्पना बना लिया है, इसीसे दुःख होते हैं और यदि सीधा सच्चा भाव बना लेता तो सुखी होता। केवल तेरे जानन पर ही सब कुछ निर्भर है। इस सारे संसारवृक्षमें यह जगत्के जन्म मरण अथवा अपने आपमें आनन्दका पाना, सारी बातें तेरी जाननेकी कलापर निर्भर हैं। इससे आगे तेरा कुछ करतब नहीं है। ऐसा प्रतिभासस्वरूप ज्ञान, ज्ञानमें बैठ जाये तो यह सारा अमृत है यह सर्वोत्कृष्ट है और तो चीजें सब मिट जावेंगी, नष्ट हो जावेंगी, किसीका भरोसा नहीं। केवल यह ज्ञान यदि मेरे ज्ञानमें आ गया तो मैं अन्तरात्मा हूँ। यही ज्ञान है, यही मोक्षमार्ग है, यही मुक्तिका उपाय है। किसी भी पदार्थ में ऐसी शक्ति नहीं है कि वह मुझे मोक्षमार्गमें लगा दे। सब कुछ मेरे ज्ञानकी कलापर निर्भर है किसी भी पदार्थमें ऐसी शक्ति नहीं है कि

वह मेरे मोक्षको रोक ले, यदि अपने आपमें इस ज्ञानस्वरूपका ज्ञान आता हो। जो अपनेको ज्ञानस्वरूपके अलावा और और किन्हीं रूपोंमें मानता है अथवा मेरा धन है, मेरा घर है, मेरा कुटुम्ब है, मेरा परिवार है, मेरे अच्छे मित्र हैं, मेरा अच्छा रुतबा है, कुछ भी माने, बस वही गरीब है। अन्य कोई इस दुनियामें गरीब नहीं है। अरे जो अपने सही स्वरूपको समझ ले कि यह तो मैं केवल ज्ञानमात्र हूँ, जो जानन हार है, जो ज्ञानभाव है, वही मैं हूँ, इसके अतिरिक्त मुझमें कुछ नहीं है— ऐसा जिनको स्पष्ट दिख जाय, अपने सच्चे विश्वासमें आ जाय, वह अमीर है और इन अमीरोंमें सिरताज है। वह सिद्धभगवान हैं जिनकी हम उपासना करते हैं। खुदकी चीज खुदमें पूरे रूपसे रहे, दूसरेकी चीज मुझमें रंच भी न रहे, यह सबसे बड़ी भारी पवित्रता है। जो मेरी चीज है वह मेरेमें परिपूर्ण रहे, जो मेरी नहीं है वह रंच भी मेरे में न रहे, जो मेरी नहीं है वह रंच भी मेरे में न आवे। इसीको पवित्रता कहते हैं।

पवित्र दूध कैसे कहलावे कि जो दूधका स्वत्व हो वह उसमें पूरा पूरा रहे और बाहरी कोई चीज दूधमें रंच भी न आवे। दूधका जो निजी स्वत्व है वह मशीनसे बाहर निकाल लिया जावे, केवल सपरेटा रह जावे तो वह दूध अच्छा है क्या? पवित्र है क्या? दूधमें बाहरी चीजें डाल दी जावे, पानी या छेरीका दूध डाल दिया जावे तो क्या वह दूध पवित्र है? नहीं। दूधका स्वत्व दूधमें पूरा रहे और कोई चीज दूधमें न आवे तो इसको उत्कृष्ट दूध कहते हैं। इसी तरह आत्माकी निजी बात आत्मामें पूरी रहे और जो आत्माकी निजी बातें नहीं हैं वे आत्मामें रंच भी न रहें, इसीको परमात्मा कहते हैं। हमारा अपना हममें कुछ तो है। चाहे पूरा न विकसित हो मगर कुछ तो है। मेरी आत्मासे बाहरकी जो बातें हैं वे बहुतसी हममें नहीं हैं, इसी तरह जो हैं उन्हें भी निकालकर फेंक दें और थोड़ा हम विकसित हैं तो जरा और बढ़कर हम विकसित हो जावे। यही भगवानका स्वरूप है। अपने आपके यथार्थस्वरूपमें आ जाना सबसे दुर्लभ है।

धन कन कंचन, राज सुख, सबहि सुलभ कर जान।

दुर्लभ है संसार में, एक जथारथ ज्ञान।

आज देवतावोंके नाममें, धर्मके नाममें, परपदार्थों में अपनेको बड़ा विवाद है। कोई कहता है कि भगवान का स्वरूप यों है, कोई कहता है कि भगवान का स्वरूप यों है, कोई कहता है कि दुनिया ऐसी है, कोई कहता है कि दुनिया इस प्रकारकी है। जुदे जुदे शास्त्र हैं, जुदी जुदी उनकी कथनी है, जुदी जुदी उनकी पद्धतियां हैं। यदि तू कल्याणार्थी है तो उनके झगड़ोंमें न पड़। तू तो समझ ले कि तू यथार्थ में है क्या? तू अपनी यथार्थ बातें समझना नहीं चाहता, बाहरमें मन लगाता है। इसीसे धर्म के नाम में सम्प्रदायके नाममें विवाद होता है, झगड़े होते हैं, मन मोटाव हो जाता है। अरे इन बातोंके झमेलोंमें तू मत पड़। तू सबको छोड़कर अपने आपका निर्णय तो कर ले। तू केवल अपने आपका ही निर्णय कर लेगा तो सभी निर्णय आ जायेंगे क्या होता है भगवान्, धर्म क्या कहलाता है, यह भी स्पष्ट हो जायगा और यदि अपना निर्णय नहीं कर सका तो कुछ भी नहीं वश चलेगा, कुछ भी निर्णय न होगा, विवादमें पड़ा रहेगा, विसम्वादमें बढ़ जावेगा, लोभ जरा जरासी बातोंसे बढ़ेंगे, शांति कहीं दूँडे भी न मिलेगी। तू अपने आपका ऐसा निर्णय करके तो समझ ले कि मैं एक ज्ञानमात्र पदार्थ हूँ। इसके आगे मेरी कोई

शक्त सूरत नहीं, रंग नहीं, आकार नहीं, ढांचा नहीं। मैं केवल ज्ञानमात्र हूँ, ऐसा ज्ञानमात्र स्वरूपकी हां तो कर कि मैं यह हूँ। यह पक्का समझ। फिर चरित्र मोहके उदयमें भी अन्तर में कोई झंझट नहीं आयेगा और यदि झंझट पड़ भी जायेगा तो कोई परेशानी नहीं आयेगी।

“होता स्वयं जगत परिणाम” पड़ैसका परिणमन है, जगत्का कुछ होना है, समाजका परिणमन है वह सब वहीं का वहीं है। यह मैं ज्ञानमात्र आत्मा किसी भी परपदार्थ का क्या काम करता हूँ। इसका तो जाननेका ही काम है। जानता रहे और यह बिगड़ जाय तो इच्छा कर लेवे, चाह कर लेवे, विकल्प कर लेवे, इष्ट मान लेवे सो ऐसी नाना कल्पनायें भी कर ले तो वह कल्पनाओंसे अधिक कुछ नहीं कर सकता है। इस आत्मामें दूसरे पदार्थका प्रवेश नहीं है, दाखिला नहीं है, अधिकार नहीं है, ऐसा यह मैं शुद्ध केवल ज्ञायकस्वभावमय हूँ। यहां कुछ अपना नहीं है। तू अपने भ्रम को छोड़ और अपने ज्ञायक स्वरूपको देख, तू तू ही है। तू अपनेमें जगतके सारे पदार्थों का निषेध कर। तू अपनेको ऐसा जान कि मेरे परिवार नहीं है, मेरे कुटुम्ब नहीं है, मेरे में जगत्की कोई भी चीज नहीं है, किसी भी चीजका प्रवेश मेरे में नहीं है मैं केवल ज्ञानमात्र हूँ, ऐसा तू अपने आपको अच्छी प्रकारसे निर्णय कर ले। शायद यह संकोच हो कि घर वाले यह समझेंगे कि घरको नहीं समझ रहे हैं, यह मेरे को नहीं मान रहे हैं। अरे हम मानते हैं कि तू नहीं समझ सका, तू नहीं मान सका ऐसा समझ लेंगे। पर ये मानते हैं, ऐसा भी वे क्या जानते हैं? अरे तू तो अपने यथार्थ ज्ञानको तो कर। ऐसा ज्ञान जो अपने ज्ञानमें रख लेता है वह ज्ञानी पुरुष कोई अनुचित व्यवहार नहीं कर सकता है। फिर उस ज्ञानी के घर वाले लोग क्या बुरा मानेंगे? ज्ञानकी महिमा तो अलौकिक है परमार्थ तो मैं ज्ञानमात्र हूँ। यहां विकल्पों का वास नहीं, आत्मामें कोई झंझट नहीं, यदि आत्माको अपने ज्ञानमें रक्खो तो सोते हुएमें स्वप्न आता है तो वहां सारे झंझट हैं। और यदि जग जायें तो सारे झंझट दूर हैं। अपने आपके यथार्थस्वरूपको ज्ञानमें न लिया, मोहके विकल्पोंमें ही रहे तो उसके लिए सारे झंझट हैं।

जैसे कोई पुरुष मार्गमें कहीं बैठा है, पासमें कुंवा है। आने जाने वाले मुसाफिर कोई मोटरसे आ रहा है, कोई तांगेसे आ रहा है, कोई किसी चीजसे आ रहा है। कोई मोटरसे आने वाला मुसाफिर पानी कुवें पर पीने लगता है। खड़ी हुई मोटरको देखकर वह बेवकूफ समझ लेता है कि यह मेरी मोटर है। जब वह पानी पीकर मोटर से चला जाता है तब वह मोटरको न देखकर रोने लगता है कि हाय मेरी मोटर चली गयी। इसी प्रकार इस संसारमें भटकते हुए एक मार्गमें हम आकर बैठ गए हैं, अब इसी जगह प्रयोजन वश १०,५ आदमी आते हैं, मोटर, बग्गी, हाथी, घोड़े आते हैं, यह बेवकूफ मान लेता है कि यह मेरे हैं यह मेरे हैं, यह मानना ही बुरा है। तो इनका भिन्न-भिन्न रास्ता है, सब जुदा जुदा, पर मैंने मान लिया है कि यह मेरे हैं यह मेरे दादा हैं, यह मेरी दादी है, यह मेरे बाबा हैं। अरे यह सब चलें जावेंगे, दादा, दादी तथा बाबाका यहां कोई भरोसा नहीं है। मैंने इनको मनमें बसा लिया कि यह मेरे हैं। जिन्होंने इन सबको अपने मनमें बसा लिया है कि यह मेरे हैं उनको दुःख होता है। वे रोते हैं, हाय मिट गया, रास्तेमें बैठे हुए देखो प्राणी यों रोते हैं। लोग कहेंगे कि यह पागल है। जैसे वह रोता

सुख यहाँ प्रथम भाग

था कि हाय मेरी मोटर चली गई । रोता है तो रो । हाय यह गया, यह घट गया, अमुक हानि हो गई, हाय नुकसान हो गया, यह चला गया । इस प्रकारसे उसे देखकर विवेकी लोग तो पागल कहेंगे । भ्रमसे यह मोही रोता है तो रोओ । इसका दुःख तो अन्य कोई भेट नहीं सकता । ज्ञानी पुरुष ही यह समझ पाते हैं कि यह पागल हो रहा है । रोता है तो रो, रोनेसे तो कुछ मिलेगा है नहीं । दुःखी होनेसे तो कुछ आयेगा ही नहीं । अरे-भाई अपने सही स्वरूपको तो देख, तू है क्या? यदि अपने आपको नहीं देखेगा तो करेगा क्या? तू शांति कैसे पायेगा? तू अपने आपको समझ ले कि मैं ज्ञानमात्र हूँ । मुझमें उपद्रवोंका अवकाश नहीं । झंझट और विकल्पोंकी निगाह नहीं । यह तो केवल जाननहार वस्तु है सो निरन्तर तू ज्ञान से ही काम कर, मैं निर्विकल्प ज्ञायकस्वभावमात्र हूँ । इसलिए मैं निर्विकल्प होता हूँ ।

अब क्या हूँ, अरे मैंने जान लिया कि यह मैं ज्ञानमात्र वस्तु हूँ । इसमें उपाधियोंका प्रवेश नहीं, झंझट इसे छू ही नहीं सकता । मुझे तो झंझटों से रहित तथा निर्विकल्प होकर सारे परपदार्थों की आशाओंको, तृष्णाओंको छोड़ते हुए केवल ज्ञानस्वरूप अपनेको निरखना है । और फिर अपनेमें अपने लिए अपने आप सुखी हो जाना है । सुखी होनेका दूसरा उपाय मत खोजो, वह सब धोखा है, उसमें सुख नहीं । कोई व्यापारका काम करते हैं वहां जब सुख नहीं मालूम देता है तो उसको भी छोड़ करके सर्विस करते हैं, कहते हैं अब यों करेंगे, अब यों करेंगे, कितना भी कुछ कर ले और ज्ञानको छोड़कर वह सब मायाजाल है, ज्ञानातिरिक्त सर्वचेष्टाओंसे रहित निज ज्ञायकस्वभावको देख, अन्य सबसे उपयोगको हटाकर निर्मल बनाए रहो, बाकी तो सब एकसा मायाजाल है ।

एक ब्राह्मणी मां के तीन लड़के थे— बड़ा, मझला और छोटा । एक बनिया था, बनिया तो बड़ा चतुर होता है, हर बातमें पैसोंका हिसाब लगाता है । बनियेने सोचा कि एक ब्राह्मणको जिमाना है सो ब्राह्मणी मां के लड़कोंको जिमाऊं । मगर छोटा लड़का सबसे कम खाता होगा, उसीको जिमाऊं तो अच्छा रहेगा । ब्राह्मणी मां के पासमें बनिया गया, बोला कि मां जी आज तुम्हारे छोटे लड़के का निमंत्रण है । मैं उसे जिमाऊंगा । माँ ने कहा—बहुत अच्छा है । हमारे तीनों लड़के तिसेरिया हैं याने तीन सेर खाने वाले हैं, किसीका निमंत्रण करो, वे सब बराबर हैं ।

इसी तरह ज्ञानके कामोंको छोड़कर बाकी दुनिया के पदार्थों में जितने भी काम हैं वे सब झंझट हैं, एक बराबर हैं, झंझटरहित तो केवल एक निज स्वरूपकी दृष्टि है, और यही धर्मका पालन है, यही करना है । घरमें बैठे हुए यह दृष्टि बन जाय तो अपना बड़ा काम कर रहे हो । यदि यात्रा में यही बात दृष्टि में आ जाय तो समझो कि धर्म कर रहे हैं और मनमें कषाय है, रंज है, सारी बातें हो रही हैं, लड़ाइयां हो रही हैं, झगड़े हो रहे हैं, वहां धर्म नहीं होगा । कहीं चलते फिरते धर्म मिल जाय, किसी जगह मिल जाय और जहां धर्म मिलनेका साधन बनाया वहां नहीं मिले और जहां मिलने का साधन नहीं बनाया, वहां मिल जाय ।

हमारा सब काम हमारे आधीन है । जैसे हम अपनेको बनाना चाहें, बना सकते हैं, अपने आपका

निर्णय कर लो कि मैं क्या हूँ, मैं केवल ज्ञानमात्र हूँ, जिसमें दूसरी चीजका प्रवेश नहीं है, मैं यह ज्ञानमात्र हूँ सहज परमात्मतत्त्व हूँ, ऐसी ही अपनी दृष्टि बनाकर मैं अपने आप अनुपम आनन्दका अनुभव करूँ।

देखो, यह ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व ही भगवत्स्वरूप है, यह ज्ञानघनतत्त्व ही इन्द्रियों के विषयोंको जीतता है, कर्मों का क्षय करता है, इससे यह ज्ञानस्वरूप ही निज है, यह ज्ञानस्वरूप ही पूर्णानन्दमय है, कल्याणस्वरूप है, इससे यह ज्ञानस्वरूप ही शिव है, यह ज्ञानस्वरूप ही समस्त ऐश्वर्य है और अपना काम करनेमें आप ही स्वयं सर्वकारणरूप है। इससे यह ज्ञानस्वरूप ही ईश्वर है, यह ज्ञानघन आत्मतत्त्व ही अपनी सृष्टिका मूल है अतः यह ज्ञानस्वरूप ही ब्रह्मा है। राम का व्युत्पत्त्यर्थ है— “रमन्ते योगिनो यस्मिन्निति रामः” जिसमें योगी जन रमण करें उसे राम कहते हैं, योगी जन इस पवित्र ज्ञानस्वरूपमें ही रमण करते हैं। अतः यह ज्ञानस्वरूप ही राम है, यह ज्ञानस्वरूप पूर्णव्यापक है, सर्वव्यापक है, समस्त लोकालोकज्ञ है, अतः यह ज्ञानस्वरूप ही विष्णु है, यह ज्ञानमय आत्मतत्त्व ही समस्त पापों और विकल्पोंका हरने वाला है। अतः यह ज्ञानस्वरूप ही हरि एवं हर है, यह ज्ञानस्वरूप ही सर्वदेवतामय है, सर्व प्राणिमय है, सर्वहितमय हैं इसका स्वयंसिद्ध स्वरूप निरुपद्रव है, निर्विकल्प है।

हमारे पुराण महापुरुषोंने लोकके बड़े-बड़े वैभवोंको त्यागकर इस ही ज्ञानस्वरूपमें हित एवं आनन्दका अनुभव किया था, जिसके परिणाममें वे ज्ञानमय व आनन्दमग्न होकर भगवान् हुए, ऐसे ही इस निर्विकल्प ज्ञानस्वरूपमें अपनेको उपयुक्त करके स्वयं शिवमय होऊँ।

स्वैकत्वस्य रुचिस्तस्माद् भव्यता निश्चयेन मे।

अस्वभावे कथं वृत्तः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥१७४८॥

अर्थ— मेरे तो निजके एकत्वमें रुचि है इसलिये निश्चयसे मेरे भव्यपना (तथा ही होनहार) है फिर ऐसी प्रवृत्ति में जो मेरा स्वभाव नहीं कैसे लगा, मैं तो अब अपनेमें अपनेलिये स्वयं सुखी होऊँ।

जितने भी चेतन पदार्थ हैं उन सबमें किसी न किसी ओरकी रुचि रहा ही करती है। जिन्हें सम्यग्ज्ञान हो गया उनकी रुचि, उनका झुकाव अपने आत्मस्वरूप के उपयोगमें होता है, जिन्हें अपने यथार्थस्वरूपका पता नहीं उनकी रुचि बाहर रहा करती है। बाहर रुचि क्यों हो जाती है? इसका कारण यह है कि जीव तो आनन्दस्वभाव ही है। इसके आनन्दका परिणमन निरन्तर होता ही है, किन्तु पर - उपाधि सहित अवस्था में अज्ञान होनेके कारण इन्हें यह भ्रम लग गया कि मेरा आनन्द बाहरी पदार्थों से आता है, इसलिये उनकी दृष्टि विषयोंकी तरफ दृष्टि होते रहते भी आनन्दगुणका परिणमन तो चलता ही रहता है। सो वहां इष्ट विषय पाने पर आनन्दगुणका सुखरूप परिणमन तो चलता ही रहता है। आनन्द तो अपने ज्ञानसे ही अपनेमें है। बाहर दृष्टि होनेसे यह बाहरी पदार्थों से आता है, लेकिन है बात उल्टी। आत्माका ज्ञान और आनन्द बाहरी पदार्थों की दृष्टिके कारण ढका है, रुका है, प्रगट नहीं होता है। परन्तु इसकी शक्ति अद्भुत है। कितने ही आवरण, कितने ही विघ्न आवें तो भी मूल से इस ज्ञान और आनन्द का निरोध नहीं हो सकता। ज्ञान और आनन्द तो हुआ ही करेगा। अब भ्रमके कारण यह दृष्टि बन गई कि आनन्द

सुख यहाँ प्रथम भाग

अमुक वस्तुसे होता है। सो भ्रममें इसकी उल्टी मति हो जाती है। यह यथार्थ ज्ञान है कि यह मैं आत्मा अपनी शक्तिस्वरूप हूँ, ज्ञानमय हूँ, आनन्दधन हूँ। ज्ञान और आनन्दके पिण्डके अतिरिक्त यह मैं आत्मा कुछ नहीं हूँ। यह जो शरीरमें रुका है, इसको शरीरने नहीं रोक रक्खा क्योंकि शरीर मूर्त है, वह अमूर्त आत्माको कैसे रोके? यह ही शरीर में मोह करके और अपना संस्कार बना करके रुका है। और कोई पदार्थ तो उसे रोक नहीं सकते हैं अर्थात् जब तक निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध नहीं हो पाता तब तक यह नहीं रोका जा सकता है। यह आत्मस्वरूप स्वतः सिद्ध तत्त्व है। इसके सहजस्वरूपको देखो तो यह प्रभु है। इसमें किन्हीं बातोंकी कमी नहीं है। परमानन्दका स्वभाव अनादि अनन्त रहता है। समस्त लोकके जाननेका स्वभाव अनादि अनन्त है। इसमें किन्हीं बातोंकी कमी नहीं। परिपूर्ण तो यह है ही। जो अपनेको ऐसा देखे वही तो परिपूर्ण बनेगा।

जैसे घरमें चाहे लाखों का धन गड़ा हो, जब तक उसे गढ़े हुए धनका पता नहीं है तब तक वह उपयोग में दरिद्र ही है। उसकी प्रवृत्ति गरीब जैसी होगी क्योंकि उसको पता नहीं है कि घरमें लाखोंका धन गड़ा है। कहीं पता चल जाय, कहींपर लिखा हुआ मिल जाय या किन्हीं पुरखोंके द्वारा पता लग जाय कि तेरे घरमें लाखों की निधि गड़ी है तो इतना मालूम होते ही उसको आनन्द आ जायगा। अभी उसने देखा भी नहीं है, परन्तु इतना पता लग गया, लिखा हुआ पा गया, उसीसे उसको आनन्द आ जायगा। वह आनन्दमय हो जायगा। अब उसको निकालनेका प्रयत्न करेगा। कुदाली लायगा, सब्बल लायगा, फावड़ा लायगा। उसको खोदेगा। ज्यों ज्यों वह खोदता जायगा, जो कुछ आसार देखता जायगा वह आनन्दमग्न होता जायगा। कहीं देखा कि मिट्टीकी खपरियां मिली, कहीं देखा कि कोई मटका मिला, इतनेमें ही वह बहुत खुश हो जाता है। जब धन निकल आता है तो धन पानेका जो अनुभव है उसमें सब कुछ भूल जाता है और विलक्षण सुखका अनुभव पाता है। इसी तरह इस आत्मामें बहुतसी निधि गड़ी हुई है। वह है अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्दकी निधि किन्तु यह निधि कर्मरूपी पृथ्वी के नीचे गड़ी है, अतः इसी कारणसे यह भिखारी होता हुआ परकी आशा करके बेचैन हो रहा है, पराधीन हो रहा है। मेरा सुख तो अमुक भैयाके हाथ है। ऐसा समझकर भैयाका दास बन रहा है। मेरी जिन्दगी तो इन्हीं के हाथ है ऐसा सोचकर उसकी ही दासता कर रहा है। ऐसी परिस्थिति है इस ज्ञानधन प्रभुकी, जिसको अपने धनका पता नहीं है। जब इसको पता लग जाय किसी भी प्रकार तो शास्त्रों में लिखा हुआ देखकर, अपने पुरुखों के उपदेशों को बांचकर, ज्ञानी धर्मात्माओंसे सुनकर जब पता लग जाता है कि मैं तो आनन्दस्वरूप हूँ, मेरे में तो ज्ञान और अनन्त आनन्द भरा हुआ है। इतना पता लगते ही वह आनन्दविभोर हो जाता है।

मैं गरीब हूँ, मुझे दूसरोंसे कम सुख हैं इन कुवासनाओं से जो क्लेश होता है वह सारा का सारा मिट जाता है। यदि अपने आनन्दस्वरूपको पहिचाना तो ज्ञानी अब इस निधिके विकसित करनेका प्रयत्न करता है कि मेरा ज्ञान और आनन्दस्वरूप शीघ्र विकसित हो। इसके लिए वह क्या करता है भगवानकी स्तुति, बारह भावनाओंका चिन्तन, वस्तुस्वरूपका अध्ययन, मनन, ध्यान, यही उसके खोदनेकी कुदाली

और सब्बल होते हैं। इन साधनोंसे ज्ञानी कर्मपृथ्वीको खोदता है। जैसे ही उसको कुछ आसार भावों में मिलने लगता है वैसे ही वह एकत्वकी ओर आने लगता है और उसे हिम्मत बंधती है। ऐसे उसे आनन्द प्राप्त हो सकता है। वह आनन्दस्वभाव है। देखो ना, ज्ञानीने शुद्ध आनन्दभाव को ही अपने उपयोग में लिया है। वह आनन्द बढ़ता जाता है, तब ही तो वह अनुभवमें आनेके लिए एकदम शीघ्रता करता है और फिर आनन्दमग्न हो जाता है। ऐसी शुद्धवृत्ति आत्माके एकत्वस्वरूपकी रुचि होनेपर आत्माओं में होती है जिसकी आत्माके एकत्वमें रुचि है, निश्चय है कि वह भव्य ही है। जरा अपनेको तो निहारो कि तुम क्या चाहते हो? चाह लो, जो-जो चाहोगे सोई मिल जायगा। चाहे दो-चार लाख रुपये चाहते हो वह भी मिल जावेंगे, इसके बाद शांति मिलेगी क्या, कुछ अन्दाज कर लो, तृष्णा बढ़ेगी, परिचय बढ़ जायगा, चोरों, डाकुओं, राजाओंसे बहुत दुश्मनी बढ़ जायगी, लाखों, अरबों रुपया पानेके लिये बैचें हो जावोगे। जैसा चाहो वैसा चाह लो, अपने भवितव्यका यथार्थ विचार कर लो, शांति कहीं नहीं मिलेगी। शान्ति है तो केवल अपने शुद्धस्वरूप के उपयोगमें है और इसके द्वारा पूर्ण शांति स्थित रह सकने वाली शान्ति है, मेरे में जो सुख प्रगट होता है वह दूसरों के द्वारा होता है तो वह पराधीन है। कभी मिलता है और कभी नहीं मिलता है, इसमें सन्देह है। पर अपनी चीज अपनी ही है, वह अपने उपयोग से ही मिलती है, और अपने ही उपयोग में आयेगी। यह मैं ही सदा रहने वाला हूँ। इसका उपयोग भी सदा रहने वाला है। यह संसार का प्राणी अपने इस धन को छोड़कर पराये धन में रहकर दुःखी हो रहा है। परन्तु यदि इस एक अपने आत्मधन-में न आया तो क्या है? इस जीव ने सब व्यवस्थायें की, यदि अपनी व्यवस्था नहीं की तो क्या है? यह सब क्षणिक बातें हैं, मिट जाने वाली बातें हैं। इससे आत्मा को क्या मिलेगा? अपनी व्यवस्था करना सर्वप्रथम कर्तव्य है। अपनी व्यवस्था के मायने अपने घर की नहीं, अपने कुटुम्ब की नहीं, अपने परिवार की नहीं परन्तु अपना रूप पहिचान में आ जाय, यही इसकी व्यवस्था है।

एक कथानक है कि एक बाबू साहब थे। वह शाम के बाद अपने दफ्तर की सुन्दर व्यवस्था में लग गए, जहाँ जो चीज रखना चाहिए उन्होंने वहाँ पर रक्खी, घड़ी जहाँ रख दी तो उस जगह लिख दिया घड़ी, जूते जहाँ रख दिये तो वहाँ पर जूते लिख दिया। कमीज, कोट इत्यादि जहाँ पर रख दिये तो वहाँ पर कमीज, कोट लिख दिया। इस तरह सारी व्यवस्था बनाते बनाते ६ बज गए, नींद आने लगी परन्तु व्यवस्थाओं का बनाना नहीं छोड़ा। खुद पलंग पर जब जाकर बैठे तो उस पलंग में भी लिख दिया मैं, और उसी पलंग पर सो गए, सुबह जब हुआ, सोकर जगे तो घूम घूम कर देखते हैं कि हमारी सब व्यवस्था ठीक है कि नहीं? घड़ी की जगह पर घड़ी, छड़ी की जगह पर छड़ी तथा अन्य चीजें भी ठीक ठीक उसी जगह पर रक्खी हुई हैं जहाँ पर रख दिया था। पर मैं नहीं दिखता। गौर से देखते हैं पर मैं कहीं नहीं दिखता। बोले कि मेरा मैं कहाँ गया है? जब न मिला तो उसी पलंग को झिटकाया पर मैं उस पलंग से नहीं टपका, उन्होंने सोचा कि मैं तो गुम गया है। नौकर को झट बुलाया बोले मनुवा, ओ मनुवा यहाँ आओ, बड़ा गजब हो गया है, मेरा मैं कहीं गुम हो गया है। नौकर यह सुनकर हंसने

सुख यहाँ प्रथम भाग

लगा और मन में सोचा कि क्या बाबू जी का दिमाग खराब हो गया है ? नौकर बोला बाबू जी घबराओ नहीं, आपका मैं आपको मिल जायगा। आप थके हुए हैं जरा सा आराम कर लें। मैं आपका निश्चित ही मिल जायगा। बाबू जी को विश्वास हो गया कि यह पुराना नौकर है, झूठ नहीं बोल रहा है। बाबू जी पलंग पर लेट गए। जब सोकर जागे तो नौकर बोला कि अब आपका मैं मिला कि नहीं, बाबूजी ने जब अपने आप को टटोला तो बोले कि हां मिल गया मेरा मैं, बोले तुम्हें धन्यवाद है।

इस आनन्द को बनाने वाला यह भगवान आत्मा ही है और इस आनन्द का बनाने वाला कोई द्रव्य नहीं है। इस जीव को यह पता ही नहीं है। इसका ही मतलब है कि इसका मैं इसके लिए गुम गया। मैं ज्ञानमात्र हूँ, इसका भी पता इस जीव को नहीं है। जो बाहरी पदार्थों में अपना ज्ञान मानने की वासना लगाये हुए हैं उनको मैं का पता नहीं, जो किन्ही भी विषयसाधनों में आनन्द ढूँढ़ता है उसको मैं का ही पता नहीं, मैं तो ज्ञान आनन्दस्वरूप हूँ, निरन्तर परिणमता रहता हूँ, ज्ञानमय हूँ।

आनन्दघन है तो आनन्द के विकास में परिणमेगा। जैसे इसका विश्वास भी परद्रव्यों के प्रति हो तो भी परद्रव्यों के विश्वास से तो आनन्द नहीं आयेगा। अरे तू तो भगवत्स्वरूप है। तू इस अपने स्वरूप को छोड़कर वाह्यपदार्थों में क्यों लग रहा है ? तुझे इन वाह्यपदार्थों में न लगना चाहिये। ज्ञान होने पर भी लगन वाह्य की ओर कभी लगानी पड़ती है किन्तु रुचि को देखो, यदि अन्त की ओर है, वाह्यपदार्थों की ओर रुचि नहीं है तो अन्य कार्यों के करने की लगन नहीं कही जायगी। जैसे कोई नौकर मन लगाकर काम नहीं कर रहा है तो उसे कहते हैं कि यह काम नहीं कर रहा है। काम करने में जब मन नहीं है, जब रुचि नहीं है तो उसे कहते हैं कि यह काम नहीं करता है। इसी कारण जैसे ज्ञानी को अपने भगवत्स्वरूप का पता नहीं है कि यह स्वच्छ है, सबसे निराला है, परिपूर्ण है, इसे कुछ वाह्य कार्य करने को नहीं है-तो इसके पास झंझट नहीं है। परन्तु परपदार्थ तो अपनी सत्ता में हैं और अपने आप परिणमते रहते हैं। यह आत्मा तो स्वयं स्वरूप सर्वस्वमय है और अपने स्वरूप में परिणमता रहता है। देखो ना, इसमें कोई झंझट नहीं कोई विवाद नहीं, कोई कलेश नहीं। पर इसका जब पता सही लगता है तो सारी विपत्तियां अपने ऊपर लग जाती हैं। गलती तो इतनी सी है कि परपदार्थों को यह मान लिया कि यह मेरे हैं। केवल मानने की गलती है और इसका फल कितना बड़ा है कि जन्म मरण की परम्परा हो गई, संसारवृक्ष बन गया। इतनी बड़ी विपत्तियां आ गईं। बीज तो इसका छोटा होता है पर वृक्ष बहुत बड़ा हो जाता है। इतने बड़े संसार का बीज केवल पर को अपना मानना भर है। इतनी बड़ी गलती का इतना महान कुफल हो गया कि जन्म मरण के चक्कर लग गए। कीड़े मकौड़े बनना पड़ा। अरे तू केवल अपने मिथ्याभाव की गलती को मिटाकर अपने को सम्भाल ले तो समझ जायगा कि हमने सब कुछ कर लिया। इसी से मनुष्य जन्म की सफलता है।

इस तन, मन, समस्त वाह्यपदार्थों को नश्वर जानकर इसका ध्यान न करो। अपने स्वरूप की आस्था को बनाओ तब तुम्हारा पूरा पड़ेगा। उसमें ही रमकर मैं अपने में अपने लिए अपने आप स्वयं सुखी होऊँ। इसके आनन्द का उपाय अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगा। ऐसी शुद्धस्वरूप की भावना हो, इसी में मेरा

सब कुछ है। जीव तो अनेक मनुष्य जन्म पाते हैं और मनुष्यभवं को छोड़कर चले जाते हैं। परन्तु मनुष्यभवं पाना उन्हीं जीवों का सफल है जिन्होंने इस भवं में पाये हुए श्रेष्ठ मन को निमित्त करके आत्मतत्त्व का अध्ययन किया है और इसके परिणामस्वरूप कभी निर्विकल्प निज ज्ञायकस्वरूप का अनुभव किया है। अपने आपकी अन्तर्दृष्टि करके देखो। क्या इस मेरे को अपने आत्मस्वरूप के एकत्व में रुचि है या नहीं। यदि मुझे आत्मस्वरूप की रुचि है तो निश्चय से भव्य हूँ। मैं परभाव में क्यों लगूँ? अपने में ही अपने द्वारा रमकर सुखी होऊँ।

अद्वैतानुभवः सिद्धिर्द्वैतबुद्धिरसिद्धता।

सिद्धेरन्यश्च पन्था न स्यात् स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥१-४६॥

अर्थ- निज अद्वैत का अनुभव तथा अद्वैत परिणमन ही सिद्धि है, द्वैतबुद्धि असिद्धि है। सिद्धिका और दूसरा कोई भी मार्ग नहीं है, निज अद्वैत स्वरूप अपने में अपने लिये स्वयं सुखी होऊँ।

अपने आप में अपने अकेले का अनुभव करना, इस ही का नाम सिद्धि है। ऐसे अकेले का अनुभव करना कि जो वास्तविक अकेला है, स्वतः सिद्ध है, निजस्वरूप सत्तामात्र है, परपदार्थों और परभावों से जुदा है, अपने आप चतुष्टय में सत् है ऐसा ज्ञानमात्र व ज्योतिमात्र अपने आपका अनुभव कर। इस ही का नाम सिद्धि है। अन्य कोई चीज अपने में कुछ मिलती नहीं। मैं किसी अन्यरूप नहीं हूँ अथवा मैं अन्य कुछ मिल करके भी नहीं हूँ। यदि किसी दूसरी चीज में अपनी बुद्धि रखते हो तो इसी का नाम असिद्धि है। मैं आत्मस्वभाव में साक्षात् भगवान् स्वरूप हूँ। लोग कहते हैं कि भगवान् घट घट में बसता है, भगवान् अलग नहीं है। जो बसने को घट घट में जाता हो या एकदम से वह फैलकर घट घट में आ गया हो। ऐसा नहीं है, किन्तु जितना घट घट है, जितना आत्मा है, जितना चैतन्यस्वरूप है, वह सब भगवान् है। हम स्वयं ही सत्य आनन्दमग्न हैं, किन्तु अपने इस स्वभाव का विश्वास न रखकर बाह्यपदार्थों से आनन्द होता है या आनन्द में बाधा होती है। ऐसी एक दृष्टि हो गई है। इस दृष्टि से वह अपने आनन्द को रोकता है। वह स्वयं आनन्दस्वभाव की निधि है। आनन्द कहीं बाहर से नहीं आता है। स्वयं यह आत्मा ज्ञानमय है। ज्ञान किसी से लेना नहीं है। इसी प्रकार यह आत्मा आनन्दमय है। कभी भी दूसरी जगह से आनन्द इसमें लाया नहीं जाता है। यह खुद आनन्दस्वरूप है और इसी कारण किसी ने इसे आनन्दमय ब्रह्म कहा है अर्थात् ब्रह्म का स्वरूप है आनन्दमय है और इसी को किसी ने ज्ञान का स्वरूप कहा है और किसी ने इसको सत् का स्वरूप कहा है। इस तरह पृथक् पृथक् कहा है किन्तु स्याद्वाददृष्टि ने इसे सत्चिदानन्द बतलाया है। यह आत्मा अपने स्वभाव से बढ़ते हैं, अतः यह स्वभाव वाला है। अतः इसे कोई ब्रह्मा कहते हैं और कोई आनन्द की प्राप्ति कहते हैं, किन्तु वह तो सत्स्वरूप भी है, चित्स्वरूप भी है, आनन्दमय भी है अतः उसे सच्चिदानन्दमय कहा है। जहां आनन्द का स्वरूप चित् का स्वभाव पूर्ण विकसित है, उसी का नाम परमात्मा है। प्रत्येक जीव को स्वरूप से देखो कि ऐसा है कि नहीं। वह ऐसा ही है इन जीवों में चैतन्य भी है, क्योंकि अगर चैतन्य नहीं होता तो इन जीवों में ज्ञान और समझ कहां से आती? और आनन्द है कि नहीं? आनन्द भी है। यदि आनन्द न होता तो जीवों में आनन्द

आता कहां से ? इस तरह यह सच्चिदानन्दमय आत्मा है। मतलब यह है कि जैसा यह स्वयं है अद्वैत, वैसा ही अनुभव करना चाहिए। परपदार्थ भी अद्वैत है। किसी में कोई दूसरा मिला नहीं है। दूध और पानी मिला हो, फिर भी दूध में दूध ही है और पानी में पानी ही है। दूध में पानी नहीं गया और पानी में दूध नहीं गया और यहां तक कि दूध के जितने परमाणु हैं वे सब पृथक्-पृथक् उसी दूध में है और पानी के परमाणु पानी में पृथक् हैं। वे स्वयं सत् हैं। यही बात है कि एक से दूसरे में परमाणु नहीं आते। प्रत्येक पदार्थ अपनी सत्ता लिये हुए हैं। प्रत्येक पदार्थ अद्वैत है। अद्वैत कहते उसे हैं जो दूसरे से न लगा हो। जो दो चीजों से मिलता है उसे द्वैत कहते हैं और जो दूसरे से नहीं मिला है, खुदबखुद अपने आप एक ही है उसे अद्वैत कहते हैं। जगत् के सब पदार्थ खुदबखुद अपने आप में अपनी सत्ता लिये हुए हैं। इस तरह सभी अद्वैत हैं। सब पदार्थों को अद्वैत निरखना है। प्रत्येक पदार्थ अपने में एक ही है। इसमें दूसरे का प्रवेश नहीं है। इसलिए दूसरे का प्रवेश न होने से स्वयं को अद्वैत निरखना है। और इसी प्रकार अपने आप में भी अद्वैत का अनुभव करना। यह मेरा भैया है, यह तो मेरा बच्चा है, यह घरबार है, यह मेरा वैभव है, यह मेरा शरीर है, मैं कुछ हूँ, इस प्रकार द्वैत को अनुभव करता रहा तो उसी को असिद्धि कहते हैं, उसी के मायने संसार है। पदार्थ जैसे हैं वैसा न अनुभव करना, वैसा न मानना, बस इसी का नाम है जगजाल में फंसना। जो अपने को नाना वेशों रूप ही अनुभवता है उसे शान्ति नहीं मिलती है। क्योंकि नाना रूप इसके बन गए सो ये तो जो हैं सब पराये हैं और फिर हैं नाना, अतः उनकी सम्भाल कैसे हो ? मुक्ति का रास्ता और कोई दूसरा नहीं है। यही अपने आपको जैसा शुद्ध अकेला स्वरूप है वैसा मान जाना बस यही मोक्ष का रास्ता है, मुक्ति का पंथ यही है। अभी धर्म पालन के लिए बहुत बहुत काम किये जाते हैं कर लो किन्तु अपने आपके इस अद्वैत स्वरूप का अनुभव नहीं है तो धर्म पालन नहीं हुआ, शांति का मार्ग नहीं मिला, मोक्ष का मार्ग नहीं पाया। धर्म एक ही होता है, धर्म पचासों नहीं होते। दुनिया में जो ये मजहब है वे तो मत हैं, धर्म नहीं है। आज जो दुनिया में प्रसिद्ध है यह अमुक सम्प्रदाय है, यह अमुक मजहब है वे तो मत कहलाते हैं, धर्म नहीं होता है। मत अनेक होते हैं पर धर्म अनेक नहीं होते। धर्म अनेक हो ही नहीं सकते हैं। अब हमें धर्म पालन करना है या मत पालन करना है। अगर मत पालन करना है तो मतपालन किया जाय और अगर धर्मपालन करना है तो धर्मपालन किया जाय। धर्म है वस्तु का स्वरूप, वस्तु का अनुभव, यह मैं आत्मा कैसा हूँ, क्या हूँ, कैसे स्वभाव वाला हूँ जैसा हूँ तैसा मानना इसी के मायने हैं धर्म का पालन। जैसे जातियां अनेक हो गईं, जैसे हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि। इन सबके रहन सहन अनेक प्रकार हो गए, बुद्धि अनेक हो गई। एकसा ही उन मनुष्यों का जन्म हुआ और एकसा ही उनका मरण होता है। इसी तरह इन सब लोगों ने अपने-अपने मत को बदल दिया है, पर वह है सब एक किस्म के आत्मतत्त्व जैसे। उन सबने अपने अपने मत बदल दिए हैं, पर रंग को तो नहीं बदल पाया। अपना आकार तो नहीं बदल दिया है। उन पर की चीजों का फर्क बना लिया है कि कोई चोटी रखता है कोई नहीं रखता है। यह सब कुछ हो जाता है पर उनका रूप नहीं बदलता है। जैसे मनुष्य का स्वरूप नहीं बदलता है, इसी

तरह चाहे जितनी ही कल्पनायें आ जायें, चाहे जितने ही मत आ जावें उनकी आत्मा का एक ही स्वरूप है, एक ही स्वभाव है। कोई ऐसा भी जीव है जिसका यह मत है कि आत्मा फात्मा कुछ नहीं है। आत्मा का अस्तित्व कुछ नहीं है। वे आत्मा को मना कर रहे हैं। आत्मा का विरोध कर रहे हैं। आत्मा ही आत्मा को निषेध कर रहे हैं। निषेधबुद्धि करने से सत् नहीं मिट गया। वैसे आत्मा को अन्य रूप में कल्पनायें कर लेने से आत्मा में वह कुछ नहीं हो जायगा। आत्मा वही है जैसे रस्सी को डोर का भ्रम हो जाय कि यह सर्प है तो भ्रम हो जाने में कहीं रस्सी की डोर सर्प नहीं बन जायेगी। वह तो रस्सी ही रहेगी। हम कितनी ही चीजों के बारे में कितनी ही कल्पनायें कर डालते हैं परन्तु इतनी कल्पनायें कर लेने से ही चीज नहीं हो जाती। वह तो सत्ता से हो गई है, वही है। हम इस आत्मा के बारे में कितनी कल्पनायें करे, हम नाना नहीं बन जावेंगे। हमारा तो एक स्वरूप है, जो अनादि से अनन्त काल तक रहेगा।

यह निगोद कीड़ों जैसी पर्यायों में भी पहुँचा है, इस आत्मा का प्रदेश आकार भी बदल गया है, फिर भी निगोद जैसी निम्न अवस्थाओं में भी इस आत्मा का स्वरूप वही एक रहा है, वह नहीं बदल गया। उसका जो स्वत्व है, सो ही है, वह नहीं बदल गया। ऐसी आत्मा का वह अद्वैतस्वरूप जिनके ज्ञान में आया है उनको सिद्धि होती है और जिसे द्वैत आया है, जिसने द्वैत का अनुभव किया है उसको असिद्धि होती है। उस एक को जिसने चाहा है उसको सर्वस्व मिला है और एक को छोड़कर जिसने नाना पदार्थों में दिल लगाया है उनको कुछ नहीं मिला है।

एक ऐसा कथानक है कि एक बार एक राजा किसी दूसरे राजा से लड़ाई करने गया। दो माह तक युद्ध होता रहा। उसमें उस राजा की विजय हो गई। इसके बाद वहाँ पर राजा ने बड़ा उत्सव मनाया और खुशी में देश की सब रानियों को पत्र लिखा कि जिसको जो कुछ चाहिये हमारे को पत्र लिखे। तब किसी रानी ने साड़ी लिखी, किसी ने जेवर लिखा, किसी ने अमुक खिलौने को लिखा, किसी ने कुछ लिखा, किसी ने कुछ लिखा। जो सबसे छोटी रानी थी उसने अपने पत्र में लिख दिया केवल १ का अंक, और कुछ नहीं लिखा। पत्र को लिफाफे में भरकर भेज दिया। जब राजा ने पत्रों को खोला तो किसी में कुछ लिखा था किसी में कुछ मगर छोटी रानी के पत्र में केवल १ का अंक लिखा था। राजा इस केवल एक या १ का अर्थ न समझ सका। उसकी समझ में केवल १ का मतलब न आया। उस राजा ने मंत्रीसे पूछा कि इस छोटी रानी ने क्या मंगाया है? मंत्री पत्रको देखकर कहता है कि छोटी रानी ने केवल एक आपको ही चाहा है। राजा सभी रानियों को किसी को साड़ी, किसी को गहना, किसी को खिलौने लेकर अपने देश जाता है। जब वह वहाँ पहुँचता है तो जो जो कुछ देना था वहाँ, उनके महलों में पहुँचा दिया और छोटी रानी के महल में स्वयं पहुँच गए, जिसने केवल एक को चाहा था, पर अब यह बतलावो कि राजा की सारी चीजें, सारा वैभव, हाथी, सेना, शासन, इज्जत इत्यादि सब कुछ उसके महल में पहुँच गया या नहीं।

इस जगत् में जितनी भी व्यवस्थायें चल रही हैं वह सब चैतन्य ज्योतिका ही तो प्रसार है। एक चैतन्य ज्योति को जिसने चाह लिया, एक अद्वैत स्वभाव को जिसने चाह लिया उसको सर्वसिद्धि है।

सुख यहाँ प्रथम भाग

इस आत्मानुभव की ओर आवो। बाहर की ओर दृष्टि कम करके अपनी प्रकृति, रहन सहन को सात्विक बनावों और मुख्य प्रयोजन जो आत्मसिद्धि का है उसे करो। बनावट, दिखावट, सजावट न करके कर्म में दृष्टि दो तो बस यही धर्म का पालन है। शांति भी इसी उपाय से प्राप्त होगी। मोक्षमार्ग भी इसी उपाय से प्राप्त होगा। पर पदार्थों में भटकना, नाना प्रकार की कल्पनायें करके उपयोग को बाहर फंसाना, यह सब अशांति के साधन हैं, अधर्म का पालन है, धर्म की उपेक्षा है। अपने इन २४ घण्टों में जबकि प्रायः सारा समय दुरुपयोग में जाता है, मोह, राग, द्वेषों में जाता है, नाना कल्पनाओं के विकल्पों में जाता है। भाई पन्द्रह मिनट का संकल्प करके, सत्य का आग्रह करके, अपने आपकी भी व्यवस्था बना लो अपने आप में १०, ५ मिनट आने में कुछ बिगड़ नहीं जायगा। एक अमूर्ततत्व की प्राप्ति होगी। अद्वैत का ही अनुभव हो, उसे ही सिद्धि कहते हैं। जगत् के जीव अहंकार भरे हुए हैं। मैं परिवार वाला हूँ, धन वाला हूँ, इज्जत वाला हूँ, यह मैं अमुक हूँ, उत्तम हूँ, शुद्ध हूँ, नाना प्रकार की कल्पनायें लिए हुए यह प्राणी विचर रहे हैं। अरे तू तो वह स्वरूप है जिसका स्वरूप सर्वत्र एक है।

यदि मैंने अपने ही स्वरूप को माना तो धर्म का पालन किया और यदि अपने अद्वैत स्वरूप को छोड़कर नाना रूपों में माना तो अभी धर्म से बाहर हूँ। अपने धर्म से अर्थात् अपने आत्मस्वभाव से स्नेह करो। जगत् में कहां भटक रहे हो ? शरण कहीं नहीं मिलेगी, हर एक से धोखा मिलेगा, बहकावा ही मिलेगा। शरण तुझे अपने आप में बसे हुए उस सहज परमात्मत्व की शरण लेना है। यही मुक्ति का मार्ग है। दूसरा कोई मुक्ति का मार्ग नहीं है। जैसे कहते हैं कि “सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्राणि मोक्षमार्गः।” सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता ही मोक्ष का मार्ग है। जहां दर्शन ज्ञान चारित्र में विकल्प भी नहीं उठते। इसका एकरस उपयोग हो जाना, यही एक मोक्ष का मार्ग है। जो कि सर्वसिद्धि है। जो इस आत्मा के सहज चैतन्यस्वरूप की श्रद्धा पा लेगा वही अपने स्वरूप में रम जायेगा। ऐसी स्वाधीन शाश्वत सम्यक् की बिना मोक्ष का मार्ग नहीं मिलेगा। किसी बहकावे व किसी बालबच्चों की उलझन में पड़कर शान्ति नहीं मिलेगी और आगे का रास्ता भी बन्द ही जायगा। बाहरी चीजों में पड़कर इस आत्मा का हित कुछ नहीं है हित तो यह स्वरूप है। यह तो धर्म की साक्षात् मूर्ति है। यह आत्मा चैतन्य स्वरूप आत्मा ही धर्म की मूर्ति है। वह भगवान् स्वरूप है। वही कल्याण है। मैं इस एक को छोड़ दूँ तो संसार में भटकते हुए कुछ पता भी नहीं लगेगा। कितनी योनियां हैं, कितने शरीर के कुल हैं, कितने जगत् में लोक के साधन हैं। किस स्थान में, कितनी बार, कहां जन्म लूंगा, कितने कितने शरीरों में कितनी बार जन्म लेते रहेंगे, कुछ पता तक भी नहीं रहेगा। अभी मनुष्य है, ज्ञान साफ है, स्वाधीन है। हम दूसरों की बात समझ लेते हैं। दूसरों को अपनी बात समझा देते हैं। पशु पक्षियों को देखो ऐसा जन्म होता क्या ? उनके अक्षरमय भाषा नहीं है। दूसरों की बात वह दूसरों से क्या कहेंगे, उनमें धर्म की चर्चा क्या होगी ? कीड़े, मकौड़े बहुत से जीव हैं, वे क्या कर सकते हैं ? उन जीवों के मुकाबले में देखें तो हमारी अब कितनी उच्च अवस्था है ? हम और आप सम्यग्दर्शन के पात्र हैं, सम्यग्ज्ञान के पात्र हैं। अपने में पुरुषार्थ करने की योग्यता है, हमें कुछ अपना हित भी निरखना चाहिए,

घर, द्वार, धन, वैभव इत्यादि में ज्यादा दृष्टि नहीं रखनी चाहिए। यद्यपि इस गृहस्थावस्था में सबका प्रायः यह निर्णय रहता है कि इसके बिना गुजारा चल ही नहीं सकता है। परन्तु जब यह घर-द्वार, धन वैभव छूट जावेंगे तो क्या इसके बिना गुजारा नहीं चलेगा। धन वैभव के बिना, घर द्वार के बिना आत्मा का गुजारा चल जायगा, पर सम्यग्ज्ञान बिना आत्मा का गुजारा नहीं चलेगा। इस अपने सम्यग्ज्ञान को छोड़कर यदि परपदार्थ को महत्व देगा तो अंशांति, कर्मोपासना तथा कर्म बंधना ही रहेगा और यदि अपने इस शुद्धस्वरूप को महत्व देगा, वहीं रहेगा, वहीं पहचानेगा, वहीं झुकेगा तो उसके बंधन कटेंगे, शांति का मार्ग मिलेगा और भविष्य में इसका जब तक संसार है, उत्तम उत्तम भव समागम मिलेगा और निकट समय में मुक्ति प्राप्त होगी। इसलिए अपने आपका सम्यग्ज्ञान करो, प्रमादी मत हो, इस अपने स्वरूप को देखकर प्रसन्न रहो। यह मेरा शाश्वत आनन्दमय चैतन्य स्वरूप है, सदा अलग है, यह सब अहंकारों से दूर है, मैं अपने स्वरूप में हूँ। एक अपने आप में सही स्वरूप का पता लग जाय तो इससे बढ़कर कुछ जगत् में नहीं है। इस तरह अपने अद्वैत का अनुभव करो, यही मोक्ष का मार्ग है। और ऐसा ही अद्वैत सब पदार्थों में है। उन सबमें भी उनके अद्वैतस्वरूप का बोध करें इसी का नाम सिद्धि है। आत्मा के ध्यान में, चिंतन में, मनन में, अध्ययन में, अनुभव में अधिक से अधिक पुरुषार्थी बनकर अपने जीवन को सफल बनावें।

स्वैकत्वं मंगलं लोके उत्तमं शरणं महत् ।

रक्षादुर्गं तदेवास्ति स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयं ॥१-५०॥

अर्थ— स्व का एकपना ही मंगल है लोक में उत्तम है, महान शरण स्वरूप है, वह ही रक्षा का किला है। इसलिये स्वके एकत्वस्वरूप अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

आत्मा के शुद्ध स्वरूप को आत्मा का एकत्व कहते हैं अर्थात् जो आत्मा अपने आप, अपनी सत्ता के कारण जो कुछ सर्वस्व है वह आत्मा का एकत्व है। इस एकत्व में दृष्टि जाना यही शरण है। आत्मा के केवल स्वरूप की निगाह होना यही रक्षा का सबसे बड़ा दृढ़ किला है। जैसे बड़े मजबूत किले के भीतर राजा लोग अपने को सुरक्षित अनुभव करते हैं, इसी प्रकार इस निज सहज स्वरूप में ही यह मैं हूँ ऐसा अनुभव करने वाला ज्ञानी अपने को सुरक्षित अनुभव करता है। जब इस दृष्टि से हट जावेगा तभी ये नाना विकल्प होंगे और उनसे रक्षा करने वाला कोई नहीं होगा। उसको आराम करने का सुख शांति मिलने का साधन व मार्ग नहीं मिलेगा। देखो इस एकत्व का शरण गहे बिना ही इतना बड़ा जगजाल बिछ गया। इसी से सैकड़ों आपदायें बिछ गईं। परन्तु जो आत्मा अपने इस स्वरूप के किले में प्रवेश करके बैठता है उसकी सारी विपदायें खत्म हो जाती हैं। एक भी संकट में प्रायः वह नहीं रहता है। यदि इस जीव ने आज तक ऐसा कार्य नहीं किया है तो इसी का फल है कि उसका संसार में जन्ममरण का चक्र आया। यहां का परिवार यदि अच्छा लगता है, स्त्री का, बच्चों का, धन का यदि मोह लगा हुआ है तो खूब एकदम खुले हुए दिल से डटकर मोह को कर लो। खूब मोह कर लो, इसके अधकचड़े में क्यों रहते हो ? अच्छा अजमा लो मोह करके, फिर बताओ क्या अपने में लाभ की व्यवस्था हो

सुख यहाँ प्रथम भाग

जायगी ? यदि इसमें सार नजर आता है तो इसमें ही लग जाओ। अपने आप में ही पता चल जायगा कि मुझे इससे हानि मिली है कि लाभ मिला है ? इससे कुछ नहीं मिलेगा, क्लेश ही मिलेंगे, आत्मबल ही घटेगा, नाना शल्य बढ़ेंगे, बाहर दृष्टि एकदम फैल जायगी, फिर आनन्द का उपाय बनाना कठिन हो जायगा। अनेक खोटी परिस्थितियाँ आ जायेंगी, यदि वाह्य में मोह कर लिया तो -। वाह्य में कोई मंगल नहीं है, कोई मुझे सुख देने वाला नहीं है। मंगल वह होता है जो मंगल है। मंग अर्थात् सुख को जो लावे वह मंगल कहलाता है। आनन्द को, सुख को जो लावे उसे मंगल कहते हैं। आप लोग णमोकारमंत्र पढ़कर फिर चत्तारि दंडक पढ़ते हैं उसमें यही तो बोला जाता है।

चत्तारिमंगलं, अरहंता मंगलं, सिद्धमंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं। अर्थात् चार मंगल हैं, अरहंत मंगल हैं, सिद्ध मंगल हैं साधु मंगल हैं और केवली भगवान के द्वारा प्रणीत धर्म मंगल है। मंगल का अर्थ है जो मंग लावे व मंगलावे। मं का अर्थ है पाप जो पाप को गलावे। वही परिणाम सुख दे सकता है। पापों को बढ़ाने वाला जो परिणाम है वह मोह और अज्ञान से भरा अर्थात् विषयों में लगा हुआ रुचिकर तो होता है परन्तु उसका परिणाम खोटा ही निकलता है। यहां किसी का कुछ करने वाला कोई नहीं है। आत्मा और कर्म इन दोनों के परस्पर निमित्त नैमित्तिक भाव चल रहे हैं। जैसे परिणाम हों तैसे ही कर्म इसमें बंधेंगे। जैसा बद्ध कर्मों का उदय आवेगा वैसे आत्मा में भाव होंगे। ज्यों ही आत्मा ने खोटापन किया त्यों ही आत्मा में कर्म के बन्धन हुए और वह बंधा हुआ कर्म जब अपना समय पायेगा, अपने उदय काल में आवेगा उस समय ही आत्मा में दुःख और खोटा परिणाम उत्पन्न हो जायेगा। न इस आत्मा को कोई समझाने वाला है कि देखो खोटा उदय आ रहा है तो खोटा बन जावो और न कर्म को समझाता है कोई कि आत्मा में खोटा भाव आ रहा है तो तुम बंध जावो। परन्तु ऐसा प्राकृतिक सुयोग है कि जहां आत्मा में खोटा भाव आया कि वहां कर्म बंध गए। तात्पर्य की बात यहां यह समझनी चाहिए कि यहां करने हरने वाले कोई नहीं हैं जिनकी भक्ति करें, जिनकी मिन्नत करें। और कुछ अपनी तरकीब निकाल लें, यहां तो ओटोमेटिक सब हो रहा है। खोटें पन को रख लो तो दुर्गति प्राप्त कर लो, अच्छे भाव कर लो, लो सद्गति पा लो। यह तो जिस समय किया उस ही समय पर निर्भर है, इस कारण सदा अपने परिणाम को स्वच्छ व संयत बनाने का यत्न होना चाहिए। परिणाम की निर्मलता के लिए क्या करना है ? जैसा यह मैं हूँ तैसा समझ लेना है। यह मैं आत्मा सबसे निराला हूँ ना, हूँ तो सबसे न्यारा, सबसे निराला मान लो। बस यही मौलिक यत्न आवश्यक है। अच्छा देखो यह पीछी चौकी से न्यारी है कि नहीं, पुस्तक से न्यारी है कि नहीं ? है ना न्यारी, फिर न्यारा मानने में कौनसा हर्ज होता है ? है नहीं यह शरीर सबसे न्यारा, जो बैठे हैं उन सबसे यह शरीर जुदा है कि नहीं ? है जुदा तो जुदा मान लो, इसमें कौन सी कठिनाई पड़ती है? अब जरा भीतर की बात परख लो कि यह मैं आत्मा जो दुःखी होता, सुखी होता, विकल्प करता है, समझने की चेष्टा करता। यह आत्मा है ना सबसे न्यारा। यदि न समझ में आए यह बात तो फिर धर्म के लिए और काम छोड़ दो, पहिले यह निर्णय कर लो। यह बताओ कि मैं सबसे न्यारा हूँ कि नहीं ?

भैया! इस निर्णय बिना तो धर्मका पालन ही नहीं होगा। अपने आपकी ठीक ठीक समझ बना लो। यह काम सबसे बड़ा है और यह बात स्वाधीन है। जरा विकल्प छोड़ करके सच्चा विश्राम लेकर देखो कि तुरन्त समझमें आ जाता है यदि कोई ज्ञानी ज्ञानका निषेध भी करे तो भी ज्ञान ही तो यह है, जो निषेध करेगा। इस ज्ञान से इस ज्ञान को इस ज्ञानके अन्दर ले जायें और देखें कि इस ज्ञानका स्वरूप है क्या? जिस ज्ञानके द्वारा हम सारी दुनियाको जाना करते हैं वह ज्ञान खुद कैसा है? मैं ज्ञानके स्वरूपको देखनेमें लग जाऊं तो सब ओरके विकल्प हट जावेंगे क्योंकि हम ज्ञानस्वरूप ही ज्ञानके स्वरूपको देखने में चल उठें और कुछ विशेष अन्तरमें पहुँच करके देखें तो शरीरकी सूरत भी भूल जायगी। शरीर है या नहीं है, यह भी भान न रहेगा। वहाँ केवल ज्ञानज्योति, ज्ञानस्वरूप ज्ञानतत्त्व ही अनुभवमें आयेगा। यह ज्ञानघन पदार्थ देखो जुदा है, सबसे या नहीं, इसका ठीक निर्णय कर लो। समझमें आवे कि जुदा है तो बस ऐसा मान लो। यही धर्मका पालन है और समझमें न आवे कि जुदा है तो अच्छी तरह से पहिले इसी तरहके निर्णयमें लग जावो। अगर जुदा नहीं है तो ऐसा ही मानते रहो। जैसा है तैसा मान लो। यद्यपि आत्मा जुदा है ऐसा ज्ञान होनेपर भी गृहस्थी में जुदी-जुदी व्यवस्थायोंमें भी यह ज्ञानी लग जाता है तो भी आत्मा जुदा है यह उसकी आत्माकी प्रेरणा अन्तरमें रहा करती है यह सब तो लोकव्यवस्थाके लिए है। सबका जुदा जुदा परिवार है और यह उठकर उसी परिवारमें जायेगा, बात भी करेगा, उसी दुकानमें जायेगा। यह सब व्यवस्था है। जैसे व्यवस्था का काम ठीक चले तो सब लोगोंने मिलकर व्यवस्था बना ली कि ये इतने लोगोंकी व्यवस्था कर लें, ये इतने लोगोंकी। यह बात परिवारके रूपमें दी गई, सो सब जुदा जुदा कर रहे हैं। सब काममें व्यस्त हो रहे हैं। केवल लोकव्यवहारमें उच्छृंखलता न आ जावे इसके लिए व्यवस्था बना रखी है, इस व्यवस्थामें ज्ञानी भी पड़ रहे हैं। लेकिन प्रतीतिमें यह रहता है कि मैं तो अपनेमें आ रहा हूँ, अपनेको सबसे निराला, चैतन्यमात्र एक पदार्थ जिसका कुछ आकार प्रकार नहीं है, यह मैं एक चैतन्य वस्तु हूँ। इसके सिवाय अन्य किसी पदार्थमें इसका रंच भी सम्बन्ध नहीं है, ऐसा देखना बस यही मंगल है। पापके कामसे पाप नहीं कटेगा और पापके कामसे सुख नहीं मिलेगा। करोड़ोंका धन मिल जाय तो उससे सुख नहीं मिलेगा। कितना ही वैभव बसा लें, शांति नहीं मिलेगी। अगर बाह्य पदार्थों में शांति होती तो तीर्थकर चक्रवर्ती जैसे महापुरुषोंको लोकवैभवमें शांति क्यों न मिल जाती? उन्हें ज्ञान जगा तब वे लोक का मोह छोड़कर अपने एकत्वस्वरूप में युक्त हो गये।

देखो मंगल पाठ पढ़ते हैं तब अरहंत सिद्ध साधुको मंगल कहकर, फिर अपने एकत्वको मंगल कहकर विश्राम पाते हैं। चार मंगल हैं ना, अरहंत भगवान मंगल हैं, चार घातियाकर्मों से रहित, मोहसे अत्यंत परे परम पवित्र ज्योति आत्मा अरहंत भगवान् हैं जिसके स्वरूप के स्मरण से भव भव के पाप कट जाते हैं, वह अरहन्त मंगल है। जिसके स्वरूप के स्मरण करने व अपने स्वरूपका ज्ञान करनेसे और वर्तमानमें जो कुगति हो रही है उसको मददे नजर रखनेसे, जो आनन्दसे मिला हुआ पछतावा होता है उसमें जो आँसू बहता है उससे मानो भक्तके कितने ही पाप कट जाते हैं, पापकर्म धुल जाते हैं बहुत शुद्ध चित्त होकर ध्यान तो बनाओ कि आसमानमें यहाँ से ५ हजार धनुष ऊपर, मायने २० हजार हाथ ऊपर एक

प्रभु विराजमान हैं जिनकी पूर्ण महिमा के कारण स्वर्गके देवता लोगोंने आकर एक बड़ा मण्डप बनाया है जिसके आगे जंगल में कोई ज्ञानीका वैभव नहीं हो सकता है। दस बारह कोस में चौबीस कोस में एक मण्डप बना हुआ है जिसमें कई गोलोंमें कितने ही सुन्दर कोट, खातिका, बाटिका, चैत्यालय आदि रचे हैं, बीचमें प्रभुका दरबार है, स्फटिक भित्तिकाओंसे घिरी 92 सभायें हैं, इसे समवशरण कहते हैं।

समवशरणका अर्थ है जीवोंको अच्छा पूरा शरण मिले। इसके नीचे कितने ही सोपान लगे हुए हैं। बहुतसे पर्वत जहां नीचे आ गए हैं उस मंडपकी ओर, जिसमें कहते हैं कि समवशरण अच्छी तरहसे पूरा है जहां शरण मिलता है। ऐसे समवशरण की ओर देवता तथा मनुष्य लोग मनमें पुलकित होकर धर्म साधनों में उनके उपदेशको सुनते जा रहे हैं। देखो ना, आनन्दमें नाना प्रकारके गुणानुवाद करते हुए नृत्य कलामें साथ चले आ रहे हैं। ये देवांगना व देवता लोग हर्षित हो रहे हैं और प्रभुके गुणानुवादोंके पीछे अपने परिवारको भूल गए हैं। देखो भैया, यहां ही जब आप किसी त्यागी का आदर करते हैं तो पहले अपने त्यागीको ही अपना मानते हैं, पहले त्यागीको खिलाते हैं, चाहे बच्चे भूखे पड़े रहे हैं, फिर यहां तो तीन लोकके नाथकी बात कही जा रही है। अपने प्रभुके पीछे अपने परिवारको त्यागकर चले जा रहे हैं। उन्होंने अपने परिवार को भूलकर उस प्रभुको कितना अधिक माना होगा? उनका विश्वास है कि मेरा शरण प्रभु है। मेरे समस्त संकटोंको टालने वाला मेरा प्रभु है कितने ही प्रकार के गीतवादित्रोंके दिव्य शब्द होते चले आ रहे हैं। धन्य है उन परम आत्माओंको जिनके विकासके कारण दुनियाके लोग एकचित्त होकर, आकर्षित होकर जिनका चरणसेवन प्राप्त कर रहे हैं। यही अरहंत भगवान् मंगल हैं। फिर कहते हैं कि सिद्ध भगवान् मंगल हैं जो इस शरीरके झंझटसे सदाके लिए मुक्त होकर ज्ञानानन्द स्वरूपमें विराज रहे हैं। ऐसा सिद्ध प्रभु वही मेरा सब कुछ है।

ममताके साधनभूत परिवारके बच्चे भी कुछ कहने आवें तो भी भक्तिके समय तो विशेषतया ही ज्ञानीके भाव रहता है कि मेरे को किसी कार्यसे प्रयोजन नहीं है। जगत्के बड़ेबड़े वाह्यपदार्थों से या सबसे उत्कृष्ट तो यह प्रभु हमारा है, जो समस्त राग, द्वेष, मोह भावोंसे रहित और इस शरीरसे रहित, ज्ञानानन्दस्वरूप विराजमान है। वह प्रभु इसके लिए मंगल है। वह साधु जिसको केवल अपने शुद्ध स्वरूपके अनुभवका ही काम है, केवल अपने शुद्ध स्वरूपमें ही जिनकी रुचि है, इसी कारणसे जिनके शरीरपर एक धागा भी नहीं है, न वस्त्रोंकी रुचि है, न सांसारिक कार्यों की रुचि है, जिनके वैराग्य मुद्राके दर्शन करने मात्रसे उसके आत्मरसका भी अनुमान हो जाता है। शरीरका साधन समझकर यदि शरीरके लिए आवश्यक समझा विवेकने तो यह विवेक दिनमें एक बार विधि मिली तो आहार करा देता है जिनको भोजनसे भी रुचि नहीं है, जो अपने स्वरूपके अनुभव के यत्नमें रहते हैं अन्य कुछ झंझट नहीं रखते हैं, ऐसे वे ज्ञानानन्दधन साधु परमेष्ठी हैं। ऐसे साधुओंके दर्शनसे भव भवके पाप कट जाते हैं। अरहंत सिद्ध इस आत्माका मंगल बनकर अपने केवल स्वरूपमें परिणमता रहे। केवल भगवान् स्वरूपकी ओर दृष्टि होना यह धर्म है। सो धर्म ही मंगल है। इस आत्माका सहज शुद्ध जो स्वरूप है उसको लक्ष्यमें लेना यह धर्म बतलाया है। अन्तमें देखो वह धर्म ही मंगल कहा है। देखो जिसकी दृष्टि, जिसका विचार, जिसका उपयोग अपने काममें

अधिक रहता है उसको बड़े बड़े पुरुष भी आदरसे देखते हैं। इस ही धर्म मंगल के प्रसादसे साधु अरहन्त सिद्ध भगवान् बने हैं। यह निजधर्म हमारा मंगल है। इसका हम केवल भावका विचार करेंगे। यह हमको मिलता है इससे सबका काम बन सकता है, यह भी मालूम होता है। दूसरी बारमें शुद्धि के उपकारमें, आनन्दमें, अपने आपके धर्मसे धर्मका काम हो सकता है। उसके समान आनन्द में किसी का उपयोग अपने द्वारा कुछ नहीं हो सकता है। केवल भगवान् की ओर अपना उपयोग करनेसे धर्म मंगल हो सकता है। इसी प्रकारसे यह चार उत्तम हैं और ये चार शरण हैं। देखो इन चारों में पहिले हितकारी अरहन्त का ध्यान किया है जिनके कारण सिद्ध का भी ज्ञान हुआ। बाद में सुगमप्राप्त उपकारी साधुका ध्यान भी किया है। अन्तमें पूर्ण सार शरण कहा है। केवली भगवान् के द्वारा कहा गया धर्म ही शरण है। केवल भगवान् ने इतना कहा है। क्या कहा है? इतनी बात जो हम भूल गए थे, इसका ही प्रभुने बोध कराया है। ऐसा केवल अपने स्वरूप सत्तामात्र चैतन्यमयकी दृष्टिमें अनुभवो तो यह एक ऐसी दृढ़ कला है कि ऐसा भी उपद्रव आ जाय कि जिससे तीन लोकके जीव अपना रास्ता छोड़कर कहीं भी हटकर घूमने लगें, बिछुड़ने लगें, डरने लगें, किन्तु यह ज्ञानी पुरुष अपने पंथसे विचलित न होगा, जो अपने स्वरूपरक्षाके किलेमें आराम कर रहा है। जैसे माना कि जीव पानीसे ऊपर मुंह उठाकर चलते रहते हैं और जरासा भी उपद्रव उनके सामने आवे तो वे पानीमें डूब जाते हैं। सारे उपद्रव तो शान्त हो गए।

इसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी कभी अपने ज्ञानसे बाहरी ऊपरी पदार्थों की ओर जब मुंह करता है और वहां आकुलता तो होती ही है तो तब झट ही बाहरी पदार्थों से मुख मोड़कर अपने उपयोगको अपने ही ज्ञान में डुबा दे तो सारे उपद्रव खत्म हो जाते हैं। पर ऐसा कर सकने वाले विरले ही ज्ञानी होते हैं। जगत् के ये बाहरी पदार्थ जहां अज्ञानी आनन्द मानता है उसको ज्ञानका पता भी नहीं। इसी कारण ज्ञानियोंमें रहने वाले, ज्ञानियोंके संगमें ही बसने वाले शीघ्र आत्मानुभव करनेके योग्य हो जाते हैं। बस जिन्होंने अपने आपके अन्तर्मर्मका पता लगा लिया वे पुरुष उपास्य हैं। हम उनके गुणानुवादमें अधिक अनुरागी रहें। हमें जीभ मिली है तो इस जिह्वाका अधिक उपयोग कर लें। जिह्वा के द्वारा गुणी पुरुषोंके गुणानुवादोंसे अपनेको गुण लाभ मिलता है। जिह्वा मिली है तो हमें कल्याणके लिए। हमें विनाशीक इस जिह्वाका संयोग मिला है तो गुणी पुरुषोंका वैयावृत्य कर लो। सर्वव्यवहार धर्मका प्रयोजन आत्मधर्मका पालन है। आत्मस्वभाव व वस्तुस्वभावका दर्शन करना ही धर्मका पालन है। वस्तु स्वभावके जाननेका सुन्दर उपाय स्याद्वादकी विधि है कि भाई अपने आपको पहिचानो, सब वस्तुओंको यथार्थरूपमें पहिचानो देखो जितनी वस्तुएं हुआ करती हैं वे अपने अपने उत्पाद व्यय ध्रौव्यमें ही रहती हैं। वे सब केवल अपने आप सत्ता लिए हुए हैं। वे सब अनादिसे हैं और अनन्त काल तक हैं और वे अपने आप ही अपने स्वरूपमें परिणमते रहते हैं। अपने ही परिणामसे अपने लिए उत्पाद करते हैं और अपनेमें अपने लिए अपने आप अपनी पूर्व पर्याय का व्यय करते हैं। प्रत्येक पदार्थ अपनेमें अपने लिए अपने आप विकसित विलीन होते हैं। फिर भी प्रत्येक पदार्थ अपने आप अपने लिए अपनेमें अपना सत्व बनाए रहते हैं। यही पदार्थों का स्वरूप है।

हे आत्मन्! हम सब भी एक पदार्थ हैं। अपने आप बनते हैं। इन पदार्थों का अन्य किसी पदार्थों से रच भी सम्बन्ध नहीं है। सम्बन्ध नहीं है तब श्रद्धामें पूरे तौरसे सबसे न्यारा अपनेको समझो। सत्य श्रद्धा नहीं पकड़ी तो संसारमें रुलना पड़ेगा।

हे आत्मन्! तू पवित्र है। अपनी प्रभुता को देख, इस ही प्रभुके प्रभुत्वकी भक्ति से तू पाप काटेगा व सुख पावेगा। यह मंगल है, यही उत्तम है, यही शरण है, यही रक्षक है, यही महान् कला है। यह ही अपने आप और स्वयं ही ज्ञानानन्दमय अपने आपको संसारके सर्वक्लेशोंसे मुक्त करनेका उपाय है।

स्वैकत्वमौषधं सर्वक्लेशनाशनदक्षकम्।

चिंतामणिस्तदेवास्मिन् स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥१-५१॥

अर्थ— स्व का एकपन सर्व क्लेशोंके नाश करनेमें दक्ष औषध है व स्वैकत्व ही चिंतामणि है इस लिये स्वके एकपन स्वरूप इस निज आत्मामें मैं अपनेमें अपनेलिये स्वयं सुखी होऊँ।

जीवका शरीरसे घनिष्ठ सम्बन्ध है और शरीरमें जब-जब रोग होते हैं तब तब इस जीवको दुःखी भी होना पड़ता है। पर इस रोगका मूल कारण क्या है और इस रोगके मिटने का मूल उपाय क्या है? इस बातमें मोही जीवकी दृष्टि नहीं जाती। यह शरीर मिला है तो जैसे गति नामकर्मका उदय हुआ शरीर नामकर्म संघात, आपद नामकर्मका उदय हुआ, उस उसके अनुसार जीवको शरीर मिला करता है और वह नामकर्म कैसे मिलता है? जैसे जैसे जीवके परिणाम होते हैं वैसे वैसे कर्मों के बन्धन होते हैं, शरीरमें रोग होते हैं, व्याधियां होती हैं, मृत्यु होती है, शरीर सड़ता गलता है, खोटा शरीर मिलता है, इन सबका कारण आत्माका परिणाम है। इन सब विपदाओंका मूल कारण क्या है? इसके अन्तरमें कारण खोजो तो खोटा आत्मपरिणाम उनका कारण मिलेगा। जो जो गुजरते हैं उन सबका कारण आत्माका परिणाम है। जैसा परिणाम किया वैसा कर्मबन्धन हुआ। तैसी सामने स्थिति आ गयी। इस शरीर में विपदायें, विपत्तियां कैसे मिटें? इसका कारण सोचें तो वह भी आत्माका परिणाम है। अर्थात् जो उपयोग जिन आत्माके सहज, शुद्ध चैतन्यतत्त्वको पहचानता है, वहां ही रमता है, उसको ही आत्मा अंगीकार करता है। वह परिणाम तो सर्वक्लेशों, व्याधियोंके नाश करनेकेलिए औषधि रूप परिणाम है। सब क्लेशोंको नष्ट करनेका शुद्ध परिणाम ही उपाय है। जो अपने आपके यथार्थस्वरूपको छोड़कर अन्य किसी जगहमें लगते हैं तो विपत्तियां आती हैं, संकल्प होंगे, विकल्प होंगे, क्लेश होंगे। जगत्के सब कोई पदार्थ मेरे नहीं हैं, सब न्यारे-न्यारे हैं, एकका दूसरेसे त्रिकालमें कुछ सम्बन्ध नहीं होता। चाहे जितना वैभव हो, चाहे जितना पुण्यवान् हो, उन्हें अपना स्वरूप ही उनको मिलेगा। इसके अतिरिक्त परमाणुमात्र भी नहीं है। जो अपना नहीं है उसको अपना मान लेना उसको अध्यात्मलोकमें चोर कहते हैं। कैसे चोर कहते हैं? देखो यहां भी जो दूसरोंकी चीजोंको उठा लें, अपने घरमें रखलें और मनमें यह धारणा बना लें कि यह चीज मेरी हो गई। यह धारणा जिसने बना लिया तो वही चोर है। इसी प्रकार जगत्के ये सब पदार्थ अपनी अपनी सत्ताके हैं। एक दूसरेसे परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं। जो भिन्न चीजें हैं, जिनसे त्रिकालमें हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है, जो अपने में ही अपना उत्पाद करता है, अपनेमें ही अपनेको बिगाड़ता है और अपने स्वरूपमें

बैना रहता है। त्रिकालमें उनका अपना यही काम है। किसीका किसीसे रंच-सम्बन्ध नहीं। फिर भी उनमें यह धारणा करना कि यह मेरा है। यही तो परमार्थकी चोरी है। यह भगवान् आत्मा तो शुद्ध स्वरूप है। यह भगवान् स्वरूप आत्मा अपने स्वरूप को भूलकर बाहरी पदार्थों में आपा अंगीकार करता है। यह मेरा है, यह उसका है आदि। यही चोरी होती है। हमारा है नहीं पर माने हैं कि हमारी चीज है। जो चोरी करते हैं वह गिरफ्तार किए जाते हैं, उनको सजा होती है यही हमारी बात है। हम परमार्थकी चोरी करते हैं। कर्म हमारे गिरफ्तार कर लेते हैं। यह हमारी सजा उस सजासे अधिक है। नाना प्रकारके शरीर धारण करना, जन्म मरण के चक्र में आना आदि यह भी जो विपदायें हैं, घर बार, स्त्री बच्चे वगैरह इस आत्माको वह सत्य नजर आ रहे हैं, ज्ञान को दबा रहे हैं, सच्चाईको नहीं सोच सकते हैं। ऐसी विपदायें देखो पर में आपा माननेसे ही पैदा कर लेते हैं। जैसे यह मेरा है, वह मेरा है आदि प्रकारसे सोचा तो तभी उन्हें आकुलता हो जाती है। क्यों ऐसा होता है वे अपनी दृष्टि बाहर लगाते हैं, जो जैसे हैं उन्हें वैसा नहीं मानते। जो जैसा हो वैसा मानना ही आकुलताओंको दूर करनेमें समर्थ है। अपने शुद्धस्वरूपका परिज्ञानकर लेना, यह सब विपदाओंको नष्ट करनेमें समर्थ है। दूसरा और कोई इन विपदाओंको नष्ट करनेमें समर्थ नहीं है। कहीं बाहर दृष्टि न जावे। धर्मके प्रसंगमें, वेशभूषामें, मजहबों में, क्रिया पद्धतियोंमें इन सबमें दृष्टि न डालो। केवल अपने अन्तरमें दृष्टि डालो, अपनेको केवल ज्योतिमात्र समझो अपने आत्माके प्रकट रूपमें दर्शन करो। इसीमें अपने प्रभुका दर्शन प्राप्त होगा। दूसरा उपाय नहीं है कि विपदायें दूर हो सकें। एक यही अनुभवका उपाय है जो सब आपदाओं, विपदाओंको समाप्त कर देता है। जैसे बच्चे लोग एक कथानक कहते हैं कि किसी जंगलमें स्यार, स्यारनी थे। स्यारनीको गर्भ था, प्रसवका समय था। स्यारने स्यारनीसे शेरके बिलमें प्रसव वेदनाको समाप्त करनेके लिए कहा। बच्चे हो गए। स्यारनी को विधि समझा दी। स्यार ऊपर चट्टानपर बैठ गया। स्यारनी ने अपने बच्चोंको समझा दिया कि जब कोई आवे तो रोने लगना। एक शेर आया। बच्चे रोने लगे। स्यारने स्यारनी से पूछा — बच्चे क्यों रोते हैं? स्यारनीने कहा कि बच्चे भूखे हैं, शेरको खाना चाहते हैं। शेर डरकर वहां से भाग गया। इस इस तरह से १०-२० शेर आए जो सब भी डरकर भाग गए। तब शेरोंने मिलकर एक मीटिंग की। सबने सोचा कि चट्टानमें ऊपर जो बैठा है उसकी सब करतूत हैं सब शेरों ने हिम्मत की और उस स्यारके पास पहुंचे अब सब यह सोचते हैं कि इसके पास कैसे पहुंचा जाय? सोचा कि एकके ऊपर एक खड़े हो जावें। उन सबमें से एक लंगड़ा शेर था। सलाह हुई कि यह ऊपर चढ़ तो सकेगा नहीं सो इसको नीचे ही खड़ा करो। लंगड़ा शेर नीचे खड़ा होता है और एकके बाद दूसरा, तीसरा, चौथा खड़ा होता चला जाता है। इतनेमें ही स्यारनीके बच्चे रोने लगते हैं। स्यार स्यारनीसे पूछता है कि बच्चे क्यों रो रहे हैं? स्यारनीने कहा कि बच्चे लंगड़े शेरका मांस खाना चाहते हैं। लंगड़ा शेर इतना सुनकर घबड़ा गया। वह एकदमसे भागा। दूसरे शेर जो ऊपर चढ़ गए थे, भद्भद् गिरने लगे और सब भाग गए।

इसी प्रकार हम सब पर अनेकों विपत्तियां छाई हैं। जितने जगत्के क्लेश हैं वे सब परमें आपा माने हैं, इस बुनियादपर खड़े हैं। ये सारे क्लेश, सारी विपदायें यों ही खत्म हो जायें यदि परमें ममत्वबुद्धि

सुख यहाँ प्रथम भाग

जो है वह खिसक जाय। अच्छा परीक्षा ही करके देख लो। जैसे कहते हैं कि यह मेरा घर है। बताओ आपके पास क्या निर्णय है कि आपका ही घर है। आपका शरीर भी नहीं है। विषय कषाय, विकल्पोंका परिणाम तक भी आपका नहीं है। केवल मैं अपने स्वरूपको भूल गया हूँ, इसलिए सारे झंझट लग गए हैं अब इस आत्मा की दृष्टि करने से शुद्ध स्वरूप की पहिचान करो। समस्त क्लेश इस आत्मस्वरूपकी दृष्टि से नष्ट हो जाते हैं। सब क्लेशोंके नष्ट करनेकी सामर्थ्य इस आत्मदृष्टिमें ही है। देखो अंतरंग में तपस्या करके जो निर्मल परिणाम होते हैं जिनसे घातिया कर्म नष्ट हो जाते हैं तो अरहन्त अवस्था मानी जाती है। अरहन्त अवस्था आते ही उनका औदारिक शरीर परमौदारिक शरीर हो जाता है। घातिया कर्मके क्षयसे पहिले कोई साधु रोगी हो, कोई जर्जरित हो गया हो, वृद्ध हो, कैसा ही हो अरहन्त होनेपर सारा शरीर निरोगपूर्ण, दैदीप्यमान हो जाता है। इस शरीरमें कितने ही परिणमन आते हैं परन्तु वीतराग सर्वज्ञ अवस्थामें जब आत्मा हो जाता है तो फिर वह शरीर औदारिक न होकर परमौदारिक हो जाता है। अब भी देखो जब कोई रोग हो तब यदि भगवानकी भक्तिमें लीन होता है, शुद्ध निर्मल परिणाम होता है तब देखो रोग भी दूर हो जाते हैं। इसी कारण जो रोगी बुद्धिमान् होता है, पड़ेपड़े निरन्तर नमोकार मंत्र जप किया करता है। इन मंत्रोंमें इतनी विशाल महिमा है कि संसारके क्लेश दूर हो जाना तो सरल बात है, भव भवके बन्धन भी नष्ट हो जाते हैं, क्लेश और झंझट भी समाप्त हो जाते हैं। ऐसी आत्मायें शुद्ध होती हैं।

दो प्रकारके पवित्र आत्मा हैं, एक तो जो आत्मा शुद्ध हैं वे हैं और दूसरे वे हैं जो शुद्ध होनेके प्रभावमें सफल हो रहे हैं। जो शुद्ध हैं वे हैं अरहन्त व जो शुद्ध होनेके प्रयत्नमें सफलता पा रहे हैं वे हैं आचार्य, उपाध्याय और साधु कहते किन्हीं हैं जिनको अपने यथार्थस्वरूपका विश्वास हो गया है, जो अपने आत्माके केवलज्ञानस्वरूप को शुद्ध निरखते हैं। ये आत्मा किन्हीं रोगोंसे सम्बन्धित नहीं हैं, ज्ञानस्वरूप है। ऐसा जो आत्मचिन्तन में दृढ़ हो जाता है, ऐसा जो अपनेको देखनेके लिए बड़ा उत्कृष्ट लालायित हो जाता है, उसे दूसरी चीज जगतमें नहीं रुचती है, उसका परिवार छूट जाता है। आहार परिग्रह छूट जाते हैं, यह शरीर नहीं छूट पाता है। यदि शरीर भी छोड़ा जा सकता तो वह शरीरको छोड़कर बाहर ही आत्माकी उपासना करता। वे तो आहार भी नहीं करते, किन्तु विवेक आहार करवा लेता है। यह शरीर धर्म साधनके लिए है। शरीर की स्थितिके लिए आहार आवश्यक है सो दिनमें एक बार ही वे आहारकी एषणा करते हैं एक बारसे ही यह शरीर टिका रहता है। एक बार जो आहार कर ले और बाकी समय तपस्यामें व्यतीत करे, निरन्तर आत्मसाधनमें लगा रहे, ऐसी आत्माको साधु पुरुष कहते हैं। उनमें जो ज्ञानी साधु हैं, औरोंको पढ़ाते हैं जिनको आचार्य उपाध्याय घोषित कर देते हैं वे ज्ञानी साधु उपाध्याय कहलाते हैं। जो बड़े बड़े ज्ञायक हैं, साधुवोंमें प्रमुख हैं, जिनकी आराधना में साधु रहते हैं वह आचार्य कहलाते हैं।

देखो यह आत्मा ही परमेष्ठिका स्वरूप है। आत्माही मोक्षका मार्ग है इस निज आत्मतत्त्वको, परमेष्ठित्व को निरखकर अपनी दृढ़ आत्मसाधना द्वारा अपना आत्मकल्याण कर लेना महान् विवेक व पुरुषार्थ है।

वह आत्मा जिनके ज्ञान दर्शन चारित्र्य श्रद्धा पूर्ण विकासको प्राप्त हो गए हैं जिसके ज्ञानमें सर्वविश्वके सकल ज्ञेयतत्त्व प्रतिभास होते हैं, ज्ञात हो रहे हैं, वे हैं सिद्धात्मा। ये प्रभु सर्वज्ञ होकर भी अपने आनन्दरसमयी हो रहे हैं ऐसा परमानन्दका जो पिंड है उसीको परमात्मा कहते हैं। भगवान्‌के दर्शन करना है तो अपने स्वरूपमें दृष्टि दो। बाहरी चीजोंमें न अपनेका पता चलेगा और न अपने भगवान्‌का पता चलेगा। यह इन्द्रियां इनको आत्माका घात करने वाला कहा गया है। जब यह जीव इन्द्रियों के घात करनेमें लगा रहता है तो यह करने वाला कहा गया है। जब यह जीव इन्द्रियों के घात करनेमें लगा रहता है तो यह बरबाद हो जाता है। मुझे केवल ज्ञानदृष्टिसे काम लेना है। मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानका ही कार्य करता हूँ और इसके अतिरिक्त कुछ नहीं करता, मैं अपने आपकी दृष्टिमें रहूँ, ऐसे उपयोगमें जो आनन्द होगा उस आनन्दमें वह शक्ति है जिसके कारण भव-भवके संचित कर्म भी ध्वस्त हो जाते हैं। बाकी तपस्यायें जो की जाती हैं वे इन्द्रियों को कन्द्रोलमें लानेके लिए की जाती हैं। इन बाहरी चीजोंसे कर्म नहीं कटते, पर आत्मदृष्टिमें जो सन्तोष होता है उससे कर्म कट जाते हैं। हम इस संसारमें अनन्तकालसे भटकते चले आए। उन अनन्त पर्यायोंमें कितनी इच्छायें की होंगी कर्मोंके प्रसंगमें, किंतु उन चेष्टाओंसे कुछ नहीं हुआ। जब धर्मका संयोग होता है। ऐसेमें भी यदि हमारी दृष्टि बाहर रमी, बाहर ही हम उलझे रहे, हम केवल अपने आपको न पहिचान सके तो यह सब बाहरी बातें मिट जायेंगी, हम कोरेके कोरे रह जावेंगे।

एक सेठ था। उसकी राजासे बड़ी मित्रता थी। कुछ दिन बादमें वह सेठ गरीब हो गया। कुछ नहीं उसके पास रहा। एक दिन बोला— राजन्! कुछ निधिका संयोग हो तो पुनः व्यापार करूं। राजाने कहा— २ बजेसे ४ बजे तकका समय देता हूँ। रत्नोंके खजानेमें जाकर जितना तुमसे हो सके रत्न ले आओ। सेठ रत्नोंके खजाने में चला गया। ज्यों ही वह खजानेके अन्दर पहुंचा वहां एक भारी महल था, हाल था। वहां देखता है कि यहां बहुत सुन्दर सुन्दर खिलौने भी हैं, बड़े कलायुक्त खिलौने हैं, चलते फिरते खिलौने हैं। खिलौने देखना शुरू किया। खिलौनोंमें ही उसका मन रम गया। इतनेमें ही चार बज गए। चपरासी ने निकाल दिया। वह फिर राजाके पास आया। बोला— महाराज मैं तो खिलौनोंमें ही रह गया। मैं कुछ नहीं कर सका। राजाने कहा— कल २ बजेसे ४ बजे तककी इजाजत मैं तुम्हें स्वर्णके खजाने में जानेको देता हूँ। बस सेठ उस स्वर्णके खजानेमें गया। वहां पर भारी मैदान था। वहां उसने सुन्दर सुन्दर घोड़े देखे। वह घोड़ोंका बड़ा शौकीन था। यह घोड़ा देखा, वह घोड़ा देखा, एक घोड़ेपर बैठ गया। चपरासीने जब चार बज गए तो खजानेसे बाहर निकाल दिया। वह सेठ राजाके पास गया। बोला— महाराज, यह भी समय मेरा यों ही गया। मैं घोड़ोंमें ही पड़ा रहा। राजाने कहा— कल २ बजेसे ४ बजे तकका समय देता हूँ। तुम चांदी के खजाने में जाना। जितनी चांदी ला सको ले आना। वह सेठ चांदीके खजानेमें गया। वहांपर उसने सुन्दर सुन्दर चित्र देखे। नाना रूपके, भिन्न-भिन्न प्रकारके चित्र देखे। उन वाद्यचित्रोंको देखनेमें ही उसका मन रम गया। इस तरहसे ४ बज गये। चपरासीने खजानेसे बाहर निकाल दिया। सेठ फिर राजाके पास गया। बोला— राजन्, आजका भी दिन व्यर्थ ही गया। राजा बोले कि ३ दिन हो गए, तुम नहीं चेतें, अच्छा तुम्हें एक दिनका समय और दिया जाता है। एक तांबेके खजाने

में कल जाना। जितना तांबा ला सको ले आना। चौथेदिन जब सेठ खजानेमें गया तो वहां पर एक बहुत ही अच्छा स्प्रिगदार पलंग था। पलंगकी परीक्षाके लिए वह उसी पलंगपर लेट गया। नींद आ गई। इस तरहसे ४ बज गए। तब चपरासीने निकाल दिया। इसी तरह भाई इस मनुष्य पर्यायके चार पन होते हैं। बच्चा हुआ, फिर बालक हुआ, फिर युवा हुआ, फिर वृद्धावस्था हुई। कुमारावस्थामें भी धर्मपालन करना आवश्यक है। ८ वर्षका बालक भी अरहन्त हो सकता है। बालिग जैनोके सिद्धान्त में ८ वर्षका माना गया है। आठ वर्षकी आयुमें तो सम्यग्ज्ञान सम्यक्त्व व संयम करता है, परमात्मा हो सकता है। कुमार अवस्था में भी धर्म साधना नहीं किया, खेलोंमें ही समय बीत गया। युवावस्था का समय भी स्त्रीप्रेममें व्यतीत हो गया, वृद्धावस्थामें पड़े-पड़े अधमरे से हो गए। बताओ किस पनेको इसने सार्थक किया? देखो छहढाला एक बहुत सुन्दर पुस्तक है। वह तो प्रत्येक गृहस्थको कंठस्थ भी होनी चाहिए। उसमें पहली ढालमें चारों गतियोंके दुःख बताते हुए मनुष्यगति में वर्णन किया है कि -

बालपनेमें ज्ञान न लझे। तरुण समय तरुणीरत रहो।।

अर्धमृतकसम बुढ़ापनो। कैसे रूप लखै आपनो।।

बचपनमें तो ज्ञान नहीं किया, जवानीमें स्त्रीरत रहा, बुढ़ापा अर्धमृतकसम है, बताओ अपना रूप कैसे लख सकता है? भाई कुछ लोग ऐसा सोच सकते हैं कि बुढ़ापा तो आता ही है, सब कुछ कर लें, बुढ़ापा तो आयेगा और बुढ़ापेमें सब खराबी होगी तो किस लिए धर्म पुरुषार्थ करें। इसका समाधान यह है कि जिस जीवने बचपनमें ज्ञान नहीं किया व उसी जीवने संयम न कर विषयरति की, ज्ञान नहीं किया तो युवावस्था के बादमें यह जीव बूढ़ा हो जाता है, अधमरा हो जाता है तो वह कुछ नहीं कर पाता है। जहां धर्मकी ओर दृष्टि रहे ऐसा पुरुष बूढ़ा है तो क्या हानि है? आत्मस्वरूपकी ओर तो दृष्टि ज्ञानी ही डाल सकता है। बड़ी अवस्थामें तो उन ज्ञानियोंका ज्ञान ही मंज जाता है, उनको हानि नहीं होती है। ज्ञानी तो वह है जिसकी आत्माके स्वरूपकी ओर दृष्टि रहे, वही ज्ञान वास्तविक है। बड़े बड़े रेडियोका आविष्कार, वैज्ञानिक कलायें आ जावें तो यह वास्तविक ज्ञान नहीं है। मैं आत्मा ज्ञानस्वरूप हूँ, यदि ऐसा अनुभव नहीं है तो जगत्में रंच भी शांति नहीं हो सकती है। यदि मैं बाहरी पदार्थों में दृष्टि कर लूं, उनको ही अपना मान लूं तो क्या बाहरी पदार्थों में कुछ अधिकार पाना अपने बसकी बात है। अरे इन बाहरी पदार्थों का प्रवेश भी इस आत्मामें नहीं है। पर जिन्होंने विकल्प बनाया है उन विकल्पोंके यों ही भ्रमसे परको अपना मान लिया है। इसका फल यह होता है कि वे कर्मबन्धनोंमें बंध जाते हैं। ऐसा एक निर्णय करो कि मैं आत्मा ज्ञानघन हूँ, मेरेसे ही मेरा काम पूरा पड़ेगा। यहांके चकाचौंध चार दिनके हैं, मिट जावेंगे। यहां कुछ नहीं रहेगा, मैं एक सत् सार वस्तु हूँ, मैं रहूंगा, अनादिसे हूँ और अनन्त काल तक रहूंगा। अब हमें क्या करना चाहिए जो हमें क्लेश न हों। मैं अमुक जातिका हूँ, कर्मके उदय हैं, मैं अमुक कुलका हूँ, अमुक मजहबका हूँ, अमुक धन वाला हूँ, इतना समझदार तथा धर्मात्मा हूँ—ये सब विकल्प ही विपदायें हैं। ये बाधाएँ वह अपने आपमें डाल रहे हैं। इन सब बातोंसे दूर रहना चाहिए। अरे तू तो निर्विकल्प है। तेरे में विषय कषाय ही नहीं है। तू तो ज्ञानसे रचा हुआ है। इसके

अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यही दृष्टि धर्मका पालन है, यही कल्याणका उपाय है। यह अगर कर लिया तो सब कुछ कर लिया और अगर नहीं कर पाया। यदि ऐसा नहीं कर पाया तो उद्धार नहीं होगा। दिखाकर नहीं, बनाकर नहीं, गुप्त ही रहकर तू अपना कल्याण कर सकता है। बनावट, सजावट, दिखावट इत्यादि करता है। गुप्त होकर आत्मरूपकी देखनेकी कोशिश नहीं करता है। बननेसे धर्मकी बात कैसे होती है? दिखानेसे धर्म हमारा खत्म होता है, सजानेसे धर्म हमारा नहीं रहता है। सो अपने आत्मस्वरूपको अपना लो और मनन करलो। इसमें ही रमनेसे तुम्हारा कल्याण हो सकता है अन्यथा कल्याण कोसों दूर है। जो अपनेमें है उसे देखो और अगर न देखो तो अहंकारों से घुलमिल जावोगे। कहीं कीड़े मकौड़े हो गए तो सारी इज्जत धुल जायगी। यह क्यों धुल गयी? यह सब क्या है? परिणाम आया, सारी इज्जत धुल गयी। एक जगह एक छोटी कहानी लिखी है कि एक साधु था और एक शिष्य। दोनों एक राजाके बगीचेमें पहुँच गए। वहाँ पलंग पड़े हुए थे। एक पर संन्यासी जाकर बैठ गया और दूसरे पर शिष्य जाकर बैठ गया। संन्यासी ने शिष्य से कहा कि तुम बनना नहीं। थोड़ी देर बाद राजा घूमने आया। उन्हें देखकर राजाने सिपाहीसे पूछा कि बगीचेमें ये कौन बैठे हैं? सिपाहीने कहा महाराज दो अपरिचित व्यक्ति बैठे हैं। पता नहीं है कि कौन हैं? सिपाही शिष्य के पास जाकर कहता है कि तुम कौन हो? शिष्यने कहा कि तुम देखते नहीं हो कि हम साधु हैं। उस शिष्यको सिपाहीने कान पकड़कर बाहर निकाल दिया। सिपाही संन्यासी के पास जाकर पूछता है कि तुम कौन हो? साधु कुछ नहीं बोलता है। जब सिपाही राजाके पास गया तो बोला कि राजन् एक मनुष्य है, मौन है, वह कुछ बोलता ही नहीं है और शिष्यसे पूछा कि तुम कौन हो? उसने जवाब दिया कि देखते नहीं हो कि मैं एक साधु हूँ। सो मैंने उसे कान पकड़ कर बाहर निकाल दिया है। राजाने कहा कि जो मौन है, कुछ बोलता नहीं उसे छोड़ा तो नहीं था। अरे वह कोई संन्यासी होगा। राजाके चले जानेपर शिष्यने गुरुसे पूछा कि मैं क्यों पीटा गया? आप तो यहां बैठे हैं। गुरुने कहा कि तुम बने तो नहीं थे? शिष्य बोला कि मैं बना तो नहीं था, यही कहा था कि देखते नहीं मैं साधु हूँ। गुरु बोले यही तो बनना हुआ। अरे तू तो ज्ञानस्वरूप आत्मा है। तू अपने आप भ्रमवश मानता है कि मैं गृहस्थी हूँ, साधु हूँ।

इन् वाह्य वेशभूषाकी दृष्टि छोड़कर अपने परमार्थ स्वरूपको देखो। है तो यह ज्ञानस्वरूप आत्मा, और बनता है और कुछ। अन्तर्दृष्टि करनेपर यह अनुभव करेगा कि मैं सर्व साधारण एक चैतन्यमात्र वस्तु हूँ। जो अपने आप चैतन्यमात्र ही अनुभव करे वह न रुलेगा। निकट समयमें ही उसकी मुक्ति हो जायगी। हमें न देखना है कि मैं दयालु हूँ अथवा न देखना है कि मैं तपस्वी हूँ। मुझे अपने ज्ञानस्वरूपका सिंचन करना है। यह सिंचन ज्ञानसे होता है, ज्ञानकी उपासना की तो भी यह ज्ञान होता है कि मैं ज्ञानघन हूँ। यह दिखानेमें, बनावटमें, सजावटमें, सोचनेमें न मिलेगा। उससे कीड़े-मकौड़े बनते रहना होगा। अपने आपमें ही रमनेका प्रयास करो। इसीमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हैं। इस रत्नत्रयके एक तत्वमें आत्माके एकत्वका विकास है यह एकत्वदर्शन चिंतामणि दर्शन हैं। इसके दर्शन बिना ही शरीरके क्लेशोंका सम्बन्ध हो जाता है। यही ज्ञानमात्र स्वरूप हमारे और आपके उपयोगमें रहे। यह ही आत्माका रूप है। जिसने बाहरी पदार्थों में दृष्टि नहीं डाली उसका ही जीवनमें कल्याण है।

ज्ञायकत्वे विकारः क्व रागादेः सन्निधावपि ।

सोऽहं ज्ञायकमात्रोऽस्मि स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१५२॥

अर्थ- राग आदिकी निकटता होने पर भी ज्ञायक स्वरूपमें विकार कहां है? वह ज्ञायकमात्र मैं हूँ सो उस ज्ञायक निज आत्मामें अपनेमें अपनेलिये स्वयं सुखी होऊँ ।

इस आत्मा में राग आदि विकार व्यक्त हो रहे हैं । उन रागादिकोंके होते हुए भी आत्माका जो ज्ञायकत्व है, उस ज्ञायकत्वमें विकार नहीं है । सफेद बल्बमें जैसे हरा रंग चढ़ा देनेसे वह प्रकाश हरा मालूम होता है, खूब हरा मालूम देता है । पर क्या वह हरा होता है ? नहीं, उस पर हरा रंग चढ़ा दिया गया है । जैसे जल है । उसमें हरा रंग मिला दिया जाय तो क्या जलमें हरा आदि रंग आ जायगा ? नहीं । जल जल ही रहेगा । जैसे बिजलीका प्रकाश है उसमें बल्ब हरा, नीला, पीला आ जाय और उससे फिर हरा, नीला प्रकाश भी झलके तब भी बिजली का जो काम है, बिजली का जो निजी प्रकाश है, ज्योति है, क्या उस ज्योतिमें विकार आ जायगा ? नहीं । उस ज्योतिमें विकार नहीं आ जायगा । इसी प्रकार यह शुद्ध ज्ञायक स्वरूप भगवान् आत्मा इस शरीर देवालयमें विराजमान है इस शरीरमें कई प्रकार के रूप रंग आदि नजर आ रहे हैं । क्या इन पौद्गलिक पदार्थों से जीवों में विकार आ गया, ज्ञायकस्वरूपोंमें क्या विकार आ गया ? नहीं । अन्तरमें क्रोध, मान, माया, लोभ, असंयम, योग तथा नाना प्रकारके विकार होते रहते हैं । विकार हैं, पर इस आत्माका जो स्वरूप है वह ज्ञानमय है । क्या उस ज्ञानमय स्वभावमें विकार आ गया ? अरे विकार होते हैं फिर भी यहां विकार नहीं होते । ऐसा मर्म जब आपकी समझमें आता है तब आत्माके मर्मका पता चलता है । ५ सेर पानीमें लाल, गुलाबी, हरा कोई रंग डाल दो तो वह सारा पानी बिल्कुल हरा, नीला, गुलाबी, या अन्य कोई रंग का ही नजर आता है । यह पानीका स्वरूप है क्या ? उस पानीके स्वरूपमें हरा, पीला, नीला अथवा गुलाबी रंग आ गया । वह केवल रंग डालने से ही रंगीन नजर आता है, पर पानीका स्वरूप रंगीन नहीं । पानी अब भी अपने स्वरूप में स्वच्छ ही है, पर उस पानी की स्वच्छता रंग से ढक गयी है । यह ज्ञायक स्वरूप भगवान् अपनेस्वरूपमें स्वच्छ है, अपने स्वभावमें अविकृत है, किन्तु इन विपत्तियोंके सम्बन्धसे, इन कषायोंके परिणामोंसे इस भगवान् आत्माका यह शुद्ध स्वच्छ स्वरूप ढक गया है । ढक गया है तो भी स्वरूपमें विकार नहीं आया । स्वरूपमें विकार आ गया होता तो त्रिकालमें भी यह विकार नहीं मिट सकता था । पानी में रंग आ जानेपर भी कुछ समय बाद रंग बैठ जाता है । और पानीमें पतला रंग मालूम होता है कभी-कभी पानी बिल्कुल ऊपर स्वच्छ ही दिखता है । रंगमें रंग है और पानीमें पानी है । रंगको घोल दें तो सारा रंग ही दिखता है और वहींका वहीं पानीमें सारा पानी दिखता है ।

अब घरकी बात देख लो । घरमें पिताजी अपनी धोती और साफा पीले रंगसे रंगते हैं तो बोलते हैं कि साफा पीला कर दिया । साफा पीला हो गया, नीला हो गया, लाल हो गया । धोती पीली हो गई, लाल हो गई, नीली हो गई क्या ? चाहे इनको बार-बार निचोड़ें फिर भी रंग नहीं निकलते तो भी रंग में रंग ही है, धोती में धोती है, वस्तु में वस्तु है । वह तो चीजें अपने स्वरूप को लिए हुए हैं । इतनी

ऊपरी भेद की बातें भी मोही जीव कैसे पा सकते हैं ? भीत में कलई पोती गई तो भीत लगती है कि सफेद है अथवा यदि रंग में परिवर्तन करके हरा रंग पोत दिया गया तो तो कहते हैं कि भीत हरी है। भीत हरी नहीं होगी। भीत भीत ही है। जैसी थी वैसी ही है। यह हरा रंग हरा हो गया। भीत हरी नहीं हुई। इतनी बाहर की भेद की बातें समझ में जल्दी नहीं आती हैं, पर कुछ तो समझ में आ ही रही हैं। यह हरा रंग है, वह रंग ही है। भीत इसमें वही की वही है। लेकिन लोग इसको भूल गए हैं। वह समझते हैं कि भीत हरी है। भीत का आश्रय पाकर वह आधी वर्ग इन्च का रंग का डेला १ हजार वर्ग गज में फैल गया, पर देखने वाले लोग यह समझते हैं कि भीत हरी है, पर ऐसा नहीं है। भीत तो भीत ही है। ऐसे अनेक उदाहरण ले लो।

अब भाई धीरे से अपनी आत्मा की ओर आवो। शरीर में यह जीव बद्ध है। पर जीव इस प्रकार नहीं होगा जैसा कि यह शरीर है। बुद्धिमत्ता है तो अपने ज्ञानस्वरूप में ही दृष्टि देकर परख लो कि हम हम ही में हैं। गाय को जेवरी से बांध दिया गया है पर गाय का पूरा गला ज्यों का त्यों है। वह रस्सी से नहीं बंधी। उसके गले के चारों ओर रस्सी लटकी है। उसके चारों ओर रस्सी है। उसका ही एक छोर दूसरे छोर से बंधा है सो ऐसा लगता है कि गला रस्सी से बंधा है। अरे गले में गला है, रस्सी में रस्सी है, रस्सी का यह बन्धन है, गले का बन्धन नहीं। देह में देह है। शरीर में आत्मा का बन्धन नहीं है। जरा बाहर देख लो, फिर वही विकल्प आता है कि मैं देह में बंधा हूँ। अरे बाहर न देखो। अपने आनन्दघन स्वरूप को देखो तो अपना स्वरूप अपने में मिलेगा। बहुत विषय कषाय हैं, होते रहते हैं, काम मेरा रह गया है, इसमें टोटा पड़ गया है, इसमें यह करना है। पुत्र, स्त्री तथा परिवार को नहीं छोड़ते हैं, उनको ही अपना सर्वस्व देखते हैं, विपत्तियाँ उठाते हैं। अरे तू केवल शुद्ध, ज्ञायकस्वरूप, सबसे निराला, ज्ञानघन, अपने को निरख, तू एक पदार्थ है जिसमें वही वही है। वह तो एक पदार्थ है और ज्ञानस्वरूप परिणाम रहता है। जहां विकल्प एक नहीं है, ऐसा यह स्वयं स्वरूप है। चमड़े की आंखें खोलकर यदि अपने को देखेंगे तो उतनी ही विपदायें आयेंगी। सर्वज्ञ देव तो कहते हैं कि उन प्राणियों के रागादिक भाव जब होते हैं उस समय भी आत्मा का जो स्वरूप है, स्वभाव है, ज्ञायकत्व है, उसमें विकार नहीं होते हैं। मैं शुद्धस्वरूप हूँ। यह दृष्टि हो तो आते हुए विकार भी खत्म हो जावेंगे। और यदि शुद्ध स्वभाव में नहीं है तो समझो कि विकार बुलाए जा रहे हैं। ख्याल में ख्याल होता चला जायगा और अगर उस ओर से मुड़कर किसी आराम के स्थान पर उपयोग लगाया तो वह बात ख्याल होते हुए भी भूल जायगा।

तात्पर्य यह है कि आत्मा के स्वभाव में रागादि दोष नहीं हैं। जैसे कोयले की आग जल रही है और उसी में गंधक, लोबान भी डाल देते हैं। गंधक, लोबान डाल देने से हरे, पीले रंग की लौ निकलती है। उस हरी, नीली लौ के होने से क्या अग्नि हरी, नीली हो गई। अग्नि तो इस उष्ण प्रकृतिमय सदा एकस्वरूप है। चाहे उसमें लौ हों या न हों, किसी रंग या आकार की हो इससे क्या ? प्रत्येक परिस्थिति में अग्नि एक समान ही है। इसी प्रकार कर्मों के विचित्र सम्बन्ध से इस आत्मा में क्रोध आता है, मोह आता है, माया आती है, नाना प्रकार के विकार, नाना प्रकार के विकल्प छाये रहते हैं। इतने पर भी

इस भगवान् आत्मा के स्वरूप को देखो तो वह सदा एक ही स्वरूप है। यह बात सुनने में समझने में थोड़ी आती हो तो भी इस बात का पता लगाये बिना उत्थान का मार्ग नहीं मिलेगा, और और प्रकार से तो धर्म के मार्ग पर चलकर ही जहाँ का तहाँ। अन्य उपायों से तो मात्र कल्पित सन्तोष प्राप्त किया जा सकता है। जैसे गर्मी के दिनों में रात के समय में समुद्र के पास, एक नदी के किनारे खड़े हुए जहाज में या बड़ी नाव में कुछ मनुष्य बैठ गए। जहाज या नाव रस्सी से खूंटें से खोला नहीं और उस पर बैठ गए। नाव को वे खे रहे हैं, ताकत लग रही है, परिश्रम लग रहा है, दो, तीन, चार घंटे तक नाव चली, ६ घण्टे तक चली, सवेरा हो गया, सोच रहे थे मन ही मन कि अब चार मील पहुँच गए हैं, अब ५ मील पहुँच गए हैं, अब हम अपने गांव के किनारे लगे जा रहे हैं, खुश हो रहे हैं। जब सवेरा हुआ तो देखा कि नाव अपनी ही जगह पर स्थिर है। बोले, अरे भूल हो गई। बहुत परिश्रम किया, ताकत लगायी, पर नाव वहीं की वहीं रही। क्या किया कि खूंटें से रस्सी खोली ही न थी।

इसी प्रकार से धर्म की बातें सोचकर बहुत-बहुत बातें कर डालीं। ४०, ५०, ६०, वर्ष बहुत बहुत बातें कर लीं। इस तरह से बहुत श्रम करने पर भी जो हम अपने को पाते हैं तो हम में अशांति ही नजर आती है। उस २४ घण्टे के समय में कोई दो क्षण तक ऐसा नहीं नजर आता कि वह धर्म करता है। यदि ऐसा समय आ जाय तो उसे शान्ति मिलती है अपना स्वरूप तो देखो यहाँ सब कुछ है। मैं कृतार्थ हूँ, स्वरूपवर्तन के अतिरिक्त मेरे को कुछ करने का नहीं है, लेकिन मोह के खूंटें से उपयोग की रस्सी बंधी हुई है, उसे खोला नहीं है। हमारे १० लक्ष हैं, हमारे महल हैं, हमारे यही परिवार के लोग सब कुछ हैं। परिवार में दो-चार लोग हैं, वे ही सबसे बढ़कर हैं। भगवान् की उतनी कदर नहीं है जितनी कि बच्चों की है, उनका जो कुछ सर्वस्व है वही दो-चार लोग हैं। परम पवित्र ज्ञान जिसके दर्शन से मिलता है उस स्वरूप का दर्शन ही नहीं हुआ। वह अपना आया कैसे? अनेकों काम कर डाले, बड़े-बड़े प्रयत्न करके भी जगत् में जहाँ के तहाँ रह जाते हैं, किन्तु आत्मशांति, आत्म-आनन्द के लिए जो यत्न करना चाहिए उस यत्न के लिए तैयार नहीं होते। करते हैं पर तैयार नहीं होते। जैसे उपयोग में कोई जमा लेता है कि हमको तो यह दुकान करना ही है। इस तरह जम करके यह बात नहीं आयी कि हमको तो आत्मशान्ति लेनी ही है। मुझे तो आत्मकल्याण करना ही है। इस तैयारी के साथ भाव उत्पन्न हुआ हो तो यह सब अपने स्वरूप की बात बहुत जल्दी सुगमतया अन्तर में बैठ जाय। देखो यह आत्मा का स्वरूप जो केवल ज्ञानरसमय है, जानन जानन ही जिसकी पूरी बौड़ी है, विचित्र जगत् के सब पदार्थों का सार यह ज्ञायकस्वरूप भगवान् आत्मा है। इस आत्मा में न विकार हैं, न विपदायें हैं। स्वरूप की बात यह है पर सत् के इस पिंड की बात यही सब सामने है। क्रोध है, मान है, माया है, लोभ है, ये सब सत् पिंड में है पर स्वरूप में नहीं। शरीर तो केवल चल रहा है। हाँ केवल शरीर को पिंड मान लिया तो एक ब्रह्मवाद निकल आया है। मैं निर्विकार हूँ। ठीक स्वरूप से निर्विकार हूँ किन्तु इस पिंड में परिणमन तो निरन्तर चल ही रहा है। पानी गर्म हो गया है। पानी में बहुत गर्मी आ गयी है, पर पानी के स्वभाव में गर्मी है क्या? पानी के स्वभाव में गर्मी नहीं है। इतनी बात सुनकर कि पानी के

सत्य में गर्मी नहीं है। कहीं उस खौले पानी को पी लिया जाय तो पता चल जायगा कि पानी के स्वभाव में गर्मी नहीं है पर इस पिंड में जो अभी कोई पानी पी ले तो बोलता है कि हाय जीभ जल गई। कहता है कि यदि पानी स्वभाव से गर्म नहीं होता तो मैं जल कैसे जाता ? इसका तो पता लगाने के लिए ज्ञानी से मालूम कर पानी के पिंड में गर्मी है, पानी के स्वभाव में नहीं। बस इतने ही अन्तर से वेदान्तों के व स्याद्वाद के स्वरूप में ही अन्तर है। इस ज्ञायकस्वरूप में विकार कहाँ है ? जिस स्वरूप में विकार नहीं है, ऐसा ज्ञायकमात्र मैं हूँ, मैं आत्मा अनन्तज्ञानानन्दस्वरूप हूँ।

हे आत्मन् ! तू पर में दृष्टि न लगा। पर मिट जाने वाले हैं, तू मिटने वाली चीजों का विश्वास करता है। पर में दृष्टि लगाने से दुःख होगा। अभी घर में दादा के गुजरने से दुःख होता है। क्यों दुःख होता है कि उनके बाबा ने बच्चे के बारे में यह निर्णय किया था कि ये सब अमिट हैं। जब तक उनके मन में यह नहीं आया था कि जो समागम होगा वह मिटेगा ही। सो अगर कोई कह देता है कि क्या बापजी मर जावेंगे तो कहेंगे कि कैसे तूने सोच लिया कि बापजी मर जावेंगे। यह तू असगुन की बात क्यों सोच रहा है? अरे यहां पर जो कुछ है वह सब मिटेगा। शिकारी आदमी को यदि साधु मिल जाये तो उसे बड़ा गुस्सा आएगा। शिकारी आदमी के लिए साधु का दर्शन असगुन हो गया। मोहियों के लिए ज्ञानी और वैरागी तो असगुन हैं। यदि सत्यस्वरूप को देखा जाय तो समझ में आता है कि सगुन तो ज्ञान और वैराग्य ही है। मोह सम्बन्धी यदि तूने अपना समय असगुन में ही व्यतीत किया तो कष्ट तो लगेगा ही। यदि अपने स्वभाव सगुन में उपयोग दिया तो तेरे में तू ही है, तुझे कष्ट नहीं होंगे। जहां पर ज्ञानदृष्टि होगी वहां पर दुःख अनित्य में अनित्य की दृष्टि होने पर वह पदार्थ मिट जाय तो वह ज्ञाता रह सकता है। वह तो यही कह उठेगा कि देखो वही बात होगई ना, जो हम पहले समझते थे। अरे वही तो होगा जो हम समझते थे। किसी सौदे के खरीदने में तुरन्त यदि अनुभव हो जाय कि इसमें तो ठग गए, १० हजार का खरीदा हुआ बेचने से ६ हजार का टोटा पड़ता है तो इतने की हानि हो रही है। वह इस सौदे को वर्ष भर रखकर बेचता है और उतना टोटा पड़ता है तो पड़े, परन्तु इससे उसे दुःख नहीं होगा। क्योंकि वह समझता है कि इसे एक वर्ष पहले खरीदा था, तब भी यह टोटा था। देखने सुनने का ही आत्मा के भीतर कितना कमाल हो गया ? यह प्राणी अनित्य को नित्य समझे तो जब हम मरते हैं तब हम रोते हैं। इस असार शरीर को जब हमने सार समझ लिया तब रोते हैं। असार चीज को जब हमने सार समझा तब हम रोते हैं, दूसरे की चीजों को जब हमने अपना समझ लिया तब हम रोते हैं, असत्य को सत्य समझ लिया तब हम रोते हैं। वहां पवित्रता नहीं है जहां मोह है।

लेकिन कहते क्या हैं कि नाली गन्दी है, यह पानी गन्दा है, सड़ा हुआ है इसमें बदबू है अर्थात् इसमें बहुत से गन्दे पदार्थ पहुंच गए हैं, गन्दगी है, सड़े गले मांस की तथा अन्य वाह्यपदार्थों की वह गन्दगी कैसे हो गई ? सोचो तो सही। पहले तो इस गन्दगी में मिष्ठान्न के टुकड़े थे, बर्फी थी, बून्दी थी, लड्डू थे, परन्तु अब तो विष हो गया। अब वह गन्दगी बन गई। अब जो गन्दगी की शक्त है वह भी पहले एक पिंड थी और उससे पहिले देखो तो वे अणुस्कन्ध थे, आहारवर्गणायें थीं। उनसे भी पहिले परमाणु

सुख यहाँ प्रथम भाग

परमाणु थे। उन स्कन्धों पर जब आत्मा ने कब्जा कर लिया, उन्हें ग्रहण कर लिया तो ये शरीर की शक्त बन गए। वे बनकर इस शक्त में आ गए हैं। इन सब बातों का मूल कारण क्या है? इनका मूल में कारण यह हुआ कि इन परमाणुओं में आत्मा का कब्जा हुआ, जीभ का सम्बन्ध हुआ तब उन्हें ये विचित्र शक्तें मिलीं। जब तक इस पिंड के साथ आत्मा का सम्बन्ध न हुआ तब तक अपने आत्मा से सम्बन्ध होने पर, मोही आत्मा से सम्बन्ध होने पर इन वर्गणावों जैसी प्रगति होने लगी। ये सब गंदगियां अशुद्ध हैं, किसके प्रसाद से? जीवों के सम्पर्क के प्रसाद से। जीवों के नहीं, मोही जीवों के। तब मोह ही तो मूल हुआ। देखो लोक में जो लड़का अशुद्ध हो जाता है उस को छूते तो नहीं हैं। बाहर रहो, बाहर रहो, कहीं छू न लो। यदि उस लड़के ने छू लिया तो अशुद्ध हो गए, दिल में अशान्ति हो गई दूसरे ने तीसरे को, तीसरे ने चौथे को छू लिया, जहां तक नजर चलती है वह सब अशुद्ध ही होते चले जाते हैं। यह क्यों अशुद्ध हो गए? उसने हमें छू लिया। उन सबके मूल में खराब है केवल एक लड़का। अरे यह तो शुद्ध है, किन्तु हो गया जठराग्नि से सम्बन्ध। यह जठराग्नि कैसे बनी? मोही जीव के सम्बन्ध से। लो जठराग्नि भी गन्दी हो गई जीव का सम्बन्ध होने से। अब सब गन्दी शक्तें बनने लगीं। अब मूल कारण का विचार करें तो मूल में क्या अशुद्ध है? किस वजह से सारी चीजें अशुद्ध हो गयीं। अरे रागी जीवने कब्जा किया तो यह अशुद्ध हो गया। जीव के सम्बन्ध से यह अशुद्ध नहीं हुआ किन्तु राग के सम्बन्ध से यह अशुद्ध हो गया। फिर यह राग हुआ क्यों? यह अशुद्ध राग बना क्यों? अरे मिथ्यात्व की वजह से यह अशुद्ध राग बन गया। दुनिया में सबसे गन्दा होता है मोह। क्या मांस से गन्दा है? हां मांस से भी गन्दा है, खाद से भी गन्दा है तथा अन्य अशुचि पदार्थों से भी गन्दा है। हां हां सब पदार्थों से गन्दा है। गन्दगी जो है उसका करने वाला भी यह मोह ही है। मोह है, मोह का सम्बन्ध जीव से है तो राग पैदा हुआ। तो राग तो मोह परिणामों से हुआ। शरीर बन बैठा तो यह मोह दुनिया में जो गन्दी चीज है तो केवल एक मोह है और कोई दूसरी चीज इस दुनिया में गन्दी नहीं है। मोह ने इस समस्त जगत् को गन्दा कर दिया है। उसका महत्व इतना है कि भगवान् भी छूट जाय, धर्म भी छूट जाय, सबसे मुंह मुड़ जाय, पर मोह से मुख नहीं मोड़ते। यही वजह है कि हमारे धर्म के प्रयत्न तो होते हैं, धर्म की नाव चलाते तो हैं किन्तु उपयोग की रस्सी मोह की खूंदी से बंधी हुई है? ४० वर्ष तक धर्म किया, पूजा की, सेवा की ५० वर्ष तक, परन्तु आज हम उसी जगह पर हैं। कषाय में फर्क नहीं पड़ा। वह सहज उजेला नहीं मिल सका। यही चीज समझने की है कि इस आत्मा के ज्ञायकस्वभाव में क्या विकार है? मैं तो मैं ही ज्ञानमय हूँ। ज्ञानमय होना ही मेरा स्वभाव है। ऐसा ही मैं शाश्वत निश्चल हूँ। यही साक्षात् भगवान है। भगवान होने के लिए बाहर से कुछ नहीं आता मैं तो बना बनाया भगवान हूँ। मेरे में विषय कषाय नहीं है। विषय कषायों को ज्ञानदृष्टि की छेनी से काटकर बाहर कर देना है और फिर है बना बनाया प्रभु। जैसे पत्थर की मूर्ति बनाई जाती है तो पत्थर से जो कारीगरों ने मूर्ति तैयार की उसमें केवल बाहरी ढकने वाले पत्थरों को काट दिया, मूर्ति तैयार हो गयी। कुछ बाहर से मूर्ति तो नहीं रची। इसी प्रकार से मूर्ति को तैयार कर लेते हैं तो अन्य काम नहीं करने पड़ते हैं। यह

मूर्ति वही तैयार कर सकते हैं जो कुशल कारीगर हैं। जो मूर्ति पहले थी वह अब भी है। जरासा ढकने वाले पत्थरों को काटकर हटा दिया मूर्ति तैयार हो गई। इसी प्रकार इस आत्मा में भगवान बनने के लिए कुछ नहीं बाहर से लाना है। केवल ज्ञानस्वरूप को ढकने वाले जो विषय कषायों के परिणाम हैं उन विषय कषायों को ज्ञान-छेनी से बाहर करना है। यह स्वरूप कृतकृत्य है। दुकान करने को पड़ी है। यह नहीं चलेगी तो इसके बिना गुजारा नहीं होगा। ऐसा कुछ नहीं है। विषय कषायों की गन्दगी को हटाकर इस ज्ञानस्वरूप में भगवान के स्वच्छ व सही दर्शन तो कर लें, और अगर न कर सकें तो हम जहां के तहां मौजूद मिलेंगे।

दुःखी कि ? विवशः कि ? मेऽत्रैव न्यायो विधिर्जगत् ।

सुखागारोऽप्ययं तस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१५३॥

अर्थ- हे आत्मन् ! दुःखी क्यों ? विवश क्यों ? मेरा तो इस मुझही आत्मा में न्याय है यहां ही विधि विधान है यहां ही मेरी दुनियां है सुख का आगार भी यह ही मैं हूं इसलिये सुख स्वरूप अपने में अपने लिये स्वयं सुखी होऊं।

हे सांसारिक प्राणी, हे ज्ञानानन्दघन आत्मन् ! दुःखी क्यों हो रहा है ? विवश क्यों हो रहा है ? अपने स्वरूप को तो देखो। तेरा तू ही है, एक ज्ञानघनरस, आनन्द पुञ्ज। तुम्हारा आनन्दस्वरूप ही है। दुःख तो तूने कल्पनायें करके बनाए हैं। स्वभाव में तो आनन्द ही भरा हुआ है। तेरा स्वरूप चतुष्टय तुझमें ही है, तेरा उत्पन्न व्यय ध्रौव्य तुझमें ही होता है। सभी पदार्थों का अपना अपना स्वरूप उन उन ही में है। अन्य पदार्थों का दूसरे पदार्थों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। किन्तु जब यह चैतन्यमय ज्ञानमात्र वस्तु बाह्यपदार्थों में कल्पनायें करता है कि यह मैं हूं, यह मेरा है, बस इन कल्पनाओं से दुःख उत्पन्न होने लगता है। दुःख का मूल दृढ़ नहीं है। एक केवल भ्रम से बाह्य में आ जाने से, अध्रुव का आश्रय मान लेने से क्लेश उत्पन्न होते हैं। क्लेशों का मूल दृढ़ नहीं, परन्तु हिम्मत करता नहीं तथा अपने आपके स्वरूप में ही आपा बुद्धि रखता नहीं और क्लेश यों ही मौज करते करते खत्म हो जायें, सो कैसे हो? सबसे न्याय विज्ञानघन एक निजी आत्मतत्त्व मैं समझूं तो सारे क्लेश समाप्त हो जावेंगे। तेरा न्याय तू ही है तेरा न्याय करने वाला कोई दूसरा नहीं है। तेरी पुकार का सुनने वाला दूसरा कोई नहीं है। तेरी प्रभुता तेरे में ही है। तू ही अपनी पुकार को सुन सकता है। तेरी आवाज तेरा प्रभु आत्मा ही सदा सुनता रहता है अर्थात् जैसे परिणाम उत्पन्न होते हैं वैसे ही इस प्रभु-आत्मा में परिणतियां होती चली जाती हैं। तेरा निर्णय तुझमें है। तू अन्य दृष्टि मत कर। तूने अन्यत्र दृष्टि बहुत की, इसी की वजह से दुःख होते आ रहे हैं। यह मेरा स्वभाव नहीं है। पर को तो महिमान जान। महिमान कहते हैं उसे जिसकी कोई महिमा न हो। आते हो तो जाओ, न आते हो तो चले जाओ। ऐसे ही महिमान होते हैं। जिनके प्रति लोग कहां करते हैं कि इसकी चाहे यह बड़ा भी हो यहाँ महिमा नहीं है। तू अपने ज्ञानस्वरूप को देख कि कर्मों के स्वभाव से उत्पन्न हुए भाव, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ मोह आदि यह तेरे स्वभाव में नहीं हैं। तू तो निश्चल एक स्वभाव मात्र है। तू अपने को ज्ञानस्वरूप ही अनुभव कर। जैसे कोई

पुरुष इसके मित्र हैं, मैं इसका मित्र हूँ, इस तरह से जो अनुभव करता है जिनको मित्र माना है, जिनको वैभव माना है, उन्हींसे उसे क्लेश होते हैं और उन क्लेशों से उसे रंज होता है, दुःख होता है। इसी प्रकार यह किन्हीं पदार्थों को अपना मान लेते हैं तो इस बिगाड़ से ही उसे दुःख उत्पन्न होता है। इन रागात्मक भावों को तू अपना मान लेता है तो दुःख उत्पन्न होता है। भेद विज्ञान की चरम सीमा यह है कि तू अपने औपाधिक भावों को अपने आप से न्यारा समझ। यह धन वैभव तो प्रकट न्यारे दिखते हैं, मकान है देखो, यह तो प्रकट न्यारा दिखता है, ये मित्र तो प्रकट न्यारा दिखते हैं, परिवार के लोग भी जुदा जुदा हैं और इसी आत्मभूमिका में जो अष्ट प्रकार के कर्मबन्धन बंधे हुए हैं, वे भी इस आत्मा से जुदे हैं। वे पुद्गल कहलाते हैं। रूप, रस गंध, स्पर्श वाले हैं, वे सब भी न्यारे हैं। इस आत्मा में जो रागादि विकार उत्पन्न होते हैं उन्हीं से सुख व दुःख उत्पन्न होते हैं। अच्छा जरा परीक्षा तो करो कि न्यारा है कि नहीं। एक दृष्टि से देखते हैं तो वह न्यारे नहीं जंचते हैं।

मेरा द्रव्य ही तो इस समय यों परिणमता है। जब इसके कारण देखते हैं तो जुदा समझ में आ जाता है। यह विकार मेरा नहीं, यह मेरे स्वभाव के कारण नहीं हुआ, रागादि भाव मेरे स्वभाव से उठकर नहीं होते किन्तु कर्म के उदय के निमित्त पाकर झलके होंगे। जिन महात्माओं ने, जिन सौभाग्यशाली पुरुषों ने इस निराले तथा चैतन्य चमत्कार मात्र स्वरूप को पहिचाना है वे आनन्दमय हैं और जिन्होंने अपने स्वरूप को नहीं पहिचाना है वे प्राणी संसार में रुलते हैं, रोते हैं। ऐ रोने वाले प्राणियों, व्यर्थ में दुःखी हो रहे हो, व्यर्थ में खिच हो रहे हो। तेरी सहायता करने वाला संसार में है क्या? तेरे को दण्ड देने वाला कोई दूसरा इस जगत् में है क्या? तेरा अहित करने वाला, तेरा पहिचानने वाला, तुझे मुक्ति में ले जाने वाला, तेरे को इस संसार में भटकाने वाला कोई दूसरा इस जगत् में है क्या? कोई नहीं है। आप तो परिणाम करते हैं और ये क्लेश अपने में ही आटोमैटिक बनते चले जा रहे हैं। इन दुःखों से बचना है तो अपने स्वरूप को देखो, दूसरा कोई उपाय नहीं है। धर्म का पालन इसी को कहते हैं। धर्म बाहर नहीं, वेशभूषा में नहीं, नाना स्थानों में नहीं, नाना पद्धतियों में नहीं, केवल निज सहज स्वभाव में यह ही मैं हूँ— ऐसा मान लेने से, ऐसा अंगीकार कर लेने से, ऐसी दृष्टि बना लेने से धर्म का पालन है। इस ही बात के लिए यह व्यवहार धर्म है। सत्संग करते हैं किस प्रयोजन के लिए कि हमारी दृष्टि ऐसी बनी रहे कि हम धर्म के पालन के योग्य बने रहें। इसके लिए सत्संग किया जाता है। उपकार सत्संग जो किए जाते हैं वह इसलिए किए जाते हैं कि मेरी बुद्धि ऐसी व्यवस्थित रहे कि मैं अपने स्वभाव के दर्शन करने के लायक बना रहूँ। अपने स्वभाव के दर्शन करना सो ही धर्म का पालन है। दुःख तो कल्पनाओं से बनाया गया है। कोई भी दुःख हो रहा हो, यही निर्णय कर लो कि और कुछ नहीं है केवल कल्पनायें बनी रहीं, बस इसी में दुःख होता रहा है। इन कल्पनाओं का बना लेना, इसी का नाम दुःख है। जैसे न तो टोटा पड़ा है, न विपत्तियाँ आती हैं, न हमारे लिए कोई अनर्थ की योजना कर रहा है, केवल कल्पनायें बना बैठा है कि हमारे अनर्थ के लिए कोई योजना कर रहा है। वहां कुछ नहीं हो रहा है। वहां अपने हित की बात बन रही है और मन में कल्पनायें कर लिया कि मेरी हानि के लिए योजनायें ये बना रहे

हैं तो इसी से दुःख होता है। वाह्य पदार्थ हैं, वे अपने आप में परिणमते हैं, हम ऐसे हैं, वह वैसे हैं, इस प्रकार की वस्तुस्वरूप के अनुकूल विचार चलें इससे उन्हें आनन्द है। सुख और दुःख कहीं बाहर से नहीं आते हैं। जैसी भावना हैं वैसे ही दुःख तथा सुख हैं। वस्तु है, किसी दूसरे प्रकार की और मान लेना उसे भिन्न प्रकार की तो दुःख होगा ही और वस्तु जैसी है तैसी मान लें तो सुख होगा। वस्तु का स्वरूप जैसा है तैसी बुद्धि बने तो सुख है। चाहे बाहर की नरकगति के दुःख भी भोगे जा रहे हों किन्तु यदि आत्मा में मिथ्यात्व नहीं है तो आत्मा में सुख है, कोई क्लेश नहीं है और अन्तर में सम्यक्त्व नहीं है तो उसकी आकुलता बराबर लगी चली जाती है। सम्यक्त्व बराबर सुख को पैदा करता है और मिथ्यात्व सदा आकुलताओं को पैदा करता है। जैसा है तैसा ज्ञान हो जाना यही ज्ञान है। ज्ञानी गृहस्थ यद्यपि असंयम के काम करता है, चरित्र के प्रतिकूल भी चलता है, पर जैसे पतंग उड़ाई गई, पतंग कितने ही ऊपर चढ़ गई है तो डोर तो अपने हाथ में है। वह पतंग कहीं बाहर नहीं जा सकती है। इसी प्रकार सम्यक्त्व है तो चाहे उपयोग, थोड़ा भ्रम की ओर हो जाय, विचलित हो जाय, यहां वहां पहुंच जाय तो वह सब सम्यग्दृष्टि के आधीन बात है। वह अपने उपयोग को शीघ्र अपनी ओर बना सकता है। होता भी ऐसा ही है कि श्रद्धा तो सही है फिर मार्ग पर नहीं चल पाता। कौन नहीं जानता कि हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह संसार में भटकाने वाले हैं। इनकी निवृत्ति होने पर भलाई है फिर भी लोगों को कुछ समय तक करना पड़ता है। पर यदि श्रद्धा है तो पाप कम हो जाते हैं।

जैसे सामने अग्नि पड़ी है, एक पुरुष को जबरदस्ती ढकेल कर कहा जा रहा है कि आग पर चलो तो वह पैरों को आग में ऊपर ऊपर रखकर निकल जायगा। पर एक ऐसा आदमी जिसके पीछे अग्नि पड़ी हुई है और कहने से नहीं किन्तु किसी कारण पीछे पैर रख लेता है। इन दोनों पुरुषों में जरा बतलाइए कि अधिक कौन जलेगा ? जिसने पीछे बिना प्रेरणा के पैर रख दिया है, उसको पता नहीं था तो वही अधिक जलेगा। उसको आग का पता न होने से जल्दी उठने का परिणाम नहीं है सो अधिक जल जायगा और जो सामने देख रहा है वह जल्दी जल्दी पैर रखकर निकल जायगा। इसी प्रकार जिसको ज्ञान है, श्रद्धान है, वैराग्य है फिर भी कोई परिस्थिति आती है जिससे कुछ प्रतिकूल चलना पड़ता है। पर प्रतिकूल चलने पर भी उसके विपरीत खिंचा हुआ रहता है। जिसके ज्ञानस्वरूप नहीं, विषयों में आसक्ति है, उसके कर्मबन्धन विशेष है। ज्ञानी को विषयों में आसक्ति नहीं होती, इससे वह मोक्षमार्गस्थ है।

एक कुत्ता जानवर होता है, वह बड़ा स्वामिभक्त होता है, आज्ञाकारी होता है। दो रोटी के टुकड़ों में ही २४ घंटे पहरा देता है। अपनी पूंछ हिलाकर बड़े प्रेम से अपने मालिक को बड़ा प्रेम दिखाता है। देखो कुत्ता कितने काम आता है ? एक सिंह को देखते हैं तो दिल दहल जाता है। किसी किसी का तो हार्ट फेल हो जाता है। कोई कोई तो शेर से डरकर मर जाता। कितना अहित करने वाला यह शेर है। क्यों जी जो उपकारी है, जो भला है उसकी उपमा देना चाहिए या नहीं। अच्छे पुरुष को किसी सभा में खड़े होकर कहें कि फलाने भाई तो बहुत उपकारी हैं, इनका कहना क्या है ? यह बहुत ही उपकारी एवं धर्मात्मा हैं। यह तो एक कुत्ते के समान हैं। इसकी बड़ी भव्य आत्मा है। यह बड़े उपकारी हैं और

सुख यहाँ प्रथम भाग

जमी को या अन्य किसी को यह कह दिया जाय कि यह शेर के समान है, याने दूसरों की जान लेता है, ऐसा नाम सुनकर वह खुश हो जाता है, पर इसका बुरा अर्थ होता है। यदि किसी व्यक्ति को यह कह दिया जाय कि यह व्यक्ति कुत्ता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि यह व्यक्ति कुत्ते के समान स्वामिभक्त तथा आज्ञाकारी है। यह अन्तर किस बात का आगया? यह आध्यात्मिक मर्म को बताने वाला अन्तर है। अगर कोई कुत्ते को लाठी मारता है तो उस लाठीको कुत्ता चबाने लगता है। वह समझता है कि मेरा दुश्मन यह लाठी है। मेरा अहित करने वाली यह लाठी है, यह हुई निमित्तदृष्टि अर्थात् निमित्त ही मेरा सब कुछ करने वाला है, ऐसी दृष्टि हुई कुत्ते जैसी दृष्टि। उसको यह पता नहीं चल पाया कि मेरा दुश्मन लाठी नहीं है बल्कि यह पुरुष है। जबकि शेर को कोई लाठी, तलवार से मारे तो वह शेर यह नहीं समझता है कि मेरा दुश्मन लाठी और तलवार है बल्कि वह समझता है कि यह व्यक्ति ही मेरा दुश्मन है। इसलिए वह शेर पुरुष पर ही हमला करता है। एक की दृष्टि है कि मेरा दुश्मन लाठी है और एक की दृष्टि है कि दुश्मन यह पुरुष है। यही ज्ञानी और अज्ञानी में अन्तर है। ज्ञानी देखता है कि धन, वैभव, परिवार किसी में मेरा सुख नहीं है। मेरा सुख मेरे अन्तर से उठता है परन्तु अज्ञानी यह देखता है कि धन, वैभव, कुटुम्ब, परिवार आदि में ही सुख है। ज्ञानी यह सोचता है कि बाह्य पदार्थों से सुख नहीं होता, पर अज्ञानी यही सोचता है कि बाह्यपदार्थों पर ही सुख दुःख निर्भर है। अज्ञानी जीव ने अपनी प्रभुता को बरबाद कर दिया है। वह सोचता है कि यदि प्रपंच, परिवार, सदस्य तथा अमुक को मैं न देखूंगा तो मेरा नुकसान है, परन्तु नुकसान है इसी बाह्य दृष्टि में। यह आत्मा पूर्ण स्वच्छन्द हो तो दुःख नहीं होंगे।

एक पुरानी घटना है कि वज्रदंत चक्रवर्ती जब फूल में मरे हुए भंवरे को देखते हैं तो देखकर विचार करते हैं कि यह भंवरा फूल की सुगन्ध में आसक्त होकर इस फूल में ही छिपकर मर गया। कोई फूल ऐसे भी होते हैं कि दिन में तो खुले रहते हैं और शाम होते ही बन्द हो जाते हैं। भंवरा मकरंद रस चूसने के लिए बैठ गया। शाम को उसी फूल में बंद हो गया। जिस भंवरे में इतनी ताकत है कि काठ में छेद करता है। एक ओर से छेद करके दूसरी ओर से निकल जाता है। फूल की उन कोमल कोमल पंखुड़ियों में आसक्त होकर भंवरा मकरंद रसका पान करता है और वहीं मर जाता है। इसी तरह आत्मा में तो अनन्तशक्ति है, आनन्द शक्ति है, केवल ज्ञान की शक्ति है। परन्तु विषयों में आसक्त होकर अपने ज्ञान प्राण को बरबाद कर रहा है। आत्मा में क्लेश केवल जानने की कला पर निर्भर है। इसी प्रकार आनन्द भी जानने की कला पर निर्भर है। लो, शरीर को देखो, आनन्द खत्म हो गया और लो ज्ञानस्वरूप देखने में उपयोग बन गया तो आनन्द प्रकट हो गया। ऐसी महान् चमत्कार की कला से युक्त यह भगवान् आत्मा है। यह प्राणी बाह्यदृष्टि करके कि मुझे तो बाहरी चीजों से आनन्द मिलता है, बाहर में ही आसक्त होकर बाहर बाहर ही घूमता है। इस प्रकार का प्राणी बाहरी पदार्थों को नहीं छोड़ सकता है। यह भूला हुआ प्राणी भ्रम में ही रह रहकर अपना आत्मबल खो देता है और बरबाद हो जाता है। ऐ प्राणी! क्यों दुःखी हो रहे हो? तेरा तो स्वरूप भगवान्का है। तेरे में भी तो वही द्रव्य,

१६२

सुख यहाँ प्रथम भाग

वही गुण है। भगवान् की आत्मा का तत्त्व शुद्ध ज्ञानके द्वारा आनन्दमय है, ज्ञानघन है, मेरी आत्मा का उपयोग अशुद्ध की ओर है यही तो अन्तर हो गया है। चीज तो एक है जिसमें दुविधापन नहीं है। तो जैसा सुख का भण्डार प्रभु है वैसा तू है। परन्तु अपने आपको नहीं जानता है। इसी कारण बाहरी फंसाव में फंसा रहा है। २४ घण्टे के समय में २ क्षण को सबकी कल्पनायें छोड़कर अन्तर में तो देखो। तू उत्कृष्ट ज्ञानानन्द का पिंड है। कहते हैं कि जीव हवा है। फूंक मारा उड़ गया। यह जीव हवा से भी अत्यन्त सूक्ष्म है। शरीर से अत्यन्त जुदा स्वरूप वाला है। शरीर के अन्दर है। इसमें निमित्तनैमित्तिक भावों का होना कारण है। नहीं तो शरीर से इतना संयोग होने की भी गुंजायश नहीं। तेरे परिवार के लोग तेरे नहीं हैं, जिनसे तू इज्जत चाहता है वह तेरे नहीं हैं। तू तो चैतन्य स्वरूप एक वस्तु है। ऐसा सुख का भण्डार तू है। अन्तर भीतर में देखो और अपने में अपने लिए अपने आप देखते रहो।

भावयेद् भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया।

तावद्यावत् पराच्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठितम्।।

समयसार ग्रन्थ अध्यात्मका एक ही ग्रन्थ है। जिसमें अध्यात्मपद्धति से आत्मा का स्वरूप बताया है। उसमें आत्मा का स्वरूप बताते बताते उसका उपाय, भेद, ज्ञान कहते और शिक्षा देते हैं कि हे आत्मन्! तब तक भेदविज्ञान की भावना करो जब तक यह ज्ञान ज्ञान में प्रतिष्ठित नहीं हो जावे। मैं ज्ञानमात्र हूँ, शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूँ, इस प्रकार सबसे निराला अपने आपके चैतन्यस्वरूप को देखो। यही काम अभी पड़ा हुआ है। यही काम कठिन है, पूजा सरल है। अरे नहीं भैया अपना यह काम सरल है पूजा कठिन है। पूजा में १० साधन जुटाने हैं। यहां क्या है? जैसे हो वैसे अपने को देख डालो यह क्या कठिन है? धर्म का पालन यही है। बाहरी चीजें तो सहारा मात्र है, उनमें दृष्टि न दो। जैसे नीचे से ऊपर आने में जो सीढ़ियां हैं वे तो सहारा मात्र हैं, ऊपर आने के लिए सीढ़ियों से प्रेम नहीं करो सीढ़ियां बहुत अच्छी हैं, बड़ी सुखद हैं, मैं नहीं छोड़ूंगा। अरे तू न छोड़ तो वहीं पड़ा रहेगा। वाह्य तो तेरे सहायक हैं। पहली सीढ़ी पर कदम रखकर उसको छोड़ दे, दूसरी को छोड़ दे, तीसरी को छोड़ दे। ग्रहण किया है छोड़ने के लिए। ऐसा न चलो कि हम तो पहले से ही छोड़े हैं पहले से ही छोड़े पड़े हैं। नहीं, ग्रहण करके छोड़ने की बात है। यहां कुछ छोड़ना नहीं। यथार्थ जान लो। इसमें ही ज्ञान है, इसमें ही आचरण है। ऐसा रूप वाला यह मैं निश्चल रूप अपने आप में रहूँ और अपने आप सुखी होऊँ।

ज्ञानपिण्डोऽन्यभिन्नोऽहं निर्विकारी स्वभावतः।

स्वतन्त्रः सहजानन्दः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥१५४॥

अर्थ— मैं ज्ञानका पिण्ड, अन्य से भिन्न, स्वभाव से विकार रहित स्वाभाविक आनन्दमय हूँ इसलिये स्वके ही आश्रित होता हुआ मैं अपने में अपने लिए स्वयं सुखी होऊँ।

मैं क्या हूँ, इस बात को समझने के लिए इस श्लोक में पांच बातें बताई गयी हैं। पहली बात में कहा गया है कि यह आत्मा ज्ञान पिंड है, दूसरी बात में अन्य समस्त पदार्थों से भिन्न बताया है, तीसरी बात में स्वभाव से निर्विकार कहा है, चौथी बात में स्वतन्त्र कहा है और पांचवीं बात में सहजानन्दमय

सुख यहाँ प्रथम भाग

दिखाया है। इन्हीं पांच बातों के विवरण से मनन करने पर आत्मा में यथार्थ बल वृद्धि हो जायगी। मैं ज्ञानपिण्ड हूँ, स्वरूप मेरा ज्ञान ही है। जैसे गर्मी ही अग्नि का स्वरूप है वैसे ज्ञान ही मेरा स्वरूप है। जैसे कोयला तिकोना, चौखूँटा है, जलता है तो तिकोना, चौखूँटा अग्नि का स्वरूप नहीं है। अग्नि का स्वरूप तो केवल गर्मी है और बातें तो निमित्त पाकर होती हैं। यह मैं आत्मा मच्छ के शरीर में इतना लम्बा, चौड़ा होगया और चींटी के शरीर में इतना छोटा हो गया। ऐसा छोड़ा बड़ा हो जाना, फैल जाना यह आत्मा का स्वरूप नहीं है। यह तो निमित्त पाकर होता है। आत्मा का स्वरूप तो ज्ञान है। ज्ञान पिंड वह आत्मा है और अन्य से भिन्न है। मेरे अतिरिक्त जितने भी पदार्थ हैं उन सबसे मैं जुदा हूँ। यहां अस्ति और नास्तिका जिक्र है।

मैं मैं हूँ, कुछ और नहीं हूँ। तू तो ज्ञान पिंड है और मेरे अतिरिक्त जितने भी पदार्थ हैं वे सब मैं नहीं हूँ। इसी को कहते हैं एकत्व विभक्त्य है। तू एकत्व विभक्त्य है। इसके आगे और कुछ नहीं है। वस्तु की पहिचान स्याद्वाद से होती है। स्याद्वाद का आश्रय लिए बिना वस्तुओं से परिचय नहीं होगा। यह पीछी है तो यह पीछे ही है, और और नहीं है। पीछी चौकी हो जाय, पीछी ही दरी होजाय तो यह सत् नहीं हो सकता है पदार्थ सत् कहलाते हैं, तब सब अपने स्वरूप से हों और पर के स्वरूपसे न हों। यदि वह परके स्वरूप से न हों और निज के स्वरूप से हों तब तो वह पदार्थ रहे अन्यथा नहीं। पदार्थ तभी रह सकते हैं जब अपने स्वरूप से तो हों और परके स्वरूप से न हों। यह चौकी है। यह स्पष्ट दिखती है। यह चौकी अपने आप में तो है पर इसके अतिरिक्त जितने पदार्थ हैं, उन सब रूप नहीं है। तभी तो यह पदार्थ है। इसी तरह, अपने आत्मा की बात लगाइए। यह मैं आत्मा अपने स्वरूप से हूँ और परके स्वरूप से नहीं हूँ। अपने आप में हूँ, मैं अन्य जीव नहीं हूँ, अन्य किसी द्रव्य रूप नहीं हूँ, कोई पुद्गल नहीं हूँ। वह मैं क्या हूँ? इसके बारे में बताया है कि मैं ज्ञानपिंड हूँ। आत्मा में ज्ञानका ही तो सारा वैभव है, ज्ञान का ही सारा कमाल है, ज्ञान ज्ञान ही तो सारा आत्मा है, अमूर्त है, ज्ञान भावात्मक है। ऐसा ज्ञानरस इस आत्मा के साथ अन्य अन्य गुण भी मालूम देते हैं। जैसे आनन्द है, श्रद्धा है, चारित्र्य है परन्तु यह सब भी लगा रहता है। मानो ज्ञान धर्म के अस्तित्व की सेवा के लिए सर्व गुण हैं। सबमें प्रधान एक ज्ञान गुण ही है। जब हम आत्मा को पहिचानने चलें तो और बातों को देखकर हम आत्मा को अनुभव में न ला सकेंगे। जैसे सोचा कि यह मैं आत्मा कितना लम्बा चौड़ा हूँ। तीन चार हाथ का लम्बा, एक हाथ का चौड़ा और इतना ऊंचा सोचते रहें, पर ऐसा सोचने से आत्मा का परिचय न मिल सकेगा। आत्मा का अनुभव न हो सकेगा, आत्मा की पकड़ न आ सकेगी। यह मैं आत्मा कैसा हूँ? अरे जो गुस्सा आ रहा है वह है आत्मा, दर्द का अनुभव है तो वह है आत्मा— ऐसा सोचने से आत्मा का अनुभव नहीं हो सकता। तो है क्या आत्मा? अरे आत्मा में अनन्त शक्ति है और उस शक्ति के प्रति समय परिणमन चलते रहते हैं। अनादि परिणमन चला आया और अनन्तकाल तक परिणमन चलेगा। परिणमन तो होगा पर परिणमन या शक्ति भेद की दृष्टि से परिचय नहीं हो सकता, आत्मा का अनुभव नहीं हो सकता। ऐसा पकड़ में नहीं आ सकता कि जिससे स्पष्ट पहिचान में आवे यह है आत्मा।

जैसे हाथ में स्वर्ण का ढेला रखा है, पहिचान में आ जाता है कि यह है। जो जानन का ही काम करता है। त्रैकालिक जो ज्ञानस्वरूप है वह आत्मा है। इस तरह केवल ज्ञानस्वरूप को ही लक्ष्य में रखो तो ज्ञानस्वरूप ही लक्ष्य में रहते रहते यह लक्ष्य भी छूटकर ज्ञानमात्र आत्मा की ओर अनुभव हो जाता है। यह चीज प्रयोग की है। जितने शब्द कहे गए उतने शब्द सुनने से आत्मा का अनुभव नहीं, इतना बयान करने से ही आत्मा का अनुभव नहीं। इसका तो भीतर में ही उपयोग बने कि मैं ज्ञानमात्र हूँ और जानन का जो काम है वह स्वरूप ही लक्ष्य में लेवे, इतना मात्र मैं हूँ। ऐसा मनन करने से आत्मा का परिचय मिलता है, आत्मा की पकड़ होती है। यह इस नास्ति वाले दूसरे न्याय से अलग बात नहीं है। मैं अन्य सब पदार्थों से जुदा हूँ, इसको भी साथ में विचारना चाहिए। अरे नहीं यह तो पहलेकी बात है। जब ज्ञानानुभव का असर आ रहा हो वहाँ विभक्तपने की बात सोचना विघ्न है। आनन्द तो आ रहा है।

मैं ज्ञानमात्र हूँ। ऐसा उपयोग करने से ज्ञान ही ज्ञान में पहिचान का आनन्द आने को हो और वहाँ नास्तिका विचार करो तो वह विघ्न है। यह तो वस्तुस्वरूप के पहिचानने की जड़ है। अरे दूसरी बात से निर्णय कर लो कि मैं जगत् के सब पदार्थों से न्यारा हूँ। अनुभव के मार्ग में सोचने की आवश्यकता नहीं। यह तो निर्णय की बात थी। मैं तो स्वचतुष्टय से हूँ, परपदार्थों के चतुष्टय से नहीं हूँ। यह बात निर्णय कर लेने के लिए थी, पर जब ज्ञान के अनुभवका टाइम चल रहा हो उस समय स्याद्वादका आश्रय लेने की जरूरत नहीं। स्याद्वाद निर्णय के लिए है। निर्णय होकर फिर हमें उसके मर्म में ही चले जाना चाहिए। फिर स्याद्वाद के विकल्पों को न लिए फिरें। मैं ज्ञानपिंड हूँ और सब पदार्थों से भिन्न हूँ, स्वभाव से निर्विकार हूँ। यहाँ क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि विकार मुझमें आते तो हैं परन्तु यह मेरा स्वभाव नहीं बन गया। स्वभाव होता तो सदा काल ही यहाँ रहा करता। जैसे अंगुली टेढ़ी कर दें तो टेढ़ी ही रहेगी ऐसी बात तो है नहीं। क्योंकि टेढ़ी रहना अंगुलीका स्वभाव नहीं है अग्नि की गर्मी का निमित्त पाकर पानी गर्म हो गया। गर्म तो हो गया, पर गर्म हो जाना पानीका स्वभाव नहीं है। विकार तो आ गए, पर विकारोंका आना आत्माका स्वभाव नहीं है। मैं स्वभावसे निर्विकार हूँ, अपने आप सहज स्वरूप जो मेरी सत्ता है, तावन्मात्र ही हूँ। मैं कैसा सत् हूँ इस बातको जब देखो तो मैं एक चैतन्य वस्तु हूँ निर्विकार हूँ, ऐसा अपनेको देखना चाहिए। और मैं धनी हूँ, मैं गरीब हूँ, मैं लड़कों बच्चों वाला हूँ—यह सब क्या है? यह सब विकारमें फंसना है। विकाररूप ही अपनेको माननेपर आत्मा विकाररूप नहीं हुआ। विकाररूप माननेसे आत्मा कहीं विकारमय नहीं हो गया, किन्तु अपने उपयोग विकाररूप बनाना ही विकारोंमें आना हुआ। मोही तथा अज्ञानी पुरुष ही अपना उपयोग अपनेको नाना विचित्र रूपोंमें मानकर विकाररूपमें बनाते हैं। परन्तु ज्ञाता पुरुष मैं पुरुष नहीं हूँ, मैं स्त्री नहीं हूँ, मैं बालक नहीं हूँ, मैं बालिका नहीं हूँ, मैं धनी नहीं हूँ, मैं गरीब नहीं हूँ, इस प्रकारसे सब विचित्रताओंको अपना मानकर यथार्थरूपमें बनाते हैं।

मैं केवल चैतन्यमात्र वस्तु हूँ। इस मुझ चैतन्य वस्तुका अन्य वस्तुओंके साथ रंच भी सम्बन्ध नहीं

सुख यहाँ प्रथम भाग

है। वे सब पदार्थ हैं। वे अपने आपमें हैं। मैं एक पदार्थ हूँ अपने आपमें हूँ, सब पूर्ण स्वतन्त्र हैं, आजाद हैं, अपने अपने स्वत्व में मौजूद हैं। किसी पदार्थका किसी दूसरे पदार्थके साथ रंच भी सम्बन्ध नहीं है स्पष्ट देखो यह वस्तुका स्वरूप है। यह प्रत्येक पदार्थ अपने सत्में है, अपने स्वतन्त्र स्वरूप में है। पर ऐसा न मानकर किसी दूसरे के साथ सम्बन्ध हो— ऐसी झूठी बातें बनाए, धन्य है वह आत्मा जो संसारके सारे पदार्थों को स्वयंसिद्ध स्वतन्त्र यथार्थ समझते रहते हैं। ज्ञानी गृहस्थी जहां पर रहते हैं वह अपने कुटुम्ब, परिवार, पुत्र, स्त्री इत्यादिको भिन्न ही समझते हैं। उन्हें यह प्रतीत है कि मेरा कुछ नहीं है, रंच भी इनसे सम्बन्ध नहीं है। यह चीजें मेरी हो ही नहीं सकती है। और जो कुटुम्ब, परिवार, बच्चों, स्त्री इत्यादिको अपना मानते हैं, अपना ही सब कुछ समझते हैं तो उनके हाथ केवल पापका कलंक रहता है। यह तो त्रिकालमें उसके नहीं हो सकते हैं। अगर कुटुम्ब, परिवार, स्त्री, बच्चोंको अपना माना तो प्रोफिट में पापका कलंक आ जायगा और संसारमें रुलनेकी बात आ जायगी। अन्य वस्तु तो आ नहीं सकती। अरे इस संसार में तेरा कुछ नहीं है। जगत् के बाह्य पदार्थों को अपना माननेमें कितना प्रोफिट है? अपना मान लेनेसे क्या वह अपने हो गए। वह अपने नहीं हुए। वह तो अपनी सत्तामें है। त्रिकालमें भी वह अपने नहीं हो सकते हैं। मिथ्या समझकर अनेक विकार बन गए, अनेक कषाय बन गए, संसारमें बहुत समय तक दुःख सहा, रुलते रहनेकी रजिस्ट्री करा ली। यह सब मुसीबतें आजीवन रहीं। अन्य वस्तुका तो कुछ अंशमें भी मुनाफा न हुआ। जो दुनियामें कुछ चाहता है उसकी ऐसी ही हालत होती है।

एक सेठ थे, हजामत बनवा रहे थे। वह सेठ बहमी था। नाई बाल बना रहा था। अब सेठने जब देखा कि नाई तो बाल बना रहा है, इसमें तो मेरी जिन्दगी नाई के हाथ है। सेठ डरता है। वह सोचता है कि कहीं बाल बनाते में गला न कट जाय। इस डरसे वह नाईसे कहता है कि बहुत बढ़िया समझकर बनाना, तुमको हम कुछ देंगे। जब नाई बाल बना चुका तो सेठ जी ने एक चवन्नी निकालकर नाईको दी। नाईने कहा कि हम चवन्नी नहीं लेंगे हम तो कुछ लेंगे। सेठ जी एक अशर्फी, दो अशर्फी, दस अशर्फी देते हैं पर नाई कहता है कि हम यह नहीं लेंगे, हम तो कुछ लेंगे। सेठ जी को कुछ भूख-प्यास लंगी थी। नाईसे कहा कि आलेमें जो गिलास रखा है, ले आवो। दूध पी लें। हम भी पी लें और तुम भी पी लो। नाईने गिलासमें जो देखा तो उसमें कुछ काला था। नाईने कहा— सेठजी, इसमें तो कुछ पड़ा हुआ है। सेठ बोला कि कुछ है तो वह कुछ तू ही ले ले। तू कुछ के लिए अड़ा भी था। उठाया तो क्या निकला, कोयला। जो कुछकी जिद्द में पड़ा उसको क्या मिला? कोयला।

इसी तरह यहाँ के प्राणी कुछमें ही पड़े हुए हैं। उनको मुनाफेमें मिलता क्या है? मिथ्यात्व। भ्रम, संस्कार हो गए, कुछ मिला नहीं। मान लिया एक करोड़, पर आत्मामें आता क्या है? उसमें नए पैसेका हजारवां हिस्सा भी नहीं। सब अपने स्वरूपमें हैं किन्तु मुनाफा यह मिला कि मिथ्यात्व बढ़ गया, अज्ञानता बढ़ गयी, खोटे संस्कार हो गए। यही एक मुनाफा हो गया। चीजें तो कुछ मिलती ही नहीं। क्योंकि जगत्के प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र हैं। किसी भी पदार्थ का किसी भी पदार्थ से रंच भी सम्बन्ध नहीं है। यह आत्माके स्वरूपकी बात चल रही है और इस श्लोक में पांच बातोंसे आत्माका रूप खोला गया है। जिसमें चौथा

विशेषण चल रहा है कि मैं स्वतन्त्र हूँ, जब मैं सबको स्वतन्त्र निरखूँ तब स्वतन्त्र हो सकता हूँ अर्थात् मैं अपने आप स्वतन्त्र श्रद्धा में रहता हूँ। जब तक प्रत्येक पदार्थको भी स्वतन्त्र स्वरूपमें न देखें कि वे स्वतन्त्र हैं तो मैं भी कैसे स्वतन्त्र रह सकता हूँ? मैं तो स्वतन्त्र रहूँ व मेरे घरके बच्चे, अरे वह तो मेरे हैं, वे मेरे आधीन हैं, अरे वे भी एक सत् हैं। जब वे पराधीन बन गए तो तुम भी पराधीन बन गए। ये मेरे हैं, मेरे आधीन हैं सोचते हैं, पर बच्चे पराधीन नहीं बने, तुम स्वयं पराधीन बन गए। तुम स्वयं अपने अनुभवसे पराधीन हो। जो मेरा नहीं है उसे मैंने मेरा मान लिया तो पराधीन बन गए। मैं तो स्वतन्त्र हूँ और जगत्के पदार्थों को पराधीन देखूँ तो मैं स्वतन्त्र नहीं बन सकूँगा अपने स्वरूपका अनुभव न कर सकें कहें कि यह प्राणी जो लोकमें मोहको लिए हुए हैं वे राम हो जावें। अरे तू भी तो राम नहीं बना। कहते हैं कि स्त्री सीता हो जावें और पुरुष राम बनें। तो क्या स्त्रियां सीता नहीं बन सकती वे कहते हैं कि यदि पुरुष राम नहीं बनते, स्त्रियाँ सीता नहीं बनती तो सुख और शांति कैसे हो सकती है, आराम कैसे मिल सकता है? तुम्हीं उनसे गुणकी श्रद्धा करने वाले हो सकते हो। खुद पुरुष रामका स्वरूप है। यदि खुदके स्वरूपको राम निरखोगे तब बात बनेगी। इसी प्रकार खुद स्वतन्त्र बनो व सबको स्वतन्त्र देखो। सब मेरे आधीन रहें ऐसी कल्पना जहां आई तहां पराधीन बन गए। यह स्त्री मेरी है, यह बच्चे मेरे हैं, ऐसी कल्पना आनेके माने हैं कि स्त्री तथा बच्चों के आधीन बन गए। 'यह पदार्थ मेरे हैं; के मायने है कि आप पदार्थों के आधीन बन गए। मैं स्वतन्त्र हूँ जगत्के सभी पदार्थ अपनी सत्तामें हैं। कोई दूसरेके आधीन नहीं।

पाँचवीं विशेषता है कि मैं सहज आनन्दस्वरूप हूँ सहज स्वाभाविक आनन्दस्वरूप हूँ, आनन्द मुझमें लाया नहीं जाता। जैसे ज्ञानी जीवका स्वरूप है। तैसे आनन्द भी जीवका स्वरूप है। जीवोंका सर्व प्रयोजन इसी बातमें है और इसी बातमें प्रयत्न रहता है। एक तो जाननका और एक आनन्दका— इस जीवके यही दो प्रयोजन हैं। इन दोनों ही चीजोंको प्राणी चाहता है। कि जानन भी खूब हो और आनन्द भी खूब हो। सो भाई ज्ञान और आनन्द यह आत्मामें ही है। आत्मामें स्वभाव है और आत्मा में स्वरूप है। ज्ञान और आनन्द कहीं बाहरसे नहीं लाना है। किन्तु जैसे हो तैसा अपनेको मान लेना, बस यही ज्ञान और आनन्दके प्राप्त होनेका उपाय है। इस श्लोक में पहले विशेषण में ज्ञान है और आखिरीमें आनन्द है। मेरा भी तो प्रयोजन ज्ञान और आनन्दसे है। वे मेरे ठीक बनानेके लिए और आनन्दके विकासके लिए है। ज्ञान और आनन्द ही जीवका वैभव है। यदि अन्य वैभवके दर्शन करेगा तो तू अपने अमूल्य वैभव को गंवा देगा। केवल यह मैं ज्ञानानन्द आत्मा हूँ ऐसा ही अपनेको अनुभव करो तो अपनेमें अपने आप अपने आनन्दका अनुभव कर सकते हो। देखो जैसा मैं नहीं हूँ वैसी भावना करूँ तो वैसा ही उपयोग बन जाता है। तब मैं जैसा हूँ तैसा अनुभव करके वैसा ही उपयोग बनाऊँ तो वैसा बन जानेमें कोई सन्देह नहीं है। मैं भैंसा नहीं हूँ किन्तु अकेले बैठे बैठे समझ लिया कि मैं भैंसा हूँ तो ऐसी ध्वनि बन जायेगी और अपने शरीरको भूल जाऊंगा। यही सोचूंगा कि मैं भैंसा हूँ, मेरे एक बड़ा पेट है, दो सींगें हैं, एक पूंछ है, चार पैर हैं। ऐसा यदि एकचित्तसे अपनेको भैंसा समझ लेवें तो मैं भैंसा ही नजर आऊंगा,

मैं अपने उपयोगसे भैंसा ही बनूंगा और अगर दिलमें ऐसा अनुभव आ जाय कि मंदिरका दरवाजा छोटा है तो रंज करूंगा कि मैं कैसे निकलूं मैं मन्दिरसे बाहर कैसे निकल पाऊंगा। हमारा शरीर तो इतना मोटा है, दो सींगे हैं, एक पूंछ है, अच्छा काला काला बड़ा मोटा सा हूँ। मैं कैसे बाहर निकल पाऊंगा? सारी बातें सोचने सोचने में ही अपने आप अनुभव कर डालता है। जैसा कि है नहीं, फिर जैसा यह ज्ञान रस, आनन्दधन, ज्ञानमय, सबसे निराला तैसा ही अपनेको माने तब तो यह स्थायी रूपसे ऐसा ही हो जाता है। मैं भैंसेकी कल्पना बनाए बैठा था तो क्या मैं भैंसा बन गया? भैंसा मैं नहीं बन पाऊंगा। परन्तु यह तो आनन्दमय है और ऐसा ही मान लेवे तो स्थायी रूपसे ज्ञानमय यह आत्मा बन जायगा। तो यह मैं आत्मा सहज आनन्दरूप हूँ तो यह मैं अपनेमें अपनेलिए रमकर अपने आप आनन्दमग्न होऊँ।

निजचेष्टाफलं ह्यन्ये दृष्टिः संसार उच्यते।

विज्ञाय तत्त्वतस्तत्त्वं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ।।१५५।।

अर्थ— निश्चयसे “ अपनी चेष्टाका फल अन्यपदार्थमें है” इस दृष्टिको ही संसार कहा जाता है, अतः वास्तवमें तत्त्वको जानकर मैं अपनेमें अपनेलिये स्वयम् सुखी होऊँ।

थोड़ेसे शब्दोंमें यदि कहा जाय कि संसार क्या है, सारी झंझटें क्या हैं तो कहा जा सकता है कि अपनी चेष्टाका फल अन्यमें होता है, ऐसी मान्यता ही झंझट है, इस ही को संसार कहते हैं। हम जो कुछ करते हैं उसका असर दूसरोंमें होता है, उसका फल दूसरोंमें होता है। इस प्रकारकी बुद्धि होनेका नाम संसार है, सारी विपदायें हैं ऐसी दृष्टिका नाम ही संसार है। संसार शब्दका अर्थ देखा जाय तो निकलता है कि ‘संसरणं संसारः’ परिभ्रमण करनेका नाम संसार है। बाहरी दृष्टि से ३४३ घन राजू प्रमाण लोक में परिभ्रमण करना संसार है और अध्यात्मदृष्टिसे अपने आपके विभावों में आकुलित होकर, फिर फिर कर विकल्पोंमें बने रहनेका नाम संसार है, परिभ्रमण है। यह संस्करण क्यों लग गया? इसका मूल कारण क्या है तो अपनी चेष्टाका फल दूसरोंमें माननेकी दृष्टि ही इसका मूल कारण है। हम एक स्वतंत्र पदार्थ हैं। जग के ये सभी स्वतन्त्र पदार्थ हैं। किसीसे रंच भी सम्बन्ध नहीं है। अपने ही तो उत्पाद व्यय ध्रौव्यमें रह करके अपने ही स्वभाव से ये परिणमते रहते हैं। अपने रूपकी सीमाका उल्लंघन कोई नहीं करता है। फिर कोई वजह ही नहीं कि किसीके करनेसे किसीको कुछ हो जाया करता हो। परन्तु यह मोही प्राणी भी करता है तो यह समझता है कि मैं अमुक में यह परिणमन कर दूंगा। बस इसी दृष्टि के कारण संसार के सारे क्लेश लग गए। इसीको कहते हैं कर्तृत्वबुद्धि। अर्थात् परको कुछ कर लेनेका ख्याल मैं दूसरोंको कुछ कर देता हूँ, दूसरे मुझे कुछ कर देते हैं। इस प्रकारका जो विकल्प चलता है, खोटा अभिप्राय रहता है। इस ही का नाम संसार है और इन विकल्पोंसे छुड़ी लेनेका नाम ही मोक्ष है। घरमें, समाजमें, समूहमें जहां भी जो विवाद खड़े होते हैं उन विवादोंका मूल कारण देखो तो अहंकार निकलेगा। अहंकार बिना विवाद नहीं होता है। घरमें स्त्री पुरुषमें, देवर जेठानी में, सास बहू में अगर विवाद खड़ा होता है तो विवाद दो के बीच में होता है ना, क्योंकि एकसे विवाद क्या? सो जिससे विवाद खड़ा हो, समझो इसमें अहंकार ही है। क्यों दुःखी होते हो? अमुक काम न हुआ तो न सही। वह भी पदार्थ है वह ही परिणम गया। इसमें तुम्हारा क्या बिगड़ गया? मैंने हुक्म दिया, पर उसने नहीं माना अथवा मैं

ऐसा कहता था, ऐसा क्यों नहीं किया? यह हो गया अहंकार । मैंने इनका बड़ा पालन पोषण किया और इनकी सेवा करता हूँ और फिर भी ये मेरे अनुकूल नहीं चलते यह भी हुआ अहंकार । मेरे जितने विवाद होते हैं वे सब अहंकारसे होते हैं। धंधे करनेके मामलेमें निरन्तर जैसे चिन्तायें रहा करती हैं— इतना क्यों नहीं हुआ, इतना कैसे बचा लिया जाय, यह कैसे कमा लिया जाय अथवा इज्जत रखनी है । सारे जितने पाप हैं उनका भी मूल है अहंकार । उनका क्या बिगड़ा कि ५ लाख थे और २ लाख निकल गए, अरे इसमें क्या तुम्हारा तत्व बिगड़ गया? इन मायामयी मूर्तियोंके बीच इस मायामय मूर्तिको जो चाह रहा है इस मायामय शरीरको जिसने सामने रखा है और इस मायाकी दुनियामें अपनेको कुछ बताना चाहता है वह अहंकार ही उन व्याधियोंका स्वयं कारण है ।

जगत्में जितनी भी विपदायें हैं सब विपदाओंकी व्याधियों का कारण अहंकार हैं हम कुछ करते हैं फल दूसरेमें होता है । कर्तृत्व को माननेका नाम ही संसार है । परमार्थसे बात तो यह है कि हम जो करते हैं उसका फल हम ही भोगते हैं । हम करते क्या हैं, क्या दुकान चलाते हैं, रोटी बनाते हैं, घरकी लीपापोती करते हैं? हम विकल्पका ही काम करते हैं । कभी विकल्प करते हैं फिर इसके निमित्तसे जो कुछ होता है वह अपने आप होता है । तुम आत्मा हो । आत्मा एक ज्ञानमय पदार्थ है । वह इस शरीरके अन्दर रहते हुए भी इस शरीरसे जुदा है । यह ज्ञानमय जीव पदार्थ केवल अपने परिणाम कर पाता है । परिणाम किया कि इस शरीरमें रहने वाला यह आत्मा जो शरीरसे न्यारा है । सब प्रदेशोंमें हिल जाता है, कंप जाता है । जैसे अभी भयका परिणाम हो तो यह आत्मा हिल जाता है । खुशीका परिणाम हुआ, चिन्तनका परिणाम हुआ, इच्छा की, वहां भी हिल जाता है । यहां भी परिणाम करता है तो उस परिणामके फल में यह जीव कंप जाता है, हिल जाता है, प्रदेश परिस्पन्द होने लगता है । इसे कहते हैं योग । पहली बातको कहते हैं उपयोग । यह जीव केवल उपयोग और योग करता है और दूसरा काम ही नहीं करता है । मैं तो केवल उपयोग और योग करता हूँ । इसके बाद जो कुछ होता है वह अपने आप होता है । देखो यह जो ज्ञानकी बात है, यही अमृत है । इसको पी लोगे तो अमर बन जावोगे । बस अमर तो होना ही है । समझमें आ गया कि अमर क्या है ।

मैं अपने स्वरूपसे हूँ, अपनेमें रहता हूँ, सदा अकेला ही रहने वाला हूँ । यहां तो यह मैं ही मैं दिखता हूँ, मैं ही यहां हूँ । जरा आखें खोलकर देखो, अरे यह तो शरीरमें है । परमार्थसे शरीरमें नहीं है यह तो व्यवहारकी बात है । शरीरमें तो वस्तुतः यह नहीं है और व्यवहारसे है तो रहने दो । यह मैं इस शरीरको छोड़कर दूसरी जगह के लिए जाऊंगा । तो मैं तो वहीका वही हुआ । यहांसे छोड़कर दूसरी जगह पहुंच गया, मैं तो पूरा का पूरा हूँ । उतनाका उतना, पूराका पूरा मैं अमर ही तो रहा । मरा कहां? मगर वह दृष्टि यह विकल्प कर डालती है कि देखो हमारा कमाया हुआ धन छूटा जा रहा है अथवा इज्जत बनी हुई थी, अब वह छूटी जा रही है । यह जब ख्याल करता है । तो दुःख हो जाते हैं । नहीं तो दुःखी होनेका कुछ काम ही नहीं है ।

मैं यहां रहूँ अथवा न रहूँ, इससे उसमें क्या फर्क आयेगा? मगर बाहर जब मोहको दृष्टि बनी रहती

है तब तो क्लेश उत्पन्न होते हैं। बाहर दृष्टि ही दृष्टि बनती है, पदार्थों में फेर ऊपर कुछ नहीं होता। व्यर्थ ऊधम मचाते हैं और दुःखी होते हैं। ये ऊधम तथा दुःख कहां से आ गए? हमारे अज्ञानसे हम खुद कसूर करते हैं व दुःखी होते हैं, किसी से ठिनकनेका क्या प्रयोजन, ऊधम किया तो दुःखी होंगे ही। अब दूसरोंसे क्या आशा रखते हो। उनसे मेरे हित की बात होती— यदि ऐसा विचार कर लेते हो दुःखी हो जाते हो। अनहोनीको होनी बनाना चाहते हैं। इसका तो फल दुःख ही है।

एक लड़का था। वह इस बातमें मचलने लगा कि हमें तो हाथी चाहिए। उसका पिता हाथी वालेको बुलाकर हाथी ले आया। फिर लड़का बोला कि इसे खरीद दो। बापने कह सुनकर हाथीको पालेमें खड़ा कर दिया और कहा कि खरीद दिया। लड़केने कहा कि हाथीको मेरी जेबमें रख दीजिए। अब बताओ भैया, यह काम कौन कर देगा? उसकी जेबमें हाथी कौन रख देगा?

जैसे लड़का मचलता है कि हाथी जेबमें रख दीजिए उसी प्रकार जीव परपदार्थों को लेनेके लिए मचलता है। अरे भैया, अनहोनी बात क्यों चाहते हो? जो होना है सो होगा। उसे भगवान सब कुछ जानता है। जो कुछ वह जानता है सो होगा। वह जानते हैं इसलिए होगा ऐसी बात तो नहीं है किन्तु जैसा हुआ था, जो हो रहा है, जो भविष्यमें होगा सबको भगवान जानता है, यह बात है, और कोई बात नहीं। बाह्य दृष्टिमें आपदा ही आपदा है। आत्मामें धोखा है? नहीं। यह परिचय ही जगत में माया रूप है। परमार्थसे तो शुद्ध चैतन्यस्वरूप है। यहां कोई यह प्रश्न कर सकता है कि जब जो भगवानने जाना है वह होगा, फिर पुरुषार्थ करना व्यर्थ है भैया! जो आप करेंगे वही प्रभुने जाना है। फिर इसकी ओरसे क्यों ऐसी उपेक्षा कर ली जाय? हां परवस्तुओंसे क्या सिद्धि है जो परके बारे में सोचो यह जैसा होता है होने दो। अन्य पदार्थ तुम्हारे सोचने से वैसे तो नहीं हो जावेंगे। तब जैसा भी हो गया होने दो। उसका भी यह जाननेसे बिगाड़ कुछ नहीं होता और मोह है इसलिए दुःख होता है। जैसे कोई नाच रहा हो और नाचनेमें एड़ियां कुछ गलत उठ गयी हों, ठीकठीक ठेकेके अनुसार एड़ियां न चलें। नाचनेकी कलाको जानने वाले जो लोग बैठे हुए हैं वे दुःखी हो जावेंगे। वह गलती देखकर वे दुःखी हो जाते हैं इसका कारण है कि उनको भी शौक है, उनको भी अहंकार है। देखो जाननेकी कलापर ही सब कुछ निर्भर हैं जगत्के सब पदार्थों से निराला अपने आपको जो शुद्ध ज्ञायकस्वरूप है वह जब तक अनुभव में नहीं आता, कर्तृत्वबुद्धि नहीं मिलती तब तक अज्ञानी सदा अपने घमण्डमें रहता है।

कोई बड़ा धनी था और अब वह बिलकुल गरीब हो गया हो तो वह अनेक कल्पनायें करेगा कि मेरे दरवाजेपर सैंकड़ों जूते उतरते थे, मेरा सम्मान होता था। ऐसा कहकर अपना बड़प्पन जताता है। चाहे अर्थ ऐसा निकले कि पापका उदय आ गया। सो देखो सब खत्म हो गया। यद्यपि उसके सुनानेमें इज्जत नहीं है, बेइज्जती है तो भी उसको कर्तृत्वबुद्धि का नशा है सो कहता है। वर्तमानकी बातका भी कोई अहंकार करता व भविष्यका भी। वह यों बन जायगा, वह ऐसा हो जायगा, यों इज्जत वाली बातमें घमंड किया। इस कर्तृत्वबुद्धि में अपने हितका मार्ग नहीं सूझता। तो इन संसार भावोंको छोड़कर हमें मोक्षमार्गमें आना चाहिए। मैं जो करता हूँ वह उपयोग और योगको ही करता हूँ। इसके अतिरिक्त करनेका

कहीं काम नहीं है। इतना कर लेनेके बाद शरीरमें जो वायु भरी है, चक्कर करने लगती है। तब आत्माके भावोंके अनुसार चक्कर काटना शुरू हो जाता है। यों उपयोगके अनुसार योग व योगके अनुसार वायु चलती है। जब आत्मा के प्रदेश में बौखलाहट होने लगी तो यहां एक क्षेत्र में रहने वाले इस शरीरके स्कन्धों में भी वायुको बौखलाहट होने लगी। जहां इस शरीरमें वायु चले तो शरीरके अंग भी चल उठें। जैसा उपयोग किया था उस ही के अनुसार योग हुआ, वायु चली, अनेक अंग चले और उन चलते हुए अंगों के बीचमें कोई रोटी ले आए तो उसके भी परिणामन हुए। उसको देखकर लोग कहते हैं कि इसने रोटी बनाया, दुकान चलाई, वस्तुवें खरीदी इत्यादि बातें लोग कहने लगते हैं। परमार्थसे अन्य कुछ नहीं किया। जीवने तो केवल उपयोग और योग ही किया है। उपयोग और योग होने के अतिरिक्त इस जीवकी करतूत कुछ नहीं है।

लोक में कहावत कही गई है कि 'घी शक्कर मीठा या बहू के हाथ।' घी, शक्कर होनेके कारण पकवान मीठा है। हाथ निमित्त हैं। इसमें मीठा क्या है? बहूके हाथ मीठे हैं क्या? नहीं, शक्कर मीठी थी। तो पकवान बहूने बनाया या शक्करने बनाया। देखो हाथमें हाथ चला और रोटीमें रोटी बनी। व्यर्थका ही अहंकार होता है कि रोटी मैंने बनायी है। रोटीका उपादान तो वह आटा ही है। हाथ तो निमित्तमात्र हैं। निमित्त वह कहलाते हैं जो अलग रहा करते हैं। हाथ रोटीसे अब भी अलग हैं। लोकमें जो भी काम होता है उन सब कामोंसे भी हाथ अलग हैं। निमित्त अलगको ही कहते हैं। जो भिन्न चीजें हैं सारी अलग है तभी तो निमित्त पाकर भी यदि उपादान योग्य नहीं है तो कार्य नहीं होता। आज भाई आटा नहीं बचा। अरे नहीं बचा तो नहीं सही, कैसे बनेगा? धूल धर दो। क्या रोटी बन जायगी? नहीं। क्यों? अरे उपादान तो है ही नहीं। कार्य जितने होते हैं वे उस ही वस्तुमें होते हैं, जहां कि वह कार्य है। मैं जो कुछ परिणाम करता हूँ, कार्य करता हूँ, मेरा असर मुझमें ही है, मेरे से बाहर मेरा असर नहीं है। मोह करके दुःखी हो गया, बरबाद हो गया। दुःखी हुआ तो दुनियाके अन्य किसी वजहसे दुःखी कुछ नहीं हुए। मोह हुआ उससे ही दुःख हुआ। मोहकी गंदगी जो दुनियामें है, हमारी ही है। बाहर कोई गंदगी नहीं है। इस गंदगीका कारण यह आत्मा मोही ही है, मोहका परिणाम ही है। इस मोहके परिणामने हमें निगोद जैसी खोटी योनियोंमें पहुंचने वाला बना दिया। बतलावो इसमें कौनसी स्थिति ऐसी है जो अच्छी है और संतोषके लायक है। जैसे कहावत है कि—'घर घरमें मिट्टी के चूल्हे।' घर घरमें क्लेश हैं, घर घरमें विपदायें हैं। कहीं चले जावो, कचहरीमें जज बैठता है कुर्सीपर और हुकूमत करता है। अनेक लोग आकर प्रणाम कर रहे हैं और बाबू बने हुए बैठे हैं। देखने वाले सब लोग सोचते हैं कि जज साहब सुखी हैं। अरे वह सुखी नहीं है। वह अहंकारसे भरे हुए हैं। निरन्तर दुःखी होते हैं और चिन्ताओंसे युक्त हुआ करते हैं। तो बताओ कि वह मजेमें कैसे होंगे? ऊपरी शानसे सुखी हैं। पर वह भीतरी मनसे दुःखी हैं। जैसे ऊपरसे चांदीका घड़ा दिखता है और अन्दरमें विष्टा भरा रहता है तो वह कैसा है? इसी तरह संसारके प्राणी ऊपर से चिकने चुपड़े लगते हैं व भीतरसे अज्ञान व अशांति भरी है। कहा है न वैसे ही लखनऊ जैसी नजाकत है। यही बात है कि दिखने मात्रमें वह सुखी हैं, पर भीतरसे यह विकल्प

सुख यहाँ प्रथम भाग

भरे हुए हैं और दुःखी हो रहे हैं। भीतरमें राग, द्वेष, मोह इत्यादि भरे हुए हैं। कौनसी ऐसी स्थिति है जिससे अहंकार किया जाय, संतोष किया जाय। जैसे रास्ता भूलकर कोई पुरुष कुछ आगे बढ़कर चला गया है तो भूल मालूम होनेपर सामने के बड़े बगीचों, वन उपवनोंसे अपना मुख मोड़ लेता है, उन्हें मुड़कर भी नहीं देखता है। इसी प्रकार खोटे मार्गमें, भ्रमकी बांतों में पड़कर बहुत दूर तक चला फिरा, भटकता हुआ प्राणी जब यह समझ जाता है कि ये सब विषय कषाय हैं, भूलका मार्ग है। निज सहज स्वभावकी दृष्टि छोड़कर परपदार्थों को अपना मानना यह सारी भूल है। हम मार्गको भूल गए हैं। यह तो व्याधियों का मार्ग है—जब ऐसा सही ज्ञान होता है तो यह जीव अपने कुटुम्ब, परिवार इत्यादिसे अपना मुख मोड़ लेता है। अपने धन वैभवका लिहाज नहीं करता है। अपने लड़कों पर निगाह नहीं डालता है।

यदि अपनेको व्याधियोंसे रहित मार्गमें लाना है तो सुमार्गकी ओर देखो। अपनी चेष्टाओंका फल दूसरों में होता है ऐसी दृष्टि आप फैलाए हैं। यही खोटा मार्ग है यही संसार है। यह विपरीत मार्ग है, यही संसार है। इसमें चलनेसे इसमें ही भटकते रहोगे। जब समझ आती है तब ज्ञान इससे मुड़ जाता है। मेरी शक्तियोंका परिणाम मुझमें ही होता है। मेरा मित्र मैं ही हूँ, मेरी विपदायें मैं ही हूँ, यह ज्ञानानन्दस्वरूप भगवान् आत्मा है, इसको ही अपने आपके लक्ष्यमें लो। इस शरीरकी समस्त आकुलतायें समाप्त हो जाएंगी। अपनी चेष्टाओं का फल दूसरोंमें मानना सोई कुबुद्धि है, संसार है। अगर कुछ असंयम में भी पड़ा रहना पड़ता हो तो फिर भी प्रतीति तो पूर्ण सही रखना चाहिए। अपनेको ऐसा ही प्रतीत करना चाहिए कि मैं सबसे निराला, केवल ज्ञानस्वरूप ही आनन्दमय भावात्मक एक विलक्षण चैतन्य पदार्थ हूँ, जिसका यहां कुछ नहीं है। इसमें जो कुछ हरकत होती है, चेष्टा होती है वह इस आत्मस्वरूप की होती है और जो असर बनता है वह इसके ही बनने की चेष्टा हो रही है। जो होता है इसके ही प्रयोजन के लिए होता है, इसमें होता रहता है। इसके लिए ही होता है। जैसे सर्प कुण्डली बना लेता है, अपने लिए ही अपने को घेर लेता है। इसी तरह इस जीव ने जो कुछ उपयोग किया और योग किया वह सब अपने में ही अपने लिए किया। इसका इसके बाहर कुछ वास्ता नहीं है। अन्तर दृष्टि होने का नाम मोक्षमार्ग है और बाहर में दृष्टि फैलाने का नाम संसार है संसार का मार्ग है।

देखिये— भावना से ही यह संसार मिल जाता है। अब बुद्धिमानी यह होनी चाहिए कि हम किसे प्राप्त कर लें ? केवल भावना से ही मिल रहे हैं सब कुछ। रात को एक भाई ने यह प्रश्न किया कि हम जैसी चीजों का सौदा करते हैं, सौदा तो करते हैं और चीज खरीदते नहीं। केवल भावना ही कर लेते हैं। इसमें नफा नुक्सान क्या होता है ? बड़े गजब की बात यह हो गई। नुक्सान तो सौदा लेने पर होता कि भाव करने पर ? लेकिन यह भाव कर्म का बन्ध करा देता। रोजगार में भावना करने से नुक्सान नहीं होता। नफा नुक्सान तो सौदा कर लेने पर ही होता है। सो भैया, प्रथम तो यह बात है कि तू तो केवल भावनाओं को बना सकता है, काम कुछ कर सकता नहीं है। भीतर में विषय कषाय के परिणाम भरे हुए हैं, उनसे कर्मबन्ध होता। हिंसा, झूठ आदि के कारण कर्म नहीं बंधता। यह विचित्र रोजगार है। जीव भाव ही कर पाता है और भाव से ही नफा नुक्सान होता है। भाव के कारण कर्मबन्धन है।

हां यह बात जरूर है कि भाव बुरे हैं तो कार्य भी बुरा किया जाता है। इसी से कहो कि हिंसा, झूठ आदि भावनाओं के कारण कर्मबन्धन हैं। यह रोजगार विलक्षण है। यदि अपनी खोटी भावनाओं से हटकर सही रूप में कार्य करने लगे तो नफा हो जाय। भाव खोटे नहीं तो वाह्य परिणति से पापबन्ध नहीं। ऐसे अनेक उदाहरण मालूम होंगे।

सुदर्शन सेठ थे। रानी ने सेठ को बुला लिया। महल में सब चेष्टायें कर लीं, परन्तु सुदर्शन विरक्त ही थे। राजा ने गुस्से में आकर शूली का आदेश दिया, परन्तु सुदर्शन सेठ का परिणाम रंच भी बुरा न था। उनका विचार निर्मल था। रानी से कहा था—मां मैं तो नपुंसक हूँ, उनका परिणाम निर्मल था। उसके कारण उनके कर्म बंधन नहीं हुए। तथा परवस्तुओं के कारण मोक्षमार्ग में बाधा नहीं आयी और ये दुनिया के विचित्र गुण्डेलोग परिणाम बिगाड़ते हैं, पर कहीं बस थोड़े ही चलता है, फिर भी कर्मबन्धन हो रहे हैं। जैन सिद्धान्त तो यह कहता है कि काय से कर्मबन्धन नहीं, कर्मबन्धन भावनाओं के कारण है। हां यह बात और है कि भावनाओं के बिना कार्य हो नहीं सकता। यदि साधु ईर्या समिति से जाते हों और अचानक मार्ग में कोई कुन्धु प्राणी मर जाता है तो प्राणिघात होते हुए भी कर्मबन्धन नहीं हुआ। उन्हें जीवहिंसा का पाप नहीं हुआ। कोई बिना देखे चले और उसके शरीर से किसी प्राणी का घात भी न हो रहा हो तो कर्म बंधेंगे। कर्म-बंधन का रोजगार भाव से चलता है, चीज के लेन-देन से नहीं। सबसे बुरा भाव, बुरा पाप तो मिथ्यात्व है। अपनी चेष्टा का फल दूसरे में देखना यह भाव भी मिथ्यात्व है। इस मिथ्या आशय को त्यागकर मैं निज चैतन्य स्वभाव मात्र देखूँ और अपने में अपने आप सहज विश्राम पाऊँ।

अनन्तज्ञानसौख्यादिगुणपिण्डोऽपि तृष्णया।

भ्रमाणि दीनवत्कस्मात्स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥१-५६॥

अर्थ— मैं अनन्त ज्ञान सुख आदि गुणों का पिण्ड होता हुआ भी तृष्णा से दीन की तरह क्यों घूमूँ ? अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

मैं अपने आप किन तत्वों से बना हुआ हूँ, किन तत्वों रूप हूँ— इस पर विचार करने से जब आत्मा में देखते हैं तो यही मालूम होता है कि यह एक ज्ञानमय वस्तु है, ज्ञान से ही रचा हुआ है, ज्ञान ही उसका सर्वस्व है, ज्ञान के मायने जानना। जानना आत्मा के आधीन बात है। परपदार्थों के आधीनता की बात नहीं। जानने में परपदार्थ आते हैं पर जानना तो आत्मा की चीज है, आत्मा में उठता है। जानना आत्मा के स्वभाव की कला है। इस कारण जानने में कोई सीमा नहीं होती कि इसको ही जान, आगे न जान, इससे अधिक न जान। ऐसा जानने में कोई सीमा नहीं है। स्वभाव से ऐसा जानने का स्वरूप है। जिसे कहते हैं अनन्त ज्ञान। यदि ज्ञान कम जाने, इतना जान पाने का कोई कारण होता है। इतनी बात बतलाइए कि दस कोश का जान लेने का काम है और ग्यारहवें कोश के जानने का आत्मा का काम नहीं है, क्यों ? अरे इसमें तो जानने का ही मात्र स्वभाव है। सीमा बनावेगा तो स्वभाव ही मिट जावेगा। जो है सो जानने का स्वभाव है, जानने का विषय सत् है, वह सब जानने का स्वभाव है। आगे

पूछने की गुंजाइश नहीं। क्यों ऐसा नहीं है ? इसने हजार कोस तकका जाना, पर हजार कोस से आगे न जाना। पूछा जा सकता है कि वह हजार कोश तक सबको जानता है, इसके आगे वह किसी को नहीं जानता, इसका क्या कारण है, यह कितना जानता है ? अरे यह सबको जानता है। इससे आगे वह किसी को नहीं जानता है। विश्व के समस्त गुण पर्यायों को जानता है। क्यों जानता है। जानने का क्या कारण है? यह पूछने की बात नहीं। अनहोनी के होने का कारण पूछा जाता है। कुछ उल्टा बन गया है, उसके ही कारण पूछा जाता है। जो स्वभाव से होने वाला है उसका कारण क्या पूछा जाय ? मेरा स्वभाव जानने का है। जानना ही आत्मा है।

जैसे वर्णन किया जाता है कि आत्मा में अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व हैं, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, प्रमेयत्व तथा असाधारण गुणों में श्रद्धा है, चारित्र है, आनन्द है, ज्ञान है। यदि इन सब गुणों में से केवल एक गुण ज्ञानका न हो, ज्ञान को न मानो, ज्ञान को बाहर निकाल दो और कहें कि सब खुशी से रहो, अस्तित्व से रहो तो न रह सकेंगे। एक ज्ञानभर को न रहने दो, निकाल दो, ऐसा मान लो तो अपनी कल्पनायें कर लो तो अस्तित्व न रख सकोगे, श्रद्धा और चारित्र न रख सकोगे। देखो ज्ञान के न रहने से कितनी विपदायें आ गयी ? ज्ञान ही जिसका एक स्वभाव है, वह सारा मैं आत्मा हूँ। गुणों का अन्तर्भाव ज्ञान में तो किया जा सकता है। पर ज्ञान का अन्तर्भाव किसी अन्य गुणों में नहीं किया जा सकता है। आध्यात्मिक शास्त्रों में तो सब कुछ यह ज्ञान ही है। श्रद्धा है तो ज्ञान है, सम्यग्दर्शन है तो ज्ञान है। जीवादि तत्व के जानने के स्वभाव से ज्ञान के होने का नाम सम्यग्दर्शन है और रागादि का परिहार करने के स्वभाव से ज्ञान का होना तो सम्यक्चरित्र है। ऐसा यह मैं ज्ञानमय हूँ, मैं ज्ञानमय वस्तु हूँ, ज्ञान ही जिसका सर्वस्व है। मैं तो अनन्त ज्ञानादि गुणों का पिंड हूँ, फिर भी तृष्णा के वशीभूत होकर अपने में कैसे कैसे बखेड़े पैदा कर डालें। हीन, दीन, दरिद्र, दुःखी अपने को कर डाला।

जिसकी वजह से जगह-जगह भटकता रहा। सर्वत्र कल्पनाओं का ही तो नाच है। दुःख है, कठिनाई है। इस तरह की कल्पना कर डाली तो दुःख है। दुःख मिटाना है तो यह कल्पनायें बदल दीजिए। वस्तुस्वरूप के अनुकूल कल्पनायें कर लीं जाये तो दुःख मिट जायगा। यह दुःख और सुख कैसे कल्पना की हवा में चल रहे हैं ? कल्पना कर ली दुःख हो गया। सही बात सोच ली तो आनन्द हो गया। यह जीव अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्त सुखों का पिंड है। लेकिन कोई ऐसा न माने तो वही दुःखी रहेगा। जैसे ज्ञान की सीमा नहीं है इसी तरह अनन्त ज्ञान से अनन्त जानने वाले आत्मा के दर्शन भी अनन्त ही अनन्त हैं। आनन्द का अन्त तो उसका होता है जो आनन्द झूठा हो, पराधीन हो, कल्पना भाव से बना हो। जिसकी मूल जड़ कुछ नहीं है। केवल संकल्प का ही फल है। ऐसे सुख का अन्त तो आया करता है, और उस आनन्द की सीमा भी नहीं रहती है। जैसे गुड़ से शक्कर में रस ज्यादा होता है उससे मिश्री में रस ज्यादा होता है उस रसकी सीमा बन जाती है। इसी तरह आत्मीय आनन्द में तो भेद नहीं, सो आत्मीय आनन्द रसकी सीमा नहीं हो सकती है। आत्मीय आनन्द कितना आया ? देख लो कितना आत्मीय आनन्द है। ऋषभदेव और महावीर स्वामी के आनन्द में अन्तर है क्या ? रामजी और हनुमान

जी के आनन्द की सीमा है क्या? नहीं है। और यह ज्ञानी जीव भी जब आत्मीय आनन्द अनुभव करता है तो उसके आनन्द की सीमा नहीं है। सीमा कहाँ बताई जाय? जिसकी कमी हो वह सीमा है। इसी प्रकार समस्त विकास को बनाए रहने की ताकत ही अनन्तवीर्य है। मैं अनन्त आनन्द, ज्ञानानन्द का पिंड हूँ। ऐसा होते हुए भी यह भगवान् आत्मा केवल कल्पनाओं के भुलावे में पड़कर बाधा के बन्धन में आकर दीनवत् संसार में भ्रमण करता है।

जैसे लोग कहते हैं कि हम अपने घर के बादशाह हैं और दूसरे लोग चाहे जो कुछ हों। अरे अपने घरका भी सही पता लग जाय कि मेरा निजी स्वरूप ही घर है, जो ज्ञानस्वरूप, ज्ञानमात्र है, इस मेरे का किसी से कुछ सम्बन्ध नहीं है, इसे कोई पहचानता नहीं है, इससे कोई बोलचाल होती ही नहीं है, मैंने कभी किसी को कुछ किया ही नहीं, कोई मुझसे अब तक बोला-चाला ही नहीं, मैं सबसे निराला ज्ञानस्वरूप, ज्ञानमात्र हूँ, इस जगत् के प्राणियों को यदि निजी घर का पता लग जाय तो यह बात सत्य है कि वह अपने घर का सर्वस्व हो जावे। सारा जहान चाहे जैसा उसे माने, उस से कुछ अहित नहीं हो सकता है। सारा जहान अनीति कर यदि उसके विपरीत चले तो भी उसका अहित कुछ नहीं हो सकता है। अपना हित और अहित अपनी कल्पनाओं से, संकल्प से होता है। लोग कहते हैं कि ईश्वर ने संकल्प किया कि सारा संसार बन गया। ऐसी ही उसकी विचित्र लीला है, मगर कुछ नहीं करना पड़ता, हाथ-पैर नहीं चलाने पड़ते। वह तो सर्वव्यापक, सच्चिदानन्दमय एक अद्भुत शक्ति है। उस ईश्वर ने संकल्प किया कि संसार बन गया। जैसे कि लोग कहते हैं कि अब इस ईश्वर के मर्म को विचार कर अपने आपका बोध कर। तू अपने को ऐसा निरख कि मैं ज्ञानमय आत्मा हूँ। जिस आत्मा में हाथ पैर नहीं है, केवल ज्ञान का पिंड है ऐसा मैं आत्मा हूँ। ज्ञान में क्या जानना है? ओह, ज्ञान का जानना। अरे जो है सो जान लो, वस्तुओं को जान लो। ज्ञान इस आत्मा का प्रधान धर्म है।

इस दृष्टि से देखो तो इस आत्मा में ज्ञान लोकालोक व्यापक है। यह आत्मा संकल्प करके ही अपने आपकी सृष्टि-रचना कर लिया करता है, और ऐसे सभी आत्मा हैं। तो उन आत्माओं के स्वरूप में दृष्टि देकर विचार करो। यह ज्ञानमय स्वरूप अपने संकल्पमात्र से सारे संसार को रचता है। संकल्प ही तो करता है। कर्म के बन्धन होते हैं। कैसे इसने संकल्प किया कि बन्धन हो गए? पुण्य का बन्धन होता है। कैसे संकल्प तूने किए कि पुण्य नहीं हो पाया। पुण्य का बन्धन होता है कैसे? संवर निर्जरा होती है कैसे? अपने निर्विकार यथार्थ स्वरूप को संकल्प में लो। संकल्प मात्र से अपनी सृष्टि की रचना करते हैं। हम तो अनन्तज्ञान के पिंड हैं, मगर मोह से तृष्णा से रहते हैं, इस लिए इस असार संसार में घूम रहे हैं। ये दस लक्षण प्रति वर्ष आते हैं। ये हमें ख्याल कराते हैं।

हे आत्मन्! तेरा क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, अकिञ्चन व ब्रह्मचर्य जैसे पवित्र विकासरूपे रहने का स्वभाव है। ऐसे ही स्वभाव में रहे तो तेरे सारे संकट समाप्त हो जावेंगे। इस स्वभाव को छोड़कर अन्य बातों में लगे तो संसार में भटकना ही बना रहेगा। आज इस वर्ष के दस लक्षण का प्रथम दिन है, क्षमा का दिन है। क्षमा करो, माफ़ करो, अरे अपने प्रभु को ही क्षमा कर, जानने

सुख यहाँ प्रथम भाग

वाले को ही माफ कर। अपने आपको मैने कितना सताया है, अपने आप पर कितना गुस्सा किया है। अनन्तानुबन्धी यह कषाय अपने आप पर किए जा रहे हैं। अपने अनन्तानुबन्धी क्रोध; मान, माया, लोभ इत्यादि अपने आप पर किए जा रहे हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि उन्हें कहते हैं जो सम्यक्त्व नहीं होने देते। क्यों भैया, एक ऐसा मनुष्य है जिसके घर में स्त्री व पुत्र दो प्राणी हैं, कमाते हैं, पैसा आता है, किराया भी आता है, कमाना भी नहीं पड़ता है, किसी से गुस्सा होने का कोई काम नहीं है, वह तो पड़ा रहता है तो उसमें सदैव क्षमा बनी रहती होगी। अरे इसमें क्षमा नहीं बनी रहती है, अपने प्रभु की प्रभुता को भूल रहा है और अपने पर निर्दयी होकर अपनी प्रभु आत्मा से विमुख हो रहा है। अपने प्रभु की प्रभुता को बिगाड़ रहे हो यह कितना बड़ा भारी क्रोध है।

हे आत्मन्, तू अब अपने आपको मत सता। तू तो ज्ञानमय ईश्वर सम परम पवित्र है। तू समस्त पदार्थों से अत्यन्त जुदा है। विवादों से तू अत्यन्त परे है। तेरे में झंझटों का नाम नहीं है। ऐसे अपने महान् ऐश्वर्य को तो देखो। उसकी रक्षा तो करो। अपने आप पर दया करो, अपने आपको माफ करो। अपने आप में क्षमा आयेगी तो उत्तम क्षमा बनेगी। मैं दूसरे जीवों के कसूरों को बिल्कुल माफ कर देता हूँ। ऐसी दृष्टि अगर अपने में हो, ऐसा विश्वास अगर अपने में हो तो वह तो मिथ्यात्व है। जैसे लोग कहते हैं कि मैंने क्षमा कर दिया। अरे वह क्षमा नहीं है। उत्तम क्षमा हो तो अपने को क्षमा की मति बना देती है। अपने आपकी दया में सबकी दया आ जायगी। जो अपने आपको सहज स्वरूप के दर्शन में लगाने के लिए लालायित हैं, उसके लिए दूसरों के अपराधों में लगने से क्या। वह दूसरे के अपराधों को दिल में रखेगा क्या? दूसरों की क्षमा सहज बन जायगी। विषय कषायों के परिणामों में क्यों अधिक लगे हुए हो। धन कमाते हो तो अरे धन किसके लिए कमाते हो अथवा न्याय की सीमा से बढ़कर किसलिए इतना श्रम करते हो? अरे जिसके लिए श्रम कर रहे हो वे तुम्हारे कोई नहीं हैं, कुछ नहीं है, और हैं तो तुम्हारी अक्ल ठीक करने के लिए हैं अर्थात् विपदाओं में गिराने के लिए हैं, विपदाओं में डालने के वे एक निमित्त कारण हैं, वे तुम्हारे कोई नहीं हैं। अपने को संभालो। जैसी दृष्टि अपने आपको क्षमा कर देने की है वैसी दृष्टि पर को क्षमा कर देने की बनाओ। अभी १००-२०० वर्ष पहले पं० दौलतराम जी, भगवतीदास जी आदि थे। जिनमें यह निर्णय रहता था कि एक रुपया कमाया वही बहुत है। आज एक रुपये से १० रु० कमा लेने का ही भाव रखें सो भी गनीमत है। एक रुपये में एक आना मुनाफा या एक पगड़ी में एक आना मुनाफा। यदि १६ रु० का माल बेचा तो १६ आने का मुनाफा हो गया, बस इतना होते ही तुरन्त दुकान बन्द कर देते थे और मंदिर में आकर धर्मध्यान करते थे, स्वाध्याय व चर्चा में समय व्यतीत करते थे। वे लोग थे ज्ञानी पुरुष, उनका ध्येय दूसरा था।

आत्मा के दर्शन कर लें और उसी आत्मीय आनन्द के रस का पान कर लें तो यही आत्मानुभव पार कर देने वाला है और सब असार काम हैं। ऐसी धुन लगने के कारण दुकान से होते हुए मुनाफे को छोड़कर चले आए और मंदिर में बैठकर विचारों में लग गए। मंदिर में धर्म की चर्चा होती है उसको सुना। धर्म की चर्चा सुनने से स्वाध्याय तो हुआ। इतना तो संतोष कर रहे हैं कि राग की आग में जल

नहीं रहे हैं। वीतराग के सारे पाप दूर हो जावेंगे। मोह से तो दूर हो रहे हैं, क्योंकि यह बोध तो स्पष्ट है कि जो समागम प्राप्त है वह कुछ रहने वाला नहीं है। जैसी दृष्टि वृत्ति बने, जैसा जिसने परिणाम किया उसके अनुसार ही जो कुछ भोगना होगा भोगेगा। क्षमा कर, अपने आपको क्षमा कर। परवस्तुओं के बारे में अन्य जीवों के बारे में राग, द्वेष, मोह, हठ इत्यादि न बनावें। राग होता है उसमें भी पछतावा होता है। द्वेष होते हैं तो अपने आपको दुःखी कर लेते हैं। सो भाई अपने आप पर दया करो, अपने को क्षमा करो। अपने आपकी ही तरह जगत् के सब जीव हैं, अतः सब जीवों पर क्षमा करो। क्रोध सब गुणों को जला देता है। क्रोध को अग्नि की उपमा दी जाती है। सो यह बड़ा भारी क्रोध सब गुणों को जला देता है। क्रोध को अग्नि की उपमा दी जाती है। सो यह बड़ा भारी क्रोध किया जा रहा है। हम अपने आपको सताते चले जा रहे हैं। दूसरों के प्रति नाना प्रकार के राग, द्वेष करते हैं तो यह बुरा ही तो करते हैं यह पर में राग द्वेष क्या है? अपने आपको सताना है। अतः अपने आपको सताते चले जा रहे हैं। सो भाई बढ़ते हो तो बढ़ते जाओ, करोड़पति या अरबपति हो जाओ, यह तो मामूली बात है। वह मोक्ष जाये तो जाने दो, जाओ, बड़ी जल्दी जाओ। उससे मेरी कोई हानि है क्या? अरे जाओ परमात्मा हो जाओ या जाओ अपने आप में रमो। दूसरों को बड़ा बना देने में, दूसरों के बड़ा हो जाने से यहां कुछ कम नहीं हो जायगा। सबके प्रति कल्याणभाव हो, अपने आपके स्वरूप का परिचय हो क्षमा तभी पैदा होती है। सबने अपने-अपने यहां क्षमा की महिमा गायी है। कोई कहता है कि तुम्हारे गाल पर कोई तमाचा मारे तो कहो अच्छा तो यह दूसरा गाल भी तुम्हारे तमाचे के लिये हाजिर है। यह ईसाई लोगों के यहां कहा है। अरे तमाचा तो केवल मन बहलाने के लिए लगाया है तो लो और बदला लो। किसी ने किसी प्रकार कहा। मतलब क्षमा को धर्म सबने कहा।

हे आत्मन्! निज नाथ को पहिचाने बिना अंधरा है। तूने अपने यथार्थ स्वरूप का अनुभव नहीं किया, इसलिये तेरे में क्षमा का अनुभव नहीं हुआ। यदि तेरे में क्षमा नहीं है तो समझो तूने कुछ नहीं किया। इस वर्ष भी ये भादों में दस लक्षण आए और भादों सुदी पंचमी से आए। ऐसा हुआ क्यों? एकएक कल्प काल में प्रलय काल हुआ करती है तो इस काल में भी प्रलय हो चुकी थी। प्रलय में वर्ष के अन्तिम ४६ दिन खोटे होते हैं। बहु वर्षा तूफान आदि चला करते हैं। सारे विश्व में नहीं चलते। भरत व ऐरावत के आर्य खण्डों में चला करते हैं। वे दिन आषाढ़ सुदी पूर्णिमा तक खत्म हो जाते हैं। फिर ४६ दिन तक अच्छी वर्षा होती है। उत्तम वृष्टि होती है, अमृत वृष्टि, दुग्ध वृष्टि होती है, जिससे कुछ शांति छा जाती है। वह ४६ दिन भादों सुदी चौथ को खत्म हो जाते हैं। इसके बाद में आपके धर्म की वृत्ति सिर्फ होती है। जो कुछ होना था इन्हीं के ४६ दिनों में हो गया। अब धर्म वृद्धि होती है। वह तिथि भादों सुदी पंचमी को पड़ती है। यह दस लक्षण पर्व प्रतिवर्ष हमें धर्मभाव का स्मरण कराने आते हैं। हमको चाहिए कि अपनी शक्ति के अनुसार हम क्षमादि धर्मों को अपने में उतारें। सबसे बड़ी चीज यही है कि अपने पर यथार्थ क्षमा कर लो तो समझो कि सब कुछ कर लिया। हमने अनन्तज्ञानमय होकर भी स्वभावदृष्टि से दूर रहकर इस संसार में घूमकर अनन्त दुःख उठाए। अब मैं अपने स्वरूप को देखकर, अहंकार से दूर रहकर अपने में आप आनन्दमग्न होऊँ।

ज्योतिर्मयो महानात्मा वञ्चितोऽश्विषैरहम् ।

सम्बन्धमात्र रम्यैस्तु स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१७-५७॥

अर्थ- यह मैं आत्मा ज्ञानमय और महान् हूँ, परन्तु सम्बन्ध मात्र से रमणीक इन्द्रियों के विषयरूप विषके द्वारा मैं ठगाया गया, अब मैं स्वयं महान् अपने में अपने लिये स्वयं सुखी होऊँ।

यह आत्मा ज्ञानज्योतिस्वरूप है। उस स्वरूप को देखकर जगत के सभी पदार्थों में दृष्टि डालते हुए जब निर्णय करते हो तो यह आत्मा सर्व में महान् है। इसे समयसार कहा जाता है। समय का अर्थ है 'सं एकत्वेन अयते स्वगुणपर्यायान् गच्छति इति समयः।' जो अपने गुण पर्याय में तन्मय हो रहे उसे समय कहते हैं। सभी पदार्थ समय हैं, वे अपने ही गुण पर्याय में तन्मय हो रहे उसे समय कहते हैं। सभी पदार्थ समय हैं, वे अपने ही गुण पर्याय में तन्मय हैं। तन्मय होना तो स्वभाव ही है। इस कारण सब पदार्थ समय कहलाते हैं। उनमें सार क्या है? यह आत्म पदार्थों में ऐसा अनुभव करना कि जगत् में सब कुछ होता है, धर्म है, अधर्म है, पुद्गल है, काल है, आकाश है, पर एक जीव न हो, एक चैतन्यपदार्थ न हो तो क्या हो? व्यवस्थायें न हों, कुछ चहल पहल न हो। इन सबका जानने वाला, इन सबमें व्याप्त यह जीव पदार्थ ही सबका व्यवस्थापक है। सबको जानने देखनेका ही इसका स्वभाव है। कितना भी दूर हो, इस आत्मामें कुछ सत् हो तो यह शक्ति है कि उन सबको जान लेता। सामने हो या पीठ पीछे हो लेकिन ज्ञान सबका रहेगा। कोई पदार्थ कहीं भी रहे। सामने हो तो क्या है? ज्ञान तो अमूर्ततत्त्व है। इसमें स्वभावसे ही ऐसी कला है कि जो कुछ भी हो इसके जाननेमें आ जाता है। जाननेका जिसका स्वभाव है वह मैं आत्मा हूँ। उस आत्माका महत्व क्या होता है? इस आत्माके महत्व को बतानेका कोई दावा करे तो वह विद्वानोंमें हंसीका पात्र है। उस हमारी आत्माका महत्व और क्या हो सकता है?

जगत्के जितने भी जीव हैं सब भगवान् स्वरूप हैं। राम, विष्णु, ब्रह्मा, हरि और बड़े राजा महाराजा जो महापुरुष हुए हैं, जितने भी हैं, वे सब क्या हैं? उस आत्माकी ज्योति ही तो हैं, उस आत्मास्वरूप ही तो हैं। निगोदसे लेकर सिद्ध तक जो जितने विकास हैं वे सब इस आत्मामें ही तो हैं। कितने प्रकारके भोग विलास रहें? यह आत्मा वह है जिसमें अनन्त गुण हैं। यों तो कहनेमें ४,६ आवेंगे पर गुण अनन्त हैं। ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा, चारित्र, आनन्द, योग, शक्ति आदि अनेक गुण हैं। उन गुणों में से केवल एक गुणको लें तो इसमें अनन्त पर्याय हैं। उन पर्यायोंमें से एक पर्यायको लें तो एक पर्यायमें अनेक अविभाग प्रतिच्छेद हैं। प्रत्येक अविभाग-प्रतिच्छेदोंमें अनन्त रस हैं ऐसे अनन्तरसका पिंड यह मैं आत्मा हूँ। परन्तु जो अब इस आत्माकी दशा हो रही है वह इन्द्रियोंके विषयोंके वशीभूत होकर हो रही है। इन्द्रियों से इस आत्माका लेन-देन कुछ नहीं है। फिर भी इस जीवने स्वयं भ्रम करके, अज्ञान बना करके अपने को ऐसा बना रखा है कि न इसकी इन्द्रियोंमें शांति है, न विषयोंमें शान्ति है। शांति तो परमात्मतत्त्व से होती है। अगर हम मान लें कि हमें शांति नहीं है तो हमें समझ आयेगी कि इन्द्रियोंके विषयों ने ठग लिया है।

देखो तिर्यज्ज्योंमें हिरन है, हाथी है, मछली है, भंवरा है, ये जीव एक एक विषयमें तन्मय होकर मरणको प्राप्त हो जाते हैं। पर इस मनुष्यकी दशा तो देखो यह तो सर्वविषयोंके आधीन है। जो समागम पाया उसका भी उपयोग विषयोंके लिए किया। इस मोही प्राणीने कभी धर्मका सेवन भी किया तो भोगके निमित्तसे किया। परिवार सुखसे रहे, मुकदमेमें विजय हो, पैसा मिलने आदिकी भावनायें धर्मसेवन से हो जाती हैं। धर्मपालन किया तो भोगके खातिर किया। केवल राग, अज्ञान, मोहमें आकर धर्मका पालन तो किया, मगर वह भोग के निमित्त हो रहा है। आत्माके लिए धर्म का पालन नहीं किया। आत्मा या स्वरूपमें ज्ञान दृष्टि रहना तो इस आत्माके स्वभाव का काम है। इसका काम बस प्रतिभास मात्र जो सत् है वह झलक गया, बस इतना मात्र काम है। इसके आगे आत्माका काम नहीं है। आत्मामें देखो तो समस्त प्रदेशों में ज्ञान और आनन्दरस ही भरा है, पर उसमें रुचि नहीं है। जीवका उपयोग बाह्य की ओर है, पर उस उपयोगमें शांति न मिल सकेगी। अपने आपको देखो तो सब पदार्थों को त्यागकर ऐसी बुद्धि बन जाय कि यह तो मैं चैतन्यमात्रस्वरूप ही हूँ तो आत्माको शांति प्राप्त हो सकती है। यदि इस बुद्धि से विलग हुए तो शांतिका कुछ पता है क्या? विषयोंमें पड़कर भोग किया, मरणके समय क्लेश और विकल्प होंगे। यों विषयभोगका ही मार्ग लिया, यह तो शांतिका मार्ग नहीं है। शांति अपने ही अन्दर अपने आपसे ही प्रकट होती है। ऐसा यह महान् आत्मा इन्द्रियों के विषयोंके कारण ठगाया गया, ये इन्द्रियां तो सुन्दर लगती हैं पर आनन्दकी जगहपर क्लेश भोगना पड़ता है। औरकी बात छोड़कर अपनेमें आवो, क्योंकि बड़ी अवस्था हो जानेपर फिर पछतावा होता है। इतना समय व्यर्थ कर दिया, दुःखोंमें, चिन्ताओंमें समय गुजर गया। जो समय गुजरा वह समय वापस नहीं आता।

देखो उम्र १० वर्षकी हो गयी, ज्ञानकी वृद्धि हुई, बाह्य सिलसिले चलने लगे। युवावस्था आ गई। युवावस्थामें भी ज्ञान नहीं मिला। वह अवस्था भी दुःखोंमें ही बीत गई। अब वृद्धावस्था आ गई तो पछतावा करते हैं। अरे अब तो सही परिणाम बनाओ, अभी काम बन जायगा। रागमें, मोहमें, विषयोंमें आत्माको शांति नहीं प्राप्त हो सकती है। जगत्के कौनसे जीव तुम्हारे हैं जो राग करते हो। केवल मायामय मूर्ति ही तो देखते हो कि आत्मा भी देखते हो। अच्छा, तुम राग किससे करते हो? क्या शरीरसे, इस अशुचि पिंडसे? इससे तो करते नहीं। तब क्या आत्मासे करते हो? आत्मा तो अमूर्त चैतन्यमात्र है। जैसा एक चेतन है तैसे सब चेतन हैं। अतः आत्मस्वरूपके जाननेपर व्यक्तिभेद तक भी नहीं रहता, फिर राग ही क्या करोगे? यही मायामय मूर्ति ही तो देखते हो। वह कुछ प्रीतिकी चीज है क्या? आत्मासे प्रीति करना है तो आत्माके स्वरूपको देख। वह आत्मा एक ज्ञान भाव मात्र है। जाननमात्र, आकाशकी तरह, अमूर्त किन्तु एक ज्ञानगुणको लिए हुए है। एक विलक्षण पदार्थ है। वह तो वह है और ऐसे ही सब हैं। स्वभाव और आत्मामें भेद ही नजर नहीं आता। मुझ ज्ञानमात्र आत्मतत्त्वको देखता ही कौन है? अरे देखनेसे राग नहीं आ सकता है। वह ज्ञातादृष्टा ही रह सकता है। उस आत्मासे कौन प्रीति करता है? ये जितने भी बाह्यपदार्थ हैं वे सब बिल्कुल असार हैं। इनमें हितका नाम ही नहीं। यदि पर पदार्थों से अपना हित मानते हैं तो समझें कि हम भ्रममें पड़कर उल्टे मार्गमें चल रहे हैं।

अरे इन विषयोंके मार्ग को छोड़ो और अपने स्वरूपमार्गमें आवो, जिसमें उस सहज स्वरूपके ज्ञानानन्दमय आत्मतत्त्वके दर्शन होंगे। वह तो प्रभु पवित्र है। जैसा प्रभुका आनन्द है वैसा ही आनन्द उसका है। मैं अपने स्वरूपको देखूँ बाकी सब व्यर्थ हैं। जगत्का कौनसा ऐसा तत्व है जो हितकर हो? फिर कौनसी बातमें अहंकार हो? आज दस लक्षों का दूसरा दिन है और मार्दव धर्म है जिसका अर्थ है कोमलता, नम्रता ऐसी विनम्रता हो जो खुद खुद में समा गयी हो, खुद खुदमें ही विलीन हो गयी हो। ऐसे आत्मानुभवका रस पी लो। यही शुद्ध आत्महितका मार्ग है। जगत्के अन्य पदार्थों को तू न मान। कौनसे पदार्थ तेरे हैं? कोई नहीं। प्रत्येक पदार्थ अपने अपने ही सत् हैं और फिर विनाशीक हैं। नष्ट हो जाने वाले भी हैं। कौन सी ऐसी वस्तु है जो सदा रहती हो? भगवान् स्वामी समन्तभद्रने कहा है—

स्वास्थ्यं महात्यन्तिकमेव पुंसां स्वार्थो न भोगः परिभंगुरात्मा।

तृषोनुषंगान् च तापशन्तिरितीदमाख्यद्भगवान् सुपाश्वः॥

कहते हैं कि जीवका आत्यन्तिक स्वास्थ्य क्या है? अथवा उसका वास्तविक स्वार्थ क्या है? आत्मप्रयोजन क्या है? सदाके लिए स्वस्थ हो जाना यही जीवका परम स्वार्थ है, परम हित है। स्वास्थ्य कहते किसे हैं? स्वस्मिन् तिष्ठति इति स्वस्थः, स्वस्थस्य भावः स्वास्थ्यम्।” अपने आपमें ठहरे रहनेकी बात को कहते हैं स्वास्थ्य। सदाके लिए अपने आपमें रम जावो, ठहर जावो— ऐसा जो स्वास्थ्य है वह उत्कृष्ट स्वार्थ है। यह भोगविलास स्वार्थ नहीं, वह तो क्षणिक है। भोगकी प्रीतिमें केवल खोया हुआ है। देखो मोही जन जो कर रहे हैं वह सब कल्पनाके समय सस्ते लगते हैं पर ये भोग ये विषय बड़े महंगे पड़ेंगे। हाथ पैर मिलते हैं, मन मिलता है, बहुतोंमें हुकूमत चलाई जा सकती है, बहुतोंसे बात बनाई जा सकती है। इस प्रकारके विचारों वाले प्राणीका स्वरूप या सर्वस्व खोया हुआ रहता है। वह नरक वाली योनियोंमें भ्रमण करता रहता है। जन्म मरणके चक्रमें पड़कर वह कीड़े मकौड़े हो जायेगा और उसे सदा दुःख ही दुःख होंगे। देखो तो गजबकी बात हमारी यह विविध सृष्टि इतने जीवोंके रूपमें कैसे बन गई? यह सब प्रकृति की उपाधि में चेतन प्रभुकी अवस्था है। परमार्थसे तो मैं एक शुद्ध आत्मतत्त्व हूँ। यदि बाह्यपदार्थों में दृष्टि लगी है तो पतन है और यदि स्वमें दृष्टि लगी तो उत्थान है। जो शुद्ध आत्मतत्त्व, वीतराग सर्वज्ञ निर्दोष भगवान् आत्मा अरहंत एवं सिद्ध हैं और ऐसे शुद्ध बननेके प्रयत्नमें जो लगा रहता है वह साधु है। ऐसा ज्ञानमय, चारित्रमय, चरित्रमात्र मैं सत् हूँ। अपने आपमें तन्मय हुआ ज्ञानानन्द आदि त्रिकालिक शक्तियोंमात्र जो जो अनंत विलासको लिए रहती है। जो अनेक प्रकारके पर्यायोंको धारण करता है फिर भी वहीका वही है। वह चैतन्यप्रभु मैं हूँ। इसका ही पूर्ण विकास अरहन्त व सिद्ध भगवान् हैं। ऐसे शुद्ध भगवान् की उपासना करें तो यह हमारे उत्थानकी बात है। शुद्ध के आश्रयसे शुद्ध होता हूँ और अशुद्ध के आश्रय से अशुद्ध होता हूँ। वर्तमानमें तो मैं शुद्ध नहीं, भगवान् शुद्ध हैं तो किसके लक्ष्यसे मैं शुद्ध बनूँ? स्वरूपको लक्ष्यमें लूँ तो मैं शुद्ध हो सकता हूँ शुद्धका लक्ष्य करनेसे आत्मा शुद्ध हो गयी और अशुद्धका लक्ष्य करनेसे आत्मा अशुद्ध हो गयी। अब क्या पसन्द करोगे कि आपकी आत्मा अशुद्ध हो कि शुद्ध हो? अब देखो शुद्ध आत्मा क्या है? जिसकी आत्मा रागी है, द्वेषी है, जो विषय कषायोंसे

भरा हुआ है, सो घूम रहा है ऐसी आत्माको अशुद्ध कहेंगे। उसके लक्ष्यसे शुद्धि नहीं होगी तथा भगवान् परमात्मा है। परका लक्ष्य परमार्थसे होता नहीं। उनके ध्यानसे, उनके आश्रयसे आत्मा शुद्ध नहीं हो सकती है। परमार्थ से देखो तो इस आत्मा के लिये यह महान् शुद्ध द्रव्य कहलाता है। कहते हैं कि मैं प्रत्येकसे न्यारा अपने आपमें तन्मय हूँ इस आत्माके अतिरिक्त जितने भी पदार्थ हैं उन पदार्थों पर मेरा अधिकार नहीं है। मैं ही वह उपास्य हूँ, मैं ही परमात्मतत्त्व हूँ— इस प्रकारका तू मनमें विचार कर। तू उन बाह्य पदार्थों का ध्यान न कर। तू उनको ज्ञानका विषय न बनाकर अपने ही ज्ञानको परिणमन कर अर्थात् अपने ही भावों का ध्यान बनाकर तू परमात्मोपयोगी बन। परद्रव्योंमें ध्यान देकर कोई परमात्मा नहीं बन सकता है। सो एक तो यह बात है। दूसरी बात यह है कि वह अपने शुद्ध परिणमनको छोड़कर लुटेरे घसीटों का हाथ पकड़ मोक्षमें ले जाय, ऐसा हो नहीं संकता। अपने आपको ही देखो कि मैं आत्मा शुद्ध हूँ, सबसे निराला हूँ। अपने शुद्ध आत्मतत्त्वकी दृष्टिसे तू पार होगा। तू परमें दृष्टि लगाकर माया, मोह आदि में पिसा जा रहा है। तो ऐसा करनेसे क्या हम शुद्ध बन जायेंगे, नहीं। हम आत्मा की श्रद्धा करके शुद्ध बन सकेंगे और आत्माकी श्रद्धा न कर सकें तो शुद्ध न हो सकेंगे। तब फिर शुद्ध होनेका उपाय क्या है? इस आत्माका जो शुद्ध सहजस्वरूप है, शुद्ध स्वभाव है, वह स्वतः सिद्ध आत्मतत्त्व है। मैं शुद्ध आत्मतत्त्वकी श्रद्धा करनेसे शुद्ध हो संकता हूँ। हमारे इस कूड़े कचरे शरीरके भीतर जो चैतन्यस्वरूप है, जो ज्ञानमें आ रहा है उस शुद्ध आत्मतत्त्वको लक्ष्यमें लें तो यह गंदगी, कूड़ा करकट नष्ट हो जाता है। हम अपनी आत्मा तथा ज्ञानदृष्टि के बहुत भीतर चलकर शुद्धतत्त्वको जान सकते हैं। वह कोई एक पिंड जैसी चीज नहीं, बल्कि ज्ञानको लिए हुए है। ऐसा यदि अपना ध्यान नहीं करेगा तो जगतमें तेरा कोई शरण नहीं है। बाहरमें जो शरण माना है वह तेरे कोई नहीं है। वे सब स्वार्थी हैं, अपने अपने विषयोंमें वे लगे हुए हैं। वे सब अपने ही प्रयोजनमें लगे हुए हैं, वे मुझसे बात ही नहीं करते हैं, वे मेरा कुछ नहीं करते हैं। तो हम किसकी शरणमें जावें? अरे वह तेरे लिए संकट है उनसे तुझे शरण नहीं मिलेगी। तेरी शरण तुझे तेरी प्रभु आत्मामें ही मिलेगी। मैं अन्तर्दृष्टि करके देखू तो वह ज्ञानस्वरूप है, ज्ञानस्वभाव है। शरण तो सही मैं वह हमारा प्रभु है, भगवान् है, परमात्मा है, वही हमारा रक्षक है। तूने परको निज समझ लिया तो वह तेरे नहीं हो गए। वह तेरे हो नहीं सकते हैं। अन्यमें दृष्टि करनेसे हम बहुत गलत रास्तेमें बहे चले जा रहे हैं। तो लौटना भी हमें उतना ही पड़ेगा। जैसे यदि हमें कलकत्ता जाना है और हम पश्चिममें चले जावें तो हमें वहांसे लौटना ही पड़ेगा। इसी प्रकार यदि हमारी दृष्टि परमें है तो हमें उतना ही उन सबसे निवृत्त होकर निजस्वरूपकी ओर दृष्टिको लाना पड़ेगा। यदि हम बाहरी तत्वोंको उपयोगमें लाने लगे, अपने परिवार तथा मित्र जनोंको सर्वस्व मानें तो मुझे मेरा प्रभु नहीं मिल सकेगा। यदि हम विषयभोगोंमें आसक्ति न करें, अन्य तत्वोंको अपने उपयोगमें न लें कुटुम्ब, परिवार तथा मित्र जनों को अपना सर्वस्व न समझें तब हमारा प्रभु हमें मिलेगा। जैसे कोई मुसाफिर भूलकर ५०० मील आगे चला गया हो तो उसे उतना ही तो लौटना पड़ेगा सही मार्ग पर आनेके लिए। इसी प्रकार इस जीवको जो अपने आपको भूलकर परमें दृष्टि लगाए हुए है उसे भी सर्व परसे निवृत्त होकर अपने निजस्वरूपको

पहिचानना होंगा। देखो, अपने धन, वैभव, कुटुम्ब, परिवारसे सबको प्रीति है पर अपने ज्ञानस्वरूपसे प्रीति नहीं है। ज्ञानस्वरूपमें प्रीति करनेमें तो कहीं रुकावट नहीं है। तू अपने निजस्वरूपसे प्रीति कर।

एक दुकान मालिक यहां बैठा है। कल्पना कर लें कि मैं अपनी दुकानमें गया, दुकानकी तिजोरी खोली, तिजोरीमें सन्दूक है, सन्दूकमें डिब्बा है और उस डिब्बेमें कपड़ेमें बंधा हुआ हिरा रक्खा है, उसमें अंगूठी रक्खी है तो वहां तक ज्ञानके पहुंचने में कमरा कोई बाधा नहीं कर सकता है। तिजोरी वगैरह कोई बाधा नहीं डालते। अरे तू अपने ज्ञानकी रुकावट न कर। ज्ञानकी रुकावट तो विषयकषायसे होती है। ज्ञानके आ जानेसे बाधाये नहीं फैलती हैं भाई इन विषयों में पड़ करके ज्ञानको खोए हुए हो। इन विषयोंमें पड़नेसे तेरा कोई रक्षक नहीं। तेरी रक्षा करने वाला रुकावट करने वाला तू ही है। तेरे में ज्ञान है, जरा अपने अन्तरमें दृष्टि तो दो। यथार्थ विकासों के बिना तेरे को बड़ा कौन कर सकता है? इन विषयोंमें यह दम नहीं कि तुझे बड़ा बना दें। हे आत्मन्! तेरी रुकावट करने वाला ही तू है। तेरी ही सैन पाकर कर्म व विषय प्रबल होते हैं। जैसे मालिक के साथ कुत्ता हो। यद्यपि कुत्तेमें कुछ दम नहीं, परन्तु मालिकके छूछू करने पर कुत्ता बलिष्ठ बन जाता है। वह नहीं देखता है। कि यह युवक पुरुष है, इससे न जीत सकूंगा, पर वह आक्रमण कर देता है। इसी प्रकार आत्माके विषय कषायकी सैन पाकर ये इन्द्रिय विषय दुःखदाई हो जाते हैं। इस आत्माको जब निजकी पहिचान मिल जाती है तो यह बाह्यकी इच्छा नहीं करता है और अपने निजस्वरूपकी उपासना करता है। इस निजस्वरूपकी पहिचानसे ही आत्मा बलिष्ठ हो जाती है।

अतः यदि हम अपने निजस्वरूप पर दृष्टि दें तो हम सुखी हो सकते हैं। यदि मैं निजस्वरूपमें दृष्टि न दे सका, बाह्यपदार्थों के ही संयोग में रहा तो जीवन भर ही उसे दुःखी रखता हूँ। यही पहिलेसे सोच लें। किसीमें ऐसी सामर्थ्य नहीं जो हमें सुखी कर दे। परको जिसने अपना इष्ट माना है वे दुःखी होते हैं। यदि वह विषयोंमें आसक्त है तो उससे दुःख होते हैं। यदि विषयों में आसक्त रहे तो विषयों में कोई ताकत नहीं कि उसे सुखी कर दें। सर्वथा सुखी होना तथा दुःखी होना अपने ऊपर ही आधारित है। दूसरोंके सुखी करनेसे सुखी नहीं हो सकता और दूसरोंके दुःखी करनेसे दुःखी नहीं हो सकता। मैं दूसरोंके दुःखी करनेसे दुःखी होऊँ तो इसका अर्थ है कि मेरी आत्मा में बल बुद्धि नहीं है। ऐसी कल्पना करने वाली आत्माओंको परार्थीन आत्मायें कहते हैं। हम बाह्यमें दृष्टि न करें तो हम परार्थीन नहीं होंगे। मुझे परार्थीन होनेसे ही दुःख होता है अर्थात् अपनी दृष्टि बाह्यमें लगा दूँ तो मुझे दुःख होता है। बाह्यमें मेरा कुछ नहीं है। मेरेको बाह्यसे कुछ मिलता भी नहीं है। पर मैंने मन बना लिया है कि पर मेरे सब कुछ हैं, उनसे हमें बहुत कुछ मिलता है। यही कारण है कि दुःख होते हैं। अरे बाह्यपदार्थोंसे तुझे गौरव के लायक कुछ मिलता है? शरीर है तो वह भी असार, धन-वैभव है वह भी असार है। वह किसीके लिए भी सार नहीं हो सकेगा।

तू तो अकेला है, ज्ञानानन्दमय है। ज्ञान और आनन्दके परिणमन कर रहा है। बाहर कुछ नहीं है। तू अपने पर कृपादृष्टि रखे तो आध्यात्मिक चक्रवर्ती बन जाय। तू बाह्यसे अपनी बुद्धि छोड़ दे, तू

अपने बाह्य उपयोगोंको छोड़ दे, और अपने आन्तरिक उपयोगोंमें आ। यदि तू अपने आन्तरिक उपयोगोंमें आया तो सुख होंगे और यदि बाह्यमें तूने अपना उपयोग बनाया तो तुझे दुःख होंगे और तुझे पागल बनना पड़ेगा। भाई, देखो कितनी पवित्र यह आत्मा है। यह आत्मा निरन्तर विषयोंसे भी ठगाई गयी, फिर भी यह आत्मा अपने आपमें स्वभावसे ठगी नहीं गयी। तू अपने शुद्ध आत्मा का अनुभव तो कर तो तेरे संमस्त क्लेश समाप्त हो जायेंगे। यदि तू अपने आपको अनुभव न कर सका तो तू ठगाया जायगा। तुझे क्लेश होंगे। तूने यह कल्पनायें बना रखी हैं कि विषयोंसे सुख है इसलिए तू उन विषयोंमें ही समय लगा रहा है। हाय, तू विषयोंमें पड़ रहा है। अरे विषय ही तुम्हें दुःखी बना देते हैं। अगर मोह, राग, माया बनें तो ये भी विषय हैं। इनसे भी तू पराधीन हो जायगा। तू पराधीन मत बन। यदि ऐसी दृष्टि बन गई कि यह मेरा है, यह पराया है— इससे अहंकार प्रतीत होता है। अरे ऐसा कुछ नहीं है। मैं तो सबसे न्यारा हूँ, यदि ऐसा उपयोग बन जायगा तो तेरा उत्थान होगा और यदि ऐसा उपयोग न बन सका तो तेरा पतन होगा और संसारमें रुलना पड़ेगा।

यथार्थ बात तो यह है कि सुख दुःख अपनी समझपर ही निर्भर हैं। तू अपनी आत्मामें ही विश्राम कर। वहीं तुझे शरण मिलेगी और यदि तूने अपनी आत्मामें विश्राम न किया तो संसारमें भटकना पड़ेगा, तुझे सहारा कोई नहीं देगा। यहां तक कि मरणके समय भी तुम्हें सहारा नहीं मिलेगा। तेरा शरीर भी तुझसे मिला नहीं रहेगा। परिवारके लोगोंको खूब खिलाया, पिलाया, अपने सब सुख दुःख भूलकर परिवारके लोगोंकी सेवा भी की पर अंतमें कोई किसीका नहीं हुआ। तेरा साथी तू ही है और कोई दूसरा नहीं है। चक्रवर्तियोंके साथ भी कोई नहीं रहेगा। ये जो बाह्य पदार्थ हैं वे भी हमारे नहीं होंगे। यह जो संसारका नृत्य है वह आप निजके स्वरूप की भूलसे ही होता है। अतः बाह्यदृष्टिको छोड़कर अब अपने आत्मस्वरूपमें दृष्टि दूँ और अपनेमें अपनेलिए अपने आप सुखी होऊँ।

पूर्णदृग्ज्ञानसत्सौख्यी सिद्धात्मा देशतोऽप्यहम्।

पूर्णश्च भवितुं शक्यः स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥१५८॥

अर्थ— सिद्धात्मा पूर्णदर्शन ज्ञानशक्ति सुखस्वरूप है मैं भी एक देशसे शक्तिकी अपेक्षा दर्शन ज्ञानशक्ति सुख दशा रूप हूँ और पूर्ण होनेके लिये समर्थ हूँ अतः अपनेमें अपनेलिये स्वयं सुखी होऊँ।

सिद्ध, आत्मा पूर्णदर्शन, पूर्णज्ञान, पूर्णसुख और पूर्ण शक्तियोंसे सम्पन्न है। यह मैं आत्मा एक देश दर्शन, एक देश ज्ञान, एक देश सुख और एक देश शक्तिसे युक्त हूँ। किन्तु मैं वैसा ही पूर्ण, वैसा ही सर्वज्ञ होने योग्य हूँ। मेरी और प्रभुकी जाति एक है। हम और वह सिद्ध वस्तुसे एक हैं। मैं चैतन्यमात्र हूँ। जैसा सर्वोत्कृष्ट ज्ञानानन्दधन प्रभु है वैसा मैं हूँ। केवल जरा आविर्भाव तिरोभावका अन्तर है। यह अन्तर कैसे किया? हमने अपने अपराधसे किया। निमित्त कुछ भी हो, मगर अपराध हम ही करते हैं। और उसके ही करनेसे मुझमें हैरानी होती है। यह तो स्वभावसे ही असीम विकास वाला है। इसका अपराध मैं ही तो करता हूँ, अपराधका कारण मैं हूँ, किन्तु प्रभु पूर्ण है इसका कारण नहीं। जैसे कभी बच्चोंको मेंढकका खिलौना दिया जाता है। मेंढकका खिलौना टीनका बना हुआ है। उसमें पत्ती नीचे लगी रहती

सुख यहाँ प्रथम भाग

है और पासमें चिपड़ा लगा रहता है जिससे वह चिपक जाता है। मेंढकको कभी पत्तीसे चिपकाकर रख देते हैं तो वह छूटकर छिटक छिटककर उसी जगहपर उछलता है। उसके उछलने के मायने यह नहीं कि उसका कुछ यत्न किया जाता है। वह छूटते स्वभावसे उछलता है। उसमें कुछ करना नहीं पड़ता है। एक किवाड़ अपने आप लग जाते हैं। किवाड़ खोलनेमें तो यत्न करना पड़ता है, पर लगाने में कुछ नहीं करना पड़ता है, छोड़ा और लग गए। जो जैसी स्थितिका है उसके लिए यत्न नहीं करना पड़ता है, क्योंकि उसमें कारण है। उसके खिलाफ बात है तो यत्न करना पड़ता है, क्योंकि उसमें भी कारण है। हमारे ज्ञान कम है वह इसका कारण है और भगवानका ज्ञान सारे संसारमें विकसित है उसका कोई कारण नहीं है। वह स्वभावसे ही विकसित है। वह बीचमें नहीं पैदा हुआ है। अभी अल्पसुख है, फिर दुःख होंगे, फिर सुख होंगे। इसमें कारण चलता है, पर आत्मीय आनन्द है तो इसमें कोई कारण नहीं है।

आत्माका स्वरूप ही है कि वह आनन्दमें रहा करे। भगवान पूर्ण ज्ञानमय है, पूर्ण दृष्टिमय है, पूर्ण आनन्दी है, पूर्ण शक्तिवान् है। इस शुद्ध विकासके बने रहनेका कोई कारण नहीं है। क्यों कारण नहीं है, क्योंकि वह स्वभावतः ही अपने आप जैसा स्वरूप है तैसे वे हैं। सर्वत्र ही देख लो किसीका ज्ञान बड़ा है और किसीका छोटा है। इस ज्ञानकी आकुलताके कारण है। यह मोटा दृष्टान्त दे रहा हूँ। जलको अग्नि या धूप में रख दें तो उष्ण हो जायगा, उसका कुछ कारण है। आत्मा शांत रहे इसका कारण नहीं है। आत्मा सर्वज्ञ है, परमानन्दमय है तो इस आत्माकी क्या तारीफ है? क्या कमाल है? अरे उसका तो यह स्वभाव ही है। तारीफ तो उन संसारमें रहनेवालोंकी है जो तिर्यञ्च बन जाते हैं, कीड़े मकौड़े बन जाते हैं। भगवान्की हालतमें क्या कमाल है, वह तो स्वयं ही शुद्ध है। कमाल तो इनमें है जो कैसे थे और पेड़ हो गए, पत्तियां लग गयी, वाह, वाह आत्मा कमाल तो तेरा है। भगवान तो एक पदार्थ है। शुद्ध है, अकेला रह रहा है। भगवानका जो अन्तिम शरीरके प्रमाणका आकार रहता है उसकी वजह यह है कि पहले जैसे शुरूमें थे, जब तक वह शरीरमें रह आए तब तक कर्मों का उदय कारण था। जैसा कर्मोदय था तैसा उनको शरीर मिला, तैसा ही आत्माका प्रसार हुआ। अन्तिम समयमें जो मिला उस शरीर में आत्मा थी। पहले तो यह हुआ कि आत्मा फैलती है तो कर्मके कारणसे आत्मा सिकुड़ता है तो कर्मके कारणसे, जैसा कर्मका उदय है उस ही प्रकार का आत्मा सिकुड़ता और फैलता है। अब अंतमें शरीर भी चला गया तो जब शरीर छूटा तो अब कोई प्रस्तावको रख देवे कि इस आत्मामें क्या होना चाहिए? जिस शरीरसे मोक्ष गए उस शरीरसे आत्माको फैलाकर बड़ा बनाना चाहिए या छोटा बनाना चाहिए। यदि बड़ा बनाना चाहते हो तो क्यों बड़ा बनाओगे और यदि छोटा बनाना चाहते हो तो क्यों छोटा बनाओगे? यह बड़ा और छोटा तो कर्मोदयका कारण हुआ करता है।

जब नामकर्मसे मुक्त बन रहे हैं तो न फैलनेका कारण है और न छोटा होनेका कारण है। इसी तरह सिद्ध भगवान जिस शरीरको छोड़कर मुक्त होते हैं। वह जितने प्रमाण थे उतने प्रदेशमें वह रह जाते हैं। मैं एक शुद्ध निराला पदार्थ हूँ। जैसा स्वरूप भगवान का है तैसा मेरा है। तो जैसा उनका स्वरूप है वैसा ही है। आचरण नहीं बदलता है। देखो यह स्वरूपकी भक्ति है। यह प्रभु की भक्ति में देखा

है कि यह प्रभु क्या है? हम जो हैं सो ही रह रहे हैं। जैसा स्वरूप है तैसा ही सिद्धि का विकास हो गया। अब प्रभुमें रागबाजी नहीं चल रही है। क्षणमें कुछ, क्षणमें कुछ, लीलायें संसारी प्राणी रचा करता है। पर मांलूम पड़ता है कि यह प्रभु प्रभुताकी ऐसी लीला करके थक गया है, इसलिए प्रभुने लीलायें बंद कर दी हैं।

यहां देखो—वाह रे संसारी प्राणी! तेरा तो थकनेका काम ही नहीं है। तू तो अनेक कल्पनायें करता है, समागम करता व संयोग वियोगके विकल्प तथा अनेक कर्मण्यतायें करता है। आजसे ५० वर्ष पूर्व तू किस योनि में रहा होगा? वहां क्या कोई कल्पनायें थीं कि यह घर द्वार मेरा है, यह धन वैभव कुटुम्ब, परिवार मेरा है और अब यहां क्या कल्पनायें करने लगा? जब मैं यहांसे जाऊंगा तो यह कल्पनायें रहेंगी क्या? कितना श्रम कर यह संसारी कार्य कर रहा है। तू कितना कर्मठ बन रहा है। विकल्प, निरन्तर विकल्प, यह छोड़ा वह छोड़ा और यह क्या है? यह सब सांसारिक आपदायें हैं। जैसे किसी बड़े संग्राममें बड़े सिपाही को चैन नहीं, छिप-छिपकर खेल खेलकर गोली चलाये, दौड़े भागे। इस प्रकारसे दुनियाके लोग श्रम कर रहे हैं। इस तरहसे यह प्रभु इस संसारमें नाना खेल कर रहा है। आंख मिच गई कि आगे उसका कुछ पता नहीं। आगे गया और ढंगका बन गया और आगे बढ़ा तो कल्पनायें करके और ढंगका बन गया। यों कल्पनायें करके दुःखी होता है। कोई भी इसका कुछ हो तो बतला दो। क्या है इसका, मगर कल्पनायें इतनी बड़ी बना लेता है। सो हे प्रभु! आपने भी यह सब भारी काम किया। बड़ी कर्मठतासे ८४ लाख योनियोंमें चक्कर लगाये, अनेक लीलायें खेली। अब मालूम होता है कि उन कलाओं से तू थक गया है और थक करके ही उन अपनी लीलाओं को छोड़ दिया है।

हे प्रभु! तुम शुद्ध पदार्थ हो, शुद्ध आत्मा हो। अरे अशुद्धि को मेटो तो शुद्ध हो जावो। अशुद्धि मेटो तो उसका परिणामन अच्छा हुआ। क्या गजब हो गया, हां महान् जरूर हो। यहां पर क्या है? स्त्री हो गई बाल बच्चे हो गए। अरे हो गए तो इनसे तुम्हें क्या मिला? लाखों और करोड़ों रुपयों का धन उनके लिए जोड़कर भर दिया। अरे वह सब साथ में जाता नहीं, फिर क्यों इतना माया मोह के चक्कर में फंस रहे हो। इस तरह से यह प्राणी माया मोह में रहकर ही जीता है। अपने आत्मस्वरूप को भूल जाता है और बरबाद हो जाता है। इन वाह्यपदार्थों में कहां सुख है? सब वाह्यपदार्थों को ही देख रहे हैं, पर में ही सुख की बातें सोच रहे हैं और यह वाह्य सब झंझट हैं। अपनी दृष्टि को ठीक-ठीक अपने ही स्वरूप में डालो तो झंझट तुम्हें नहीं मालूम पड़ेंगे। प्रभु पूज्य अवस्था तो यह तुम्हारी ही है। इस प्रभु ने जैसा आनन्द किया है वैसा ही आनन्द इस मेरी प्रभु आत्मा में भरा है। बस अशुद्धि मेटने लगें, मिल जायगा। जैसे पैर के आगे पैर रखकर चलें तो हम मंजिल पर क्यों नहीं पहुंचेंगे। चलने से ही हम आगे पहुंचेंगे और बैठने से हम बैठे ही रहेंगे। यदि तूने बैठने का ख्याल किया तो बैठा ही रहेगा और यदि चलने का ख्याल किया तो आगे बढ़ जायगा। अपने भगवान के पास कैसे नहीं पहुंचोगे? अरे पैर भी थक जावें तो सोचो कि अभी मेरे पास ही तो है। यदि थक भी जावोगे तो हिम्मत तो बनी रहेगी। इस तरह अशुद्धि को मिटा दो, अभी यह काम बन जायगा। मोक्ष में पहुंचने के लिए कोशिश करो।

परमार्थ से देखो तो उस में रुचि जायगी। जैसे कोई काम करता है, हलुवा बनाना सीख रहा है तो उसमें उसकी रुचि होती है, उत्साह होता है। इसी तरह शुद्ध हो रहा हो, आनन्द हो रहा हो, दर्शन हो रहे हों, उस अपने के निकट पहुँच रहा हो तो उसमें उस की रुचि बढ़ेगी, उसका उत्साह बढ़ेगा।

कोई घटना ऐसी आ जाय कि जिससे हजार पांच सौ मिलते हो, मगर उसमें झूठ या अन्याय करने की नौबत हो, उस समय सच्चा निर्णय करने के लिए दिल बना रहे। झूठ न बोलो, सच्चाई में दिल बना रहे और यह देखो कि हजार पांच सौ जाते हैं तो जाने दो। उन हजार पांच सौ जाने से भी बड़ा आनन्द मानो। और यह बात मानो कि मुझे बड़ी प्रसन्नता है। उसने अपने से अशुद्धि को मिटाया और जो शुद्ध है उससे ही प्रसन्न हुआ। तो भैयासंतोष की बात यही है कि अपनी अशुद्धि को मिटाओ और शुद्धि को पहिचानो। इसी प्रकार से अशुद्धियों को बाहर करते करते वह मंजिल आ जायगी और ज्यों-ज्यों मंजिल निकट आती जायगी त्यों-त्यों संतोष बढ़ता चला जायगा, आनन्द का अनुभव होगा।

एक मुसाफिर था। वह पैदल यात्रा करते हुए जंगल में रास्ता भूल गया। शाम का समय था। दो तीन मील जाकर भूल गया था और पगडंडियों से चल रहा था। एक घण्टा हो जाने के बाद वह सोचता है कि यदि मैं और आगे बढ़ता ही चला गया तो फिर मुझे भूल निकालने का मौका भी न आयेगा। ऐसा सोचकर वह रुक गया और वहीं रात व्यतीत करने का निश्चय किया। पर चिंता लगी हुई है कि मैं कितना भूल गया? अब मुझे कहां से जाना है? कहां रास्ता मिलेगा? इसी भूल में पड़ा हुआ वह देखता है कि क्षणिक बिजली चमकी। उसने देखा कि सामने सड़क है जिससे मुझे जाना होगा। अब वह निःशंक हो गया। ऐसा निःशंक होकर वह सोचता है कि मैं रास्ता भूल-तो गया हूँ, पर इतनी ही भूल में पड़ा हूँ। यह भूल यों ही मिट जाया करती है तो मिट जायगी। सवेरा हुआ तो सामने देखा कि थोड़ी दूर पर सड़क है, सड़क पर लोग चल रहे हैं। वह भटक गया था, पर संतोष किए हुए था। इसी प्रकार यदि ज्ञानी विषयों से भटक कर अपने ज्ञान को भूल गया तो कुछ भी विवेक हो तो वह भूल को न बढ़ायेगा, रुक जायेगा। कभी उसका ज्ञान सच्चाई को लेकर आता है तो वह समझ जाता है कि यह आत्मदर्शन का मार्ग है, किस पर हमें चलना है? देखो, भूल का मिटाना व ज्ञान का होना दोनों एक साथ होते हैं। इसमें ज्ञान का तो उत्पाद है और अज्ञान का व्यय है। यह सब धर्म पालन एक इस आत्मा पर ही निर्भर है। क्या आनन्द भी आयेगा? हां, इस आत्मा में आनन्द भी आयेगा। आनन्द तो आत्मा का स्वभाव ही है।

जब भूले हुए पथिक को ज्ञान होता है तभी यह उत्साह बढ़ता है कि अब मैं अपनी भूल से उद्धार हो रहा हूँ। अब मैं अपने सही मार्ग में जा रहा हूँ। अब वह ऐसे उत्साह से चलता है कि जो पगडंडियां सड़क से मिला देंगी उन्हीं पगडंडियों से समझकर चलता है। जब सड़क पर वह मुसाफिर पहुँच जाता है तो उसे बड़ा संतोष होता है। अब तो करने योग्य जो काम था कर लिया, अब आनन्द में बढ़ता चला। जहां जाना चाहता था उस स्थान पर पहुँच जाता है। पहुँचकर वह विश्राम कर लेता है। अब बिल्कुल निश्चित हो गया। इसी तरह जगत् का प्राणी अज्ञान के अंधेरे में विषयकषायों की गलियों में

भटक गया, वहीं अपने को भूल गया है। इस भूल में बढ़ने से बढ़कर भूल हो जाती है तो वह सोचता है कि इस भूल से बढ़ो मत, नहीं तो जितनी भूल बढ़ जायगी उतना ही वापिस होने में कठिनाई पड़ेगी। विषय कषायों में मत फंसो, तुम निर्णय कर शांति का मार्ग ढूँढो, बस इसी से प्रेम करना भक्ति होता है। यदि तूने विषयकषायों से अपने को दूर रखा और शांति के मार्ग का पता लगाया तो तुझे संतोष आयेगा, भक्ति आयेगी। तो इन साधनों के बीच रहते हुए कभी अन्तर बिजली चमकती है तो निर्मल अवस्था का अवलोकन होता है और केवल ज्ञानमात्र स्वरूप का निर्णय करता है। शांति का मार्ग यही है। इसी तरह के मार्ग से जो आप चलना चाहें तो मोह और विषयों में जी लगा रहे तो उसको भूलकर सही मार्ग का पता लगाओ। जब उस सही मार्ग का पता लगा लोगे तब तुम्हें शांति प्राप्त होगी, संतोष प्राप्त होगा। जब तू अपनी भूलों में पड़ जाता है, तू विषयों में पड़ जाता है तो संतोष नहीं प्राप्त होता है। यदि अपने को भुलावे में डाल लिया तो शांति का असर उसके दिल में नहीं होगा। यदि वह ज्ञान से अच्छे मार्ग में आ जाता है तो वह संतोष प्राप्त करता है क्योंकि उसे भूल का पता लग गया। यह तो सब भाववस्तु हैं। इनसे मेरा कुछ सम्बन्ध नहीं है। यह कल्पना बना लेने से कि यह परंपदार्थ मेरे हैं उसकी शांति खत्म हो जाती है, मोक्षमार्ग से हटता रहता है और संसार के जन्ममरण के चक्र में फंसा रहता है। उस मोही प्राणी की यही स्थिति बनी रहती है। परन्तु यह मेरे नहीं हैं, ऐसी कल्पना जो बना लेता है उसे संतोष प्राप्त होता है और उसे जन्ममरण के चक्कर से मुक्ति प्राप्त हो जाती है। पानी में कमल का पत्ता पड़ा हुआ है, पानी से वह पत्ता बिल्कुल भिन्न है। पानी का पत्ते पर कुछ असर नहीं। पानी गला है या सड़ा। पत्ता तो सूखा ही सूखा होता है। निकालकर देख लो सूखा ही निकलेगा। यह गृहस्थी प्राणी भी घर में रहते हुए भी सुखी रहता है। कोई उसका पत्ता लगाने वाला नहीं है। घर में रहते हुए भी घर वालों का उस पर असर नहीं है। वह सदा सुखी रहते हैं। जो वाह्यपदार्थों से संतोष प्राप्त करता है वह इस भूल जगत् से हट जावे और अपने निजस्वरूप से ही संतोष प्राप्त करे। जो प्राणी इस जगत् के मोह में पड़कर भूल गए हैं वे यदि अपने निजस्वरूप को देखकर संतोष प्राप्त करें तो वे आनन्दमग्न हो जावें। जिस प्राणी को आत्मसंतोष प्राप्त करना है, आनन्दमग्न हो जाना है उसे सारे आनन्द परिग्रह त्यागना होगा और उसे कुछ काम करना नहीं है। यदि किसी ने महान् पुरुषार्थ किया, कल्याण किया, संन्यास लिया और अपने आपसे प्रेम किया तो वह इस जगत् में आनन्दमग्न हो जाता है। अशुद्धि को दूर किया और शुद्धि को प्रकट किया तो इस मार्ग से चलने पर तो निर्विकार मार्ग में पहुँच जायगा। अपने आपको यदि अशुद्धि में रखा तो विकारयुक्त होकर उसे असंतोष हो जाता है। हे प्रभु तुम कोई बड़ी गजब की वस्तु नहीं हो। जानता हूँ कि अशुद्धि से हटकर शुद्धि के मार्ग में अपने को ले गए हो। हैरानी की बात कुछ नहीं है। गजब कुछ नहीं है किन्तु इसका स्वरूप बहुत महान् है। कैसी अद्भुत शक्ति का विकास है। इस अपने आपको देखने में भक्ति है और बातों में भक्ति नहीं है। यह भगवान् है, बड़ा है, बलशाली है इत्यादि बातों में भक्ति नहीं है। मुझे तो कुछ गजब नहीं दिख रहा है कि भगवान् कोई गजब की चीज है। जैसे बिरादरी में कोई धनी है। कैसा भी हो बिरादरी का तो है। उसे कोई धनी नहीं

देखता। यहां हम बैठे हैं, वहां वह धनी आदमी बैठा है। हम दोनों में कोई अन्तर नहीं दिखता है। तुम्हारी नगर महापालिका का उच्च अफसर जो तुम्हारे बगल में बैठे हैं वे तुम्हें गजब का काम करते हुए नहीं दिखते हैं। अरे वह शुद्ध प्रभु भी मेरी बिरादरी का है। जैसी वस्तु वह है तैसा मैं हूँ। उस शुद्ध प्रभु की अशुद्धि मिट गयी, विकार मिट गए, वह तो वही के वही हैं। पर हे जगत् के प्राणी ! महत्ता तो तुम्हारी है उस प्रभु की कौन महत्ता है ? उस प्रभु में तो कोई गजब नहीं दिखता है। अपने से अपरिचित्त को जरूर गजब दिखता है। यहां क्या है ? कैसे हो गया ? बड़े गजब की बात है। भगवान कोई और चीज हुआ करती होगी, ऐसा देखने लगते हैं। अरे हैरानी की चीज नहीं। भगवान की अशुद्धि मिट गयी, विकार मिट गए। वह तो वही के वही हैं। हे जगत् के प्राणी तू बलशाली है, तेरी महत्ता है, तेरे में बलशाली ज्ञान भरा हुआ है। उस अपने ज्ञान को बाहरी पदार्थों में लगा रहे हो और अपने परिणामों को अनन्तरूपों में बना रहे हो। हे प्राणी ! अपने ही परिणामों से अपने को अनन्तयोनियों में डाल रहे हो। कहीं कीड़े मकौड़े बन गए कहीं पेड़ बन गए, कहीं कुछ बन गए, कहीं कुछ। इस प्रकार के जन्ममरण के चक्र में डाल लिया। इसलिए हे प्राणी ! गजब तो तूने किया है। यदि तू अपने को अनन्तरूपों में न माने तो समझ कि ज्ञान आ गया। यदि केवल एक ही ज्ञान का प्रताप तुझ में पड़ा हुआ है तो सारे क्लेश दूर हो जावेंगे। हे प्रभु ! आपके ज्ञान में इतनी शक्ति है कि तीन लोक के समस्त पदार्थ आपके ज्ञान के एक कोने में पड़े रहते हैं। यदि प्रभु के होते विशाल ज्ञान का आदर है तो मेरे मन में उनकी महत्ता का आदर है। मैं भगवान् में गजब कुछ नहीं देखता हूँ। विकार हट गए, पवित्रता आ गयी, ऐसी दृष्टि से वह ज्ञानी पुरुष हो गए। जिनकी दृष्टि प्रभुता के निकट विराजमान हो गयी उनके ज्ञान में अनन्त बल है। जो बल उस भगवान् में है अन्य प्राणियों में भी वह बल हो सकता है। अरे यदि मेरे में ज्ञान बल नहीं है, पवित्रता नहीं आ गयी है, विकार रहित नहीं हो गया हूँ, इससे मेरी पराजय है। यदि मुझे अपना भान हो गया है तो जब चाहूँ भगवान् से मिल सकता हूँ। इस ज्ञानी पुरुष का वह भगवान् अत्यन्त निकट है। अन्तर्दृष्टि में देखो तो वह विराजमान है। शुद्ध प्रभु जैसी स्थिति मेरे में भी हो सकती है। इसमें कोई सन्देह नहीं है। आत्मा तो दर्शन, ज्ञान, सुख, शक्ति का पिंड है। इस ज्ञान में कोई सीमा नहीं है। हमने अपनी अज्ञानता से ही इसमें सीमा डाल दी है। वह अज्ञानता की मेड़ बीच में पड़ जाती है। इससे हमें क्लेश होते रहते हैं। मैं अज्ञान की मेड़ को तोड़ डालूँ, बाह्य पदार्थों में दृष्टि लगाने की मेड़ को तोड़ दूँ तो सब ज्ञान एक असीम हो जायगा। अरे अपने आपके शुद्ध अशुद्ध स्वरूप को और वीतराग बुद्धि के विकास को तो देखो।

मैं वह हूँ जो हैं भगवान्, जो मैं हूँ वह हैं भगवान्।

जल के स्वभाव और निर्मल जल में कोई अन्तर है क्या ? निर्मल जल पहिचान में झट आ गया और जल के स्वभाव में दिमाग लगाने का काम है। जैसा निर्मल जल मुझे मालूम पड़ रहा है वैसा ही जल का स्वभाव भी पड़ा हुआ है। उस कीचड़ वाले जल में जल भी निर्मल है, कीचड़ मिला हुआ है पर वह जल स्वच्छ है, निर्मल है। इसी प्रकार संसार की नाना स्थितियों में पड़े हुए इस मलीन आत्मा में

भी स्वभाव वही है, वैसा ही स्वच्छ है। जैसा कि भगवान् शुद्ध है वैसा ही यह आत्मा शुद्ध है। शुद्धि के विकास में कोई अन्तर नहीं है—इस प्रकार प्रभु अनन्तज्ञान दर्शन और अनन्तशक्तियों का पिंड है। इस ज्ञान के विकास के लिए सामर्थ्य तथा अन्तरदृष्टि इत्यादि की आवश्यकता है। अपने को अपने सही रूप में निरखकर स्वयं ही अपने में शान्ति का मार्ग प्राप्त करें।

निर्द्वयाज्ञानजान्धं स्वं दृष्ट्वा ध्यानान्निना विधिम्।

दहानि निष्कलंकः सन्त्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥१९५६॥

अर्थ— अज्ञान से उत्पन्न होने वाले अन्धकार को नष्ट करके अपने आत्मा को देख करके ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा कर्म क्रिया को जलाऊँ और अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

स्वरूप न सूझना और विषय कषायों में ही उपयोग को बनाए रखना यह बड़ा अंधकार है। यह अंधकार अज्ञान से पैदा होता है। अज्ञान क्या वस्तु है? पदार्थों का जैसा स्वरूप है वैसा न मानना अज्ञान है। प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र है। अपनी-अपनी सत्ता को लिये हुए है। अपनी ही सत्ता से परिणमता है। किसी का किसी में प्रवेश नहीं है। इनके खिलाफ ऐसा समझना कि मैं अमुक वस्तु को कुछ कर दूँगा या अमुक मेरे लिए कुछ कर देंगे। इस प्रकार स्वतन्त्रता के खिलाफ विकल्प करना यह मोह है। पदार्थ अपने में ही उत्पाद करते हैं। अपने में ही अपनी अवस्था को विलीन करते हैं और खुदबखुद सदा बने रहते हैं। जैसे एक अंगुली है, अभी सीधी है इसको टेढ़ी कर दी तो टेढ़ी बन गयी। वह अंगुली उस टेढ़ी अवस्था में उत्पाद वाली हुई और सीधी अवस्थामें उसका व्यय हुआ यानी सीधी अवस्था विलीन हो गई और अंगुली वहीं की वही बनी हुई है। इसी प्रकार परपदार्थ अपने ही स्वरूप में अपनी अवस्था का उत्पाद करते हैं, अपने ही स्वरूप में अपनी ही अवस्था का व्यय करते हैं और अपने ही स्वरूप को बनाए रहते हैं। इसे कहते हैं त्रिगुणात्मक पदार्थ। पदार्थों में यह तीन गुण भरे हुए हैं। प्रथम अवस्था का उत्पाद, द्वितीय पूर्व अवस्था को विलीन करना और तृतीय वह खुद बखुद बनी रहे। ये तीन बातें परमार्थ में सदा चलती हैं। प्रत्येक पदार्थ प्रत्येक से अलग है। जो छोटा रूप भी परिणमता है वह भी खुद ही परिणमता है। दूसरा उसके साथ मिलकर छोटा रूप नहीं परिणमता है, पर दूसरे पदार्थ जिसका निमित्त पाँकर छोटे भाव होते हैं उन सबमें ऐसा मानना कि वे ही करते हैं, इसके मायने अज्ञान है। जो पदार्थ जिस रूप में हैं उनको वैसा न मानना अज्ञान है और जो जैसा है तैसा मानना ही ज्ञान है। इस ज्ञान के कारण विषयों का अंधेरा समझ में आ जाता है। वस्तु की स्वतन्त्रता का उपयोग करके जो वास्तविक आनन्द आता है तो उसमें आकुलता रहती है। उसमें परिणमन नहीं रहता है और अज्ञान रहता है। एक दूसरे के साथ सम्बन्ध मानने की बात रहती है, ऐसी स्थिति में विषयों को लगाए रहना प्राकृतिक बात है, बाह्य पदार्थों में खपना प्राकृतिक बात है, यह बड़ा अंधेरा है। विषयों में प्रतीत होना, यह बड़ा अंधेरा है। विषय ६ प्रकार के होते हैं — स्पर्श २, रस १, गंध १, वर्ण १, शब्द व संकल्प विकल्प। यूँ तो स्पर्श ८ होते हैं स्कंध की अपेक्षा। शुद्ध परमाणु में ठंडा गरम में से १, रूखा चिकना में से १। इन ६ प्रकार के विषयों में रति होना यह अंधकार है। अपने आपको टटोलना चाहिए कि हम अंधकार

सुख यहाँ प्रथम भाग

में हैं या उजाले में हैं। स्पर्श विषयों में तो मुख्य वेद सम्बन्धी विषय है। फिर स्निग्ध रूक्ष ठण्डा गर्म आदि जो ८ प्रकार के स्पर्श हैं वे हैं स्निग्ध, रूक्ष, उष्ण, शीत, कड़ा, नर्म, हल्का, भारी। यह ८ प्रकार के स्पर्शनेन्द्रिय के विषय हैं। सो देखो निरन्तर ये प्राणी इनमें बहते ही रहते हैं। गर्मी लगती है तो ठण्डी चीज चाहिये, सब स्पर्शइन्द्रिय के विषय हैं। नरक में रहने वाले हो, अन्य पशु पक्षियों में हों तो क्या सहन न कर लिया जायगा। हम ही गरीब हों तो इतनी ठण्डी गर्म न सह लेते। इन्द्रिय विषय में मीठा होना, खट्टा होना, स्वादिष्ट होना ये रसना इन्द्रिय के विषय हैं।

संसार के प्राणी इन रसों में कैसे रत होते हैं ? कितनी तरह के व्यञ्जन बने, कितनी प्रकार की खाने की चीजों का आविष्कार हुआ जिनका नाम लिया जाय तो ३००, ४०० नाम हो जावें। खाने की चीजों का नाम हम कहते हैं और वस्तुओं के नाम हम नहीं कहते हैं, फलों की बात हम नहीं कहते हैं। भोजन बनाया जाता है तो कितनी तरह के बनते हैं। मिठाइयां बनती, चाय बनती, नमकीन बनती इत्यादि अनेक वस्तुएँ बनती हैं। यह सब क्या है ? रसना इन्द्रिय के विषय हैं। सामने मिठाइयां सेव वगैरह रखे हैं, दाल रोटी भी रखी हैं। दाल रोटी में ही संतोष कर लें तो समझो विजय है। वस्तुओं को देख लिया तो चख लिया, स्वाद ले लिया, यह सब क्या है ? यह सब रसना इन्द्रिय के विषय हैं। रसना इन्द्रिय का जो विषय है वह भी अंधकार है। एक अंगुली या दो अंगुली की इस नाक को खुश करने के लिए कितने प्रकार के सुगन्धित तेल हैं, कितने प्रकार के पुष्प हैं। इन सुगन्धित पुष्पों तथा तेलों से इस नाक को खुश करते हैं। कहीं फूल या इत्र का फोवा नाक में लगा है, कहीं कान में लगा है, कहीं इत्र लगा दिया, कहीं कोई दूसरा सुगन्धित तेल लगा दिया। यदि कोई तेल लगा लिया तो वह खुशबूदार होना चाहिए। ये सब घ्राण इन्द्रिय के विषय हैं। विषय सेवते सेवते भी संतोष तो नहीं आता।

जो है वह ठीक है। यह हुआ तो क्या हुआ ? इत्र है उसमें क्या हुआ ? यह सब अन्धकार है। विषयों का रस सुहाया यह अन्धकार है और इस अन्धकार में ही चुलबुल करता हुआ यह जगत का प्राणी छिन्न-भिन्न बरबाद होता रहता है। चक्षु इन्द्रिय का विषय देखो। नेत्रों ने एक एक अंगुल में नये नये खेल देखे तो मन बढ़ गया। जो कुछ देखा वह वही का वही है। पर जो कुछ देखा उससे मोह कर लिया। इस मोह के कारण वह दुःखी रहता है। सिनेमा देखा, नाटक देखा, इनमें कुछ है क्या ? किसी का रूप देखो तो क्या, वह तो अपने शरीर में देख लो ना ? शंका हो तो अपने शरीर में तोड़फोड़ कर देख लो। बरसात के दिन हैं तो शरीर पर कपड़े नहीं सुहाते। और भी जीव पदार्थों को सुन्दर सुन्दर रूप, ड्रेसिंग, आंकार तथा अन्य नई-नई कमीजें वगैरह बनाना, नई-नई डिजाइनों का बनाना, कहीं कुछ बनाना, कहीं कुछ बनाना। यह सब क्या है ? यह सब चक्षु इन्द्रिय के विषय हैं। नेत्र इन्द्रिय के विषय में यह रत होता रहा है, पर यह यही तो बनेगा।

गुरुजी सुनाते थे कि सागर में एक कान्स्टेबल था। वह वेश्या में आसक्त था। जो कुछ धन दौलत उसके पास थी सब वेश्या के पास पहुंच गयी। अब वह बड़ी अवस्था का हो गया था। अब धन तो वेश्या के पास आ गया। अब उसे क्या परवाह है? वह अपने घर न आने देवे उस सिपाही को

कांसटेबिल उसके घर के सामने ही रात-दिन पड़ा रहे। किसी ने पूछा— भाई साहब, तुम यहां क्यों पड़े रहते हो ? कहा —पड़ा रहता हूँ। रात-दिन मैं कभी तो घर से निकलेगी ही, देख लूंगा। हाय हाय क्या मिल गया ? रात-दिन पड़े रहे। वह पदार्थ अपनी जगह पर है। आत्मा में आत्मा है, शरीर में शरीर है, जो जहां है तहां ही रह जाता है, हाथ में कुछ आता नहीं है। यह क्या है ? यह नेत्र विषय के रूपों का अंधकार है।

कर्ण का विषय देखो—कितनी तरह के राग हैं। अभी कोई शब्द हो, सुन्दर गायन हो, तो यह संगीत सुनने चला कि कुछ सुन लें। देहातों में रद्दी आलाप होते हैं उनको सुनने की भी इच्छा होती है। सपेरा बीन बजाता है वह भी सुहाती है। हर तरह के जो सुहावने शब्द सुनाई पड़ते हैं वह भी सुहाते हैं। यह क्या है ? यह कर्ण के विषयों की रति है। यह विषयों का अंधकार है। मन को देखो विषय उसका सबसे बड़ा है। मन चाहता है कि इतना धन वैभव रहे, किसी से पीछे न रहूं, आगे बढ़ूं, यह सब मन सोचता रहता है और ये ही विकल्प जन्ममरण के चक्र में डालने को प्रेरित करते हैं। जैसे कलकत्ता की सोच लें तो सोचने में देर नहीं लगती है।— एक मिनट भी नहीं लगता, आधा मिनट भी नहीं लगता, एक सेकेण्ड भी नहीं लगता। मन में इच्छायें कीं कि हमें फलां चीज खाना है, फलां चीज पहनना है तो यह सोचने में देर नहीं लगती है। यह है मनका विषय और जो पंच इन्द्रियों के विषय हैं वे भी मनके विषय बन गए। ये मन वाले के विषय तो पंच इन्द्रियों के विषयों में भी मन के साथ सदा चला करते हैं। ऐसे जो विषयों में अन्धेरा है जो कि अज्ञान स्वभाव से उत्पन्न होता है, उस अंधकार को नष्ट करके अपने आपको सुखी करूं, इस अन्धकाररूप अज्ञान को दूर कर ज्ञान के द्वारा इस कर्म को जलाऊं, कल्पनायें करके दुःखी हो गया, फिर कल्पनायें ही करके सुखी होगया, आत्मध्यान से आनन्दमय हो गया। कुछ लेना पड़ा न कुछ देना पड़ा, न कुछ खटपट पड़ी केवल अपना ध्यान बना लिया, सारे दुःख मिट गए।

देखो— दुःख तथा सुख हैं क्या ? केवल कल्पनायें बना लेते हैं। मैं इन कलंक से रहित विषयकषायों के बन्धन से रहित शुद्ध ज्ञानस्वरूप का अनुभव करूं और अपने शुद्ध ज्ञान तत्व में रमकर इन कर्मों को जलाऊं। यही ज्ञानावरणादि कर्म आत्मा के साथ रम गए हैं ये कैसे दूर होंगे ? इसका उपाय केवल यह है कि सबसे निराला, शुद्ध ज्ञानमात्र अपने को पक्का जानूं तो उपयोग बनाने का यह काम हो सकेगा। यह कर्म बाहर हो जाते हैं, शुद्ध स्वभाव वाला मैं प्रेक्षितकल हूँ तो कर्म बाहर हो जाते हैं। केवल बोली के सुनने से कर्मों में असर होता है। जितने भाव बनने हैं शुद्ध अशुद्ध उन भावों से कर्मों में असर होता है। यदि शौक से नाना ज्ञान सीखे तो यह तो मनका विषय बन गया, पर विषयकषायों में फर्क है। इस मन के विषय के भीतर आत्मनिर्णय की भावना साफ़ है और दुनिया के विषयों में केवल मन को बुरा लगने की बात है। इतना ही अन्तर है तो इन सब विषयकषायों की तरंगों से परं जो ज्ञायकस्वरूप शुद्ध आत्मतत्व है उस ही रूप अपने को मानो, ऐसा ही उपयोग बनाओ। बस यह ही कर्मों को बाहर करने का उपाय है। कर्म और तरह से अलग नहीं हो सकते। कर्म अलग हैं, धर्म भी करें, पूजा भी करें, भक्ति भी करें, दान भी दें, सब कुछ करें, मगर जितने अंशों में भाव निर्मल है उतने अंशों में काम

हो रहा है। इसी काम के होने से सब कुछ मिल जाता है। क्रोध, मान, माया, लोभ ये तीव्र कैसे होते हैं ? अधिक क्रोध किसे कहा जाय ? पदार्थों की बात में क्रोध बढ़े उसे अधिक क्रोध कहा जाय। धर्म के कार्यों में क्रोध बढ़े तो तीव्र क्रोध है। धर्म धारणा करके क्रोध बढ़े तो जैसे मुझे किसी ने छू लिया अभी हम स्नान करके आए। धर्म का कार्य समझते हुए क्रोध करना तो यह तीव्र क्रोध हुआ। धर्म के इस प्रसंग में क्रोध साफ हो जाना चाहिए था। क्रोध तीव्र कैसे हो रहा है ? धर्म धारणा हो जाय तो क्रोध ठहरेगा नहीं।

मानकी बात भी देखो— एक आत्मा ऐसी है कि धर्म के होने के कारण अपनी सभी इज्जत मान रही है— यह तो हुआ उसका घमण्ड। गरीब से धनी हो रहे हैं, धन को और जोड़ना चाहते हैं। एक आदमी ऐसा है जो पूजा उपवास आदि धर्म का काम करके अपने को धर्मात्मा जानता है, यह अधिक घमण्ड हुआ। धर्म के काम में छल-कपट करना तीव्र माया है। धर्म के काम में लोभ करना तीव्र लोभ है। कोई पुत्र आदि बीच में बीमार हो जाय। पांच सौ रु० मासिक उसमें निकल जायें, ६ मास पड़े ही रहे। यह सब करने से वह मोह कर रहा है। अपने पुत्र के लिए दवा कर रहा है कि ठीक हो जावे, उसमें भी मोह है। किसी का मोह किसी जगह पर उतरता है और किसी का अन्य दूसरी जगह में। लोभ परिवार में हो जाता है। जितना भी करते हैं वह सब अपने परिवार के लिये करते हैं, वे अपने परिवार के लोगों को ही सर्वस्व समझते हैं तो यह धर्म नहीं हुआ इसमें लोभ है।

हे आत्मन! तेरा स्वरूप शुद्ध ज्ञायकस्वरूप है। अपने ज्ञानानन्द स्वभाव को देखो। एक पुरुष पिता के खूब गुण गाता है, पर पिता की आज्ञा का पालन नहीं करता है। पिता के भीतर होने वाली इच्छाओं को आदर नहीं करता है और एक पुरुष वह है जो पिता की आज्ञा पालन करने के लिए तैयार है तो बतलाओ कि कौनसा पुरुष अच्छा है व भक्त है? पुरुष वही अच्छा है जो पिता के गुणानुवाद तो नहीं गाता, पर पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए तैयार है।

एक आदमी ऐसा है जो भगवान की दस बार पूजा करता है और भगवान को हैरान कर डालता है और एक पुरुष है जो केवल भगवान का स्मरण मात्र कर लेता है, शुद्धस्वभाव का ध्यान करता और भगवान का हुक्म मानता है तो बताओ कौन भक्त है? भक्त वह है जो भगवान का हुक्म मानता है। भगवान का हुक्म यह है कि अपने आपको ज्ञानमात्र, सबसे निराला, शुद्ध ज्ञायकस्वरूप समझो। अब सोचो मैं अज्ञान से उत्पन्न होने वाले अंधकार को नष्ट कर ज्ञानमात्र, आनन्दमय अपने आपको देख करके ध्यानरूप अग्नि के द्वारा इन कार्यों को जलाऊँ और निष्कलंक होकर अपने आप में अपने आप सुखी होऊँ।

रागादि पीडयेतावन्नाविष्टो ज्ञानसागरे।

अतो ज्ञानेऽवगाह्याहं स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्॥१९-६०॥

अर्थ— राग आदि विभाव तब तक पीड़ा कर लें जब तक ज्ञान रूप समुद्र में प्रविष्ट नहीं हुआ इसलिये ज्ञान में प्रवेश करके मैं अपने में अपने लिये अपने आप सुखी होऊँ।

यह रागादि जीवों को बड़ी पीड़ा दिया करते हैं। देते हैं तो दें, कब तक देंगे ? यह तब तक ही पीड़ा देंगे जब तक कि मैं ज्ञानसागर में डूब न जाऊँ। यह कर्म तब तक जीव को सताते हैं जब तक कि वे ज्ञानसागर में नहीं डूब जाते। जैसे धूप से पीड़ित मनुष्य को गर्मी तब तक सताती है जब तक उसको छाया प्राप्त नहीं होती। जब तक ज्ञान में ज्ञान नहीं प्रवेश करे तब तक संतोष कैसे प्राप्त हो सकता है? जब तक ज्ञान सागर में डूबे रहें तब तक रागादि संताप नहीं रह सकते हैं। ज्ञान दो किस्म के हैं?

एक आत्मा का ज्ञान और दूसरा पर वस्तुओं का ज्ञान। परवस्तुओं की कल्पनाओं से दुःख होता है और अपने स्वरूप का ध्यान करने से दुःख दूर हो जाते हैं। लेना-देना कुछ नहीं है केवल परिणाम की बात है। सुख दुःख आनन्द होना केवल भावों के परिणाम की बात है। देखो इतनी बड़ी समस्या, इतनी बड़ी प्रोबलम केवल एक विचार परिवर्तन से ही हो जाती है तथा हल भी हो जाती है। कम धन होने से दुःख होता है। रोजगार करते हैं, यह करते हैं, वह करते हैं, कितने ही यत्न करते हैं, पर उनसे यह समस्या हल न होगी। घर आदि की समस्या बाह्य संचय से हल न होगी। लड़कों को संग में रखना, कुटुम्ब को बांधकर रखना, परिवार में रहना, इन सबसे घर की समस्या हल नहीं हो सकती है। इस समस्या का हल विकार के तिरस्कार से तथा स्वभाव के दर्शन से होगा। स्वभाव दर्शन क्या है? जैसा खुद का स्वरूप है तैसा उपयोग बन गया यह स्वभाव दर्शन है। इसी से समस्याएँ हल होंगी। कैसा है यह अपना स्वरूप पहले तो सबसे निराला, किसी से मिला-जुला नहीं। अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखने वाला, अपने आपके स्वभाव को अपने आपके अस्तित्व में लिए हुए हैं, यह भाव मात्र है, उसमें कुछ खटपट नहीं, उसमें कोई झंझट नहीं। इस मुझमें लेने-देने का कुछ नहीं मिलेगा, केवल भावमात्र हूँ। ज्ञानभावमात्र, आनन्दमात्र हूँ। रंच भी दूसरे पदार्थ के साथ सम्बंध नहीं है, मगर जहाँ मोह उठता है तो वह सारा का सारा कैसा मालूम पड़ता है? यह मेरा लड़का है, यह मेरा घर है, यह मेरा परिवार है, जिसमें उछल-उछलकर रहता है। विपदाओं का कारण यह मोह है, नहीं तो मैं आनन्दानुभव वाला तथा सबसे निराला हूँ।

आत्मा स्वयं ज्ञानधन है, आनन्दमय है, पर मोह ऐसी गंदा विष है कि अनहोनी को होनी बना देना चाहता है। मोह ही तेरे दुःख का कारण है। दूसरा तेरे दुःख का कारण क्या है वह बतला ? अरे दुःख का कारण दूसरा नहीं, मोह ही दुःख का कारण है। यह मेरा है, यह उसका है, यह क्या है ? यह मोह ही तो है। अरे यदि यह मोह हट जावे तो दुःख भी हट जावेंगे। ये सब यहीं के यहीं रह जावेंगे। जिनमें तू मोह कर रहा है वे भी यहीं रह जावेंगे, तू भी नहीं रहेगा। रहेगा तो हमारा स्वरूप ही साथ रहेगा। रागादिभाव पीड़ा देते हैं तो दें। अरे यह पीड़ा ही क्यों देंगे ? यह तेरे को तभी पीड़ा दे सकते हैं जब तक तू ज्ञान संसार में डूबकर प्रवेश न कर जाय। तू जिसको जान रहा है उससे ही तुझे दुःख होते हैं। अरे तू इनको न जानकर अपने को जान। परिवार के छोड़ने का क्या दुःख ? अगर तेरा ज्ञान परिवार में लीन हो गया तो दुःख होंगे और अगर तेरा ज्ञान याने तू ज्ञानसागर में डूब गया तो सुखी रहेगा। दुःख तो तुझे तब होंगे जब तेरा मोह, तेरा लगाव उनसे होगा। जैसे कहावत में कहते हैं कि तुम्हें आम खाने से काम कि पेड़ गिनने से, तुम्हें आनन्द से काम है या लड़कों, बच्चों से काम है ? तुम्हें

सुख यहाँ प्रथम भाग

यदि लड़कों, बच्चों से आनन्द मिलता है तो, उनसे ले लो या अपने आप से मिलता है तो अपने आपसे ले लो। आनन्द तो इस आत्मा में है। यदि आत्मा में ही दृष्टि रहे, आत्मा में ही झुकाव रहे तो सुखी रहेगा। दुःख तो तब है जब तैरा झुकाव पर में होगा; मोह में होगा कुटुम्ब परिवार में होगा। यदि आप अपने ख्याल को अपने कुटुम्ब परिवार से छोड़ दें तो दुःख कैसे होगा और यदि अपना लगाव अपने कुटुम्ब, परिवार, धन-वैभव आदि में होगा तो तुझे दुःख होंगे।

देखो भैया ! बाहरी बातों में क्या रखा है ? यदि तू धनी है तो ज्यादा से ज्यादा क्या होगा कि दो-चार मोही पुरुष यह कह देंगे कि यह बहुत धनी है। करोड़ों का धन जोड़ लिया और इसका फल क्या मिला कि केवल दो-चार मोही यही कहेंगे कि यह बड़ा धनी है और तुझे तो पेट भरना है और दो कपड़े पहिनने हैं। इतना ही तो यहां का काम है। इससे ज्यादा और क्या काम है ? तूने इतना भ्रम करके, मिथ्या बन करके करोड़ों का धन एकत्रित कर लिया है। उसका परिणाम केवल इतना है कि दो चार मोही यह कह देंगे कि यह धनी पुरुष है। इतना फल है। कितनी मेहनत की, रात-दिन चिन्तायें रहीं, विपदायें रहीं, यह चिन्तायें और विपदायें केवल इस प्रयोजन पर रहीं कि मोही पुरुष दो शब्द बोल दें। वे मोही ऐसे हैं जिन्हें अपने का ख्याल नहीं है, जो गंदे हैं, मोही हैं, संसार में घूमने वाले हैं, संसार का पता भी नहीं है और ममत्व में फंसे हुए हैं। ऐसे ही दो-चार व्यक्तियों के द्वारा उसे प्रशंसा मिलती है। इतना परिश्रम करने पर हे संसार के प्राणी! तेरे में इतनी ही भूल भरी रहती है, नहीं तो धर्म का मार्ग गृहस्थी के लिए बिल्कुल सीधा है। अपनी दिनचर्या में ६ घण्टे का काम करने को दिया तो ज्यादा से ज्यादा ८ घण्टे काम करो। अपनी दुकान में इतना ही समय दो और जो कुछ पुण्य के अनुसार मिल जावे उसका ही हिसाब लगाकर, व्यय कर संतोष प्राप्त करो। जो कुछ आमदनी हो जावे उस ही में संतोष रखो। चाहे चना नमक खानें भर को ही हिस्से में आवे, उससे ही संतोष प्राप्त करना चाहिए और उसी स्थिति में भी अपनी धुन को धर्म में लगाना चाहिए। इतनी हिम्मत हो कि न्याय से काम करूंगा चाहे कुछ मिले अथवा न मिले। अपने सादे कपड़े पहिनकर धर्म के गुणानुवाद में, स्वरूप के ध्यान में अगर मन लगता है तो वह सुखी है। उसके चाहे खराब दिन भी आवें तो परवाह नहीं है। वह उत्साह से कार्य करेगा, वह आनन्दमग्न होगा। यदि इन लुटेरों में ही उपयोग बना तो दुःख होगा। यह तो सब घसीटे खचोरे हैं। इन सबमें तू अपना उपयोग न बना। नहीं तो तुझे दुःख होंगे। यहां जो कुछ आया है वह सब मिट जायगा। यह मालूम होते हुए भी यह मोही प्राणी, केवल उन दो मोही प्राणियों के दो शब्दों को सुनना चाहता है। उसी के खातिर वह अनेक विपदायें सहन किया करता है। अपने को पीड़ा दिया करता है। यह धन का राग उसे दुःख देता है। उसमें क्लेश उत्पन्न कर देता है।

जैसे कोई बच्चा अपनी मां के पास बैठा हुआ है। बच्चा अपनी मां से यह कहेगा कि वहां चलो, वहां बैठो, वह लाओ और यदि मां नहीं करेगी तो बच्चा अपना मुंह घुमा लेगा, रोवेगा, जमीन में लेट जावेगा। केवल इतनी बात पर कि मेरी बात नहीं रही, मां ने कहना नहीं माना। मां से वहां चलने के लिए कहा, नहीं गयी, केवल इतनी ही बात है। बच्चा कितना उपद्रव करता है ? इसी प्रकार से यह

मोही प्राणी माया में पड़कर दूसरों से दुश्मनी कर डालते हैं। कौनसी बात का असर है जो दुश्मनी कर डाली। निजी चीज जिसे मानी वह भी निजी नहीं। यदि पूछा जाय कि दुश्मनी क्यों कर डाली तो यही कहेंगे कि मेरी बात नहीं रही। ये रागादि विकार करके दुःखी होते हैं। ये रागादि विकार कब तक दुःखी करेंगे जब तक कि ज्ञानसागर में हम डूब न जावें। राम, लक्ष्मण, सीता इत्यादि महान् आत्माओं के जीवन चरित्र को देखते हैं कि जब तक इन्होंने संन्यास नहीं धारण किया है, त्याग नहीं किया है तब तक दुःखी रहे हैं परन्तु अन्तिम जीवन में उन्होंने त्याग किया, संन्यास किया तो उनका जीवन सुखी हुआ। आज उन्हीं की महिमा का गुण गाया जाता है। जब तक कि इन आत्माओं का जीवन घर में ही व्यतीत हुआ है तब तक उनकी कोई कीमत नहीं थी परन्तु अपने अन्तिम एक चौथाई जीवन में ही संन्यास धारण कर अपने जीवन को सफल बनाया। जब तक वे अपने घर से न निकले थे, पालने में झूला झूलते थे तब तक उनके गुणों का गान न होता था। परन्तु जब अपने घर से निकलकर संन्यास हुआ तो उनके गुणों का गान हुआ और वह मोक्ष गए। इस कारण पुराना जो घरेलू जीवन था उसके चरित्र के भी गुण गाये जाते हैं। इसी तरह तीर्थंकर भी जब तक अपने घर में रहते थे तब तक उनके गुणों का वर्णन नहीं होता था परन्तु बाद में चरित्र निर्मल हुआ, अपने आप में रमें, अपने घर बार स्त्री आदि से विमुख हुए और अपने जीवन को सफल बना सके। निर्वाण पधारे तब पुराना सारा जीवन प्रभु भक्ति की पद्धति में आ गया।

हे जगत् के प्राणी! इतना जीवन गुजर गया और इस इतने जीवन में बहुत सी बातें रहीं। उन उन बातों में क्यों रोते हो? जिन्होंने वर्तमान व भविष्य को सम्भाला अनेक लोग उनके गुण गाने लगे इस जीवन को सम्भाल लेने में ही कल्याण है।

राजा श्रेणिक पहले तो मांस भक्षी थे, अञ्जन चोर आदि थे, वेश्या में आसक्त थे, अत्यन्त दुराचारी थे। बाद में उन्हें ज्ञान मिला। उस ज्ञान में ही देखो यह कितने मांसाहारी थे और तर गए। बाद में उनकी महिमा का गुणगान हुआ।

वज्रभानु अपनी स्त्री में अत्यन्त आसक्त था। वह मोह माया में अत्यन्त लीन था। वे रास्ते में मुनिमुद्रा के दर्शन करके विरक्त हो गए। तब से ही उनके गुणों का गान किया जाता है। लोग बाद में कहने लगे कि वाह, वह कैसे थे? अशुद्ध थे, शुद्ध हो गए। अच्छा चरित्र बनने पर पहिले चरित्र भी किसी रूप में भावानुवाद में आ जाते हैं। हे आत्मन् तू अपने रागादि से उत्पन्न दुःखों से क्यों रोता है? तूने ही तो इन दुःखों को बनाया है। यह तेरे रागादि भाव तब तक तुझे पीड़ा देंगे जब तक तेरी आत्मा में ज्ञान प्रविष्ट नहीं होगा। तू अपनी आत्मा में ज्ञान प्रविष्ट कर अपने आनन्दस्वरूप को निरख। इसी से तेरे समस्त क्लेश समाप्त हो जावेंगे। यदि तुम्हें आत्मस्वरूप में आनन्द मिलता है तो उसमें झुको और यदि दुनिया के परपदार्थों से आनन्द मिलता है तो उनमें झुको। यदि तू अपने निज स्वरूप से आनन्द प्राप्त करेगा तो तुझे आनन्द प्राप्त होगा और शांति मिलेगी। यदि बाह्य पदार्थों से आनन्द प्राप्त किया तो उसमें अशांति ही अशांति रहेगी। जिस काम में दो-चार वर्ष तक टोटा ही टोटा रहे तो उसको बुद्धिमान व्यापारी

सुख यहाँ प्रथम भाग

बदल देता है। इस वाद्य आनन्द में ही यदि तू पड़ा रहा तो शांति नहीं मिलेगी। तो तू ऐसे रोजगार को बदल दे। अपने आपके आत्मस्वरूप में आनन्द प्राप्त किया तो उससे शांति मिलेगी। इसलिए तू ऐसा ही व्यापार कर। यदि तूने एक जन्म की बातें सही जान लीं तो करने योग्य २० बातें खुद ही जान लेगा अन्य १० बातों को बताने की जरूरत नहीं।

एक घटना है कि बुन्देलखण्ड में एक राजा रहता था। वह राजा गुजर गया, उसका पुत्र नाबालिग था। अब वह लड़का २०-२१ वर्ष का हो गया। उसकी मां ने कहा कि मेरे लड़के को राज्य सौंप दिया जाय। उसकी मां ने उसे समझा दिया कि बादशाह जैसा पूछे उसका उत्तर देना। यदि यह प्रश्न पूछे तो यह उत्तर दे देना, यह प्रश्न पूछे तो यह, और यह प्रश्न पूछे तो यह उत्तर देना। इस तरह से १० बातें मां ने उसे समझा दीं। उस राजकुमार ने कहा कि यदि इन १० बातों में से एक भी न पूछेंगे तो क्या कहेंगे? मां बोली कि तब अपने आप उत्तर दे सकते हो। राजकुमार ने कहा कि क्या मुझे कल्पना भी अपनानी होगी? मां बोली कि यह तो बड़ी बुद्धि और प्रतिभा की बात है। राजकुमार बादशाह के सामने बुलाया गया। बादशाह कुछ नहीं बोला, उस लड़के के दोनों हाथ पकड़ लिये और कहा कि अब तुम पराधीन हो गए, विवश हो गए, अब तुम बताओ क्या कर सकते हो? राजकुमार ने कहा कि अब क्या है? अब तो मैं सब कुछ कर सकता हूँ। जब स्त्री के साथ विवाह में कन्यादान होता है तो एक मात्र हाथ पकड़ लेने से स्त्री की जिन्दगी भर रक्षा करनी पड़ती है तो आपने तो मेरे दोनों हाथ पकड़े हैं। अब तो हम बिल्कुल स्वतन्त्र हो गए। इसका तो कहना ही क्या है? यह सुनकर बादशाह प्रसन्न हो गए और राजकुमार को राजगद्दी दे दी गयी।

इस कमण्डल को कैसे उठाना है, कैसे क्या करना है आदि बातों को क्या सीखना है? यदि इस यथार्थ बात को समझ लिया तो इतना ही क्या है? बीसों बातें अपने आप समझ में आ जावेंगी। यदि अपने ज्ञानस्वरूप की प्रतिभा जग जाय तो सारी बातें आ जायें। यहां उपद्रव करने वाले बहुत हैं, मगर ज्ञानसागर में प्रवेश करने पर कुछ नहीं।

गंगा नदी के पानी में एक जानवर था। आराम करने के लिए मुंह उठाकर पानी के बाहर थोड़ा शरीर निकालकर जाता है। चारों तरफ से सैंकड़ों पक्षी उस जानवर पर हमला करने के लिए आते हैं। वह जानवर थोड़ा सा पानी में खिसक जाता है। वे सब पक्षी बेकार होकर भाग जाते हैं।

ये रागादिक भाव, नौना प्रकार के विकल्प, नाना प्रकार के विचार इस ज्ञानगंगा के बाहर मंडरा रहे हैं। सब हमारे ऊपर हमला कर रहे हैं। यदि हम जरासा इन रागादिक भावों से विलग हो जायें व ज्ञानगंगा में मग्न हों जायें तो ये हमारा कुछ नहीं कर सकते हैं। जिस प्रकार से गंगा नदी में जीव के दब जाने से सारे पक्षियों के वार व्यर्थ हो जाते हैं, सारा उन पक्षियों का परिश्रम बेकार हो जाता है, ठीक इसी प्रकार हम अपने आपको अपने ज्ञान में डुबा लेवें तो यह रागादि भाव अशक्त हो जायें। जब तक ज्ञानस्वरूप में ज्ञान नहीं है तभी तक ये पीड़ा देते हैं। शुद्ध अवस्था में ज्ञान असीम पर्यायी होता है। न उसकी सीमा होती है न कोई मर्यादा। अपने उपयोग को इसकी उपासना में ही स्थिर कर दें तो

लक्ष्य की प्राप्ति सहज और सरल हो जावे। मोह से हटने का एक यही अमोघ उपाय है इसी में अपनी रक्षा है और यही प्रशस्त मार्ग है। ओम् शुद्धं चिदस्मि। इसी प्रकार ज्ञाताज्ञात और ज्ञेय में भेद नहीं है। जिसमें भेद नहीं है उसमें ही यह अद्भुत परम आत्मानुभव का आनन्द है। जानने वाला तो मैं हूँ और ज्ञेय बने रहते हैं दुनियाँ के अनेक पदार्थ जहाँ, वहाँ तो आकुलता रहेगी और जिनका जानने वाला मैं ही ज्ञेय बना रहता हूँ। इस ज्ञेय को ज्ञान में जाने, यह है सबसे अच्छा रोजगार, जिसमें तीन लोक का नाथ बन जाय यह है विलक्षण व्यापार। किसलिए जान रहे हैं? इसलिए जान रहे हैं कि इस जानने के आगे और कुछ प्रयोजन नहीं तो अब इस ज्ञान में ही प्रवेश करके मैं अपने में अपने आप सुखी होऊँ। ये रागादिक उपद्रव तो तब तक होंगे जब तक इस ज्ञानसागर निज आत्मतत्त्व में अपने आपका प्रवेश न हो जाए। यही ज्ञानयोग ज्ञानियों का, योगियों का एकमात्र कार्य है। इस ही से महात्मा होते व महात्मा से परमात्मा हो जाते हैं। करने को काम केवल एक ज्ञानानुभव ही है। सो अब ज्ञान में ज्ञान का अनुभव करके मैं अपने में अपने आप आनन्दस्वरूप होऊँ।

स्वभावः सिद्धतैते तु पर्यायाः कर्मविक्रमाः।

‘नहं स्वविक्रमं कुर्या स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम्’॥१९-६१॥

अर्थ— अपने गुणों की प्राप्ति रूप सिद्धता स्वभाव है परन्तु ये पर्याय कर्म के विक्रम हैं, मैं तो स्वका विक्रम-पुरुषार्थ करूँ और अपने में अपने लिये स्वयं सुखी होऊँ।

इस आत्मा का स्वभाव सिद्ध बनने का है। सिद्ध कहते हैं उसे जिसने अपने आपके गुणों की प्राप्ति कर ली है, जिसने अपने आप में सब कुछ कर लिया है। जो अपना गुण है, अपनी शक्ति है, उसको पूर्ण कर लेने का आत्मा में स्वभाव है अथवा पूर्ण विकास रूप बन जाने का इस आत्मा का स्वभाव है, अनन्तज्ञानी, अनन्तदृष्टा, अनन्तसुखी, अनन्त शक्तिवान् हो जाने का स्वभाव है। यह ही इस आत्मा का विक्रम है, परिश्रम है, करतूत है, शूरवीरता है। पर अन्य जो इसमें पर्याय उत्पन्न होते हैं जैसे गतिमार्गणा में नारक, तिर्यच, देव आदि व इन्द्रिय मार्गणा में एक इन्द्रिय, दो इन्द्रिय और पंच इन्द्रियों में बताया गया है अन्य कषाय, असंयम आदि जो कहा गया है वह किसके विक्रम हैं? ये कर्म के विक्रम हैं। जैसे निर्मल शुद्ध कांच है वह शुद्ध बना रहे, स्वच्छ बना रहे तो कांच का ही विक्रम हुआ। जैसे कांच को किसी के सामने कर दो या कांच के सामने कुछ आ गया, माँनों हाथ ही आ गया तब उसमें हाथ की छाया आ गयी, उसमें करतूत किसकी चल गयी? हाथ की। तो यह हाथ निमित्त हुआ, हाथ का ही विक्रम हुआ, हाथ की ही कलायें हुई। यह एक दृष्टि है, इसी दृष्टि से देखना चाहिये। इसी प्रकार जीव में शुद्ध ज्ञानरूप बर्ताव केवल ज्ञानरूप में रहना, ज्ञाता दृष्टा रहना, यह तो हुआ आत्मा का विक्रम और इसमें क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह आदि जो कुछ भी विभाव पर्याय होती हैं वे सब कर्म के विक्रम हैं। यहाँ यह प्रेरणा लेनी चाहिए कि जो तेरा विक्रम है उस विक्रम को करूँ और कर्म के जो विक्रम हैं उनकी उपेक्षा करूँ। मेरा तो काम है ज्ञाता, दृष्टा रहना। यह चीज कठिन है, ऐसा जानकर भी निरुत्साही नहीं होना चाहिए। जैसे कि बहुत दिनों से पढ़ते आए, सुनते आए, कुछ लाभ नहीं दिखता है, अन्तर

सुख यहाँ प्रथम भाग

नहीं आता है। भाई बात तो कठिन है, जिस दिन ठीक होना होगा, ठीक हो जायेगा। कोशिश करते रहना है, उपयोग बनाए रहना है, जब होना होगा ठीक हो जायगा।

एक बाबू ने एक कोरी को पांयजामा दिया। अब वह नहीं जानता था कि कैसे पहना जाता है? वह उस पायजामे को कभी कमर में लपेटता, कभी हाथ में डालता तो कभी गले में लपेटता था। इस तरह से उसने बहुत बहुत काम किये। एक समय उसने पायजामे का पैर अपने एक पैर में डाला और पायजामे के दूसरे पैर को भी अपने दूसरे पैर में डाला। अब पायजामा झट ठीक ढंग से बन गया। उसकी समझ में आ गया कि ऐसे पहना जाता है। इसी तरह जो पढ़ते हैं, सुनते हैं, कोशिश करते हैं तब भी बात फिट नहीं बैठती है। बात यदि फिट नहीं बैठती है तो न सही। कोशिश करना बन्द न करो। किसी दिन पर द्रव्य की अपेक्षा हट जायेगी और अपने आप में सहज विश्राम पाने लगोगे। अपने आपका सहज अनुभव हो जायेगा कि यह बात है, यह प्रभु के स्वभाव का मर्म है। मैं तो अपना विक्रम करूंगा। चींटी चढ़ती है तो चढ़ती ही चली जाती है। कभी-कभी गिर भी जाती है, फिर भी हिम्मत नहीं हारती है। वह ऊपर को चढ़ती ही चली जाती है। बार-बार करने के लिए काम यह है कि पर में उपेक्षा और आत्मा में दृष्टि हो और कुछ करने लायक काम नहीं है। धन कमाया है, चला जायेगा या अंत में मृत्यु हो जायेगी।

एक आदमी का भाई मर गया, पढ़ा-लिखा था। 'दूसरे लोग आकर पूछते हैं, सहानुभूति दिखाते हैं। कैसे परिणामों से तुम्हारा भाई मरा? आदमी बोलता है कि क्या बतायें, मेहनत करके बी०ए० किया, नौकर हुआ, पेंशन मिली और अन्त में चले गए। भाई नौकरी करता था और अपना परिवार चलाता था। कितना बड़ा कार्य किया?' आज वह मर गया। जगत् के सब जीवों को ऐसा होता है कि नौकरी की, धन-वैभव जोड़ा, मर गए और चले गए। जीवन को छोड़कर अन्य योनियों में पहुंच गए। आत्मप्रभु के, आत्मस्वभाव के दर्शन हों तो परिश्रम सफल है। आत्मस्मरण से जो आत्मसंस्कार बनता है उसका संस्कार तेरा भला करेगा, अन्यथा नहीं। कितनी दृष्टि फंसी हुई है? घर के चक्कर, परिवार के चक्कर, यह काम, वह काम इत्यादि अनेक प्रकार से दृष्टि फंसी हुई है। ये सब तेरे रक्षक नहीं। तेरा तो रक्षक अंतरस्वरूप का दर्शन है। जैसे रोते हुए बालक को किसी खिलौने में रमा दें तो उसका रोना बंद हो जाता है। इसी तरह दुःखी होते हुए इन प्राणियों को जब कभी अपना खिलौना मिल जाये, चैतन्यस्वभाव के दर्शन हो जायें तो यही मोक्ष का मार्ग है, शान्ति का मार्ग है। यह कोई कठिन बात नहीं है। इस ही स्वरूप में इस तरह का उत्साह लग जाये, अपने खिलौने में लग जाये तो सारे क्लेश के रास्ते ही उसके बन्द हो जाते हैं। यह अमोघ उपाय है। जैसे रेल, मोटर चलती है तो उनके जो यंत्र बनते हैं घुमा दें, तेज चला दें, धीरे चला दें, जरासा दबा दें तो तेज चल देते हैं और यदि निःशंक होकर और थोड़ा सा दाब दें तो अधिक तेजी से चल देती हैं। जो चलने वाले यंत्र हैं उनको जरासा स्टार्ट कर देते हैं तो चल देते हैं। उनको चलाने के जो प्रयत्न हैं वह व्यर्थ नहीं जाते हैं।

इसी तरह आत्मस्वरूप का दर्शन भी ऐसा उपाय है कि अगर प्रयत्न करें तो व्यर्थ नहीं जाता है।

परिणाम तो करता, स्वभाव में दृष्टि तो करता, श्रद्धा तो बनाता, प्रतीति तो बनाता है। मेरा तो रक्षक मैं ही हूँ। दूसरा कोई मेरा रक्षक नहीं है। मैं अपने प्रभु को पहिचानूँ तो मेरा रक्षक मैं ही हूँ, मेरा शरण मैं ही हूँ। मैं अपने परिणामों को पहले देखूँ। कर्म जो कुछ विक्रम करते हैं तो करने दो। मैं अपने विक्रम को करूँ, अपना पुरुषार्थ आप करो, कर्म का विक्रम होने दो। अपना पुरुषार्थ यह है कि अपने शुद्ध ज्ञायकस्वरूप को देखो कर्म के विक्रम कषायादिक हैं, वह चारित्र मोह में होने दो। आत्मस्वरूप दृष्टि का काम करे, कर्म चारित्र मोह करे, जीव के विक्रम और कर्म के विक्रम में होड़ लगने दो। तू अपने उपद्रव को समाप्त कर। जब तू अपना उपद्रव समाप्त करेगा तभी तेरा कल्याण होगा। हे प्राणी, तूने तो कल्पना बना ली। अपने परिवार को, अपने कुटुम्ब को अपने सामने रख लिया और जन्ममरण का चक्कर ले लिया। मैंने तो अपने आप में यह विक्रम लगाया है। अपने आपको शुद्ध ज्ञायकस्वरूप, ज्ञानमात्र, जाननस्वरूप, जो केवल जानता है, जानना ही जिसका स्वरूप है, जो परपदार्थों से भिन्न है, किसी अन्य से सम्बन्ध नहीं है ऐसे उपयोग में हमें लगना है। यह प्रथम चीज है, इससे ही मेरे में आनन्द आता है, इसके बिना गुणों का विकास नहीं। इस प्रकार का ध्यान बनाकर ज्ञानी जीव अपने को ज्ञाता द्रष्टा बनाये रहने का अपना विक्रम करते हैं। क्रोध उदय वहाँ नहीं है, अन्य प्रकार के विकार भी वहाँ नहीं हैं। इसमें मोह नहीं है, दुःखों से रहित है। जहाँ पर मोह, मान, क्रोध, माया, लोभ हैं वहाँ पर विपत्तियाँ हैं। वे अपना विक्रम कर रहे हैं और यह अपना विक्रम कर रहा है।

देखो एक जानवर है कछुवा। उसे कोई सताए तो वह अपना मुंह भीतर दबा लेता है। और यदि वह अपना मुंह भीतर दबा ले तो वह भीतर ही घुस जाता है। केवल ढांचा पड़ा रहता है, मुंह भीतर पड़ा रहता है। कछुवेका बाकी शरीर तो कड़ा रहता है, उसको चाहे ठोकते रहो, पीटते रहो परन्तु वह सुरक्षित रहता है। यह तो उदाहरणकी बात है। इसी प्रकार हमारे ऊपर चाहे जितनी आपत्तियाँ आयें आने दो। हमारे पास तो ताकत है, हम अपना विक्रम करें, अपने विक्रमको हम भीतर ले जायें और स्वरूप मात्र, आनन्दभाव मात्र अपने स्वरूपको निरखें। यहाँ तो मेरा कुछ नहीं है। मैं ज्ञानमात्र हूँ। क्रोध, मान, माया, लोभ, इत्यादि मेरे में नहीं हैं, पर मेरे हो जाते हैं। कर्मका विक्रम है होने दो। मैं अपना विक्रम करूँ अर्थात् ज्ञाता द्रष्टा रहूँ और अपना विक्रम करके अपने आप सुखी होऊँ।

करनेका एक यह ही काम है कि मैं अपना विक्रम करूँ परन्तु वह करनेमें नहीं आ रहा है। अपनी कमजोरीसे अपने भावोंको ढीला कर दिया; मनको ढीला कर दिया तो हम स्वच्छन्द हो गए। अपने मनके स्वभावके दर्शन कर लिए तो उत्साह हो गया। मुझे क्या करना है? मैं तो कृतकृत्य हूँ, मेरा तो कृतकृत्यके अतिरिक्त और काम ही नहीं पड़ा है। कौनसा काम पड़ा है? अमुक अमुक। अरे वह तो मेरा काम ही नहीं है, वे प्रत्येक द्रव्य तो अपने आपमें परिणमते हैं। उनमें मेरा कुछ नहीं है, मैं कृतकृत्य हूँ मैं जो कुछ करूँगा वह यही कि जानना चाहिए ज्यादा जान जाऊँगा। चेतनाको चमत्कार है, केवल जानता हूँ, प्रतिभास्वरूप हूँ, मैं इतना मात्र आत्माका मर्म जानता हूँ। अपनी शूरवीरता से हटे तो दुनियाके सभी पदार्थों से मुझे दुःख है, हम दुःखके कारण बन जावेंगे। और यदि हम प्रबल रहे तो दुनियाके कोई भी पदार्थ मुझे दुःखी नहीं कर सकते हैं।

कभी देखा होगा कि जब बच्चे अथवा कोई भी कहते हैं कि पीठपर मुक्के लगाओ, जितने लगा सकते हो, लगाओ। उस बच्चेकी हिम्मत बड़ी हो जाती है। वह पीठ कड़ी कर लेता है। और सांस भर लेता है, वह मुक्के लगवा लेता है, सह जाता है, उसे क्लेश नहीं होता है। उनकी बात क्या कहें? जो व्यायाम दिखाने वाले होते हैं, अपनी छाती पर से हाथी का पैर रखवाकर निकलवा देते हैं, वे भीतरसे तैयारी कर लेते हैं, इस कारण उन्हें दुःख नहीं होता। उनका दिल कड़ा बन जाता है। वे क्लेश महसूस नहीं करते हैं। इसी प्रकार यदि भीतर के मनको कड़ा बना लिया जाय, संयम कर लिया जाय तो यह जानना ही तो है ना। अरे मैं तो जान गया, जानना ही तो मेरा स्वभाव है, मैं तो अपने आपके ज्ञानस्वरूपको जान गया। ऐसी कड़ी हिम्मत कर लो तो जो विपदायें भी आती हैं वे चली जाती हैं। इन विपदाओंका मुझ पर असर नहीं होगा, अपने विक्रममें रहे तो कर्मके विक्रमसे विपदाओंका असर न होगा। ढीले-ढाले बैठे हैं, भीतरसे कोई तैयारी नहीं है और यदि कोई मुक्का लगा देवे तो अत्यन्त दुःख होगा। इसी तरह ढीला ढाला शिथिल मन पड़ा हुआ है तो यह अंसर करता है। यह आत्मा खुद ही बाहरी चीजोंका निमित्त पाकर अपने आपमें आपका असर डाल लिया करता है। जैसे कहते हैं कि खुद तो जगते नहीं, खुद तो स्वाधीन नहीं होते और कहते हैं कि स्टेशन-लुटेरा है। अरे खुद जगते रहो, कौन लूटेगा? इसी तरह हम खुद स्वाधीन नहीं होते, नाम लगता है घरका, गृहस्थीका, धनका, वैभवका। इन चीजोंने तो उसे लूट लिया, बरबाद कर दिया, फांस लिया। नाम बदनाम करता है परपदार्थों का, यों ही देखनेसे उस अज्ञानीको दुःख हो रहे हैं। दुःख तो कोई चीज ही नहीं है। दुःखों का तो केवल नाम है। ऐसी कल्पना करो कि जहां यह जंचे कि दुःख कोई चीज नहीं है, तब सुख होगा।

तीन चोर थे। चोरी करने जा रहे थे। रास्ते में एक नया आदमी मिला, बोला— कहां जा रहे हो? बोले— चोरी करने जा रहे हैं। उसने कहा कि इससे क्या होगा, बोले— धन लूटेंगे, अगर धन लेना है तो तुम भी चलो। नया व्यक्ति साथमें चल देता है, वह यह नहीं जानता है कि घरमें कैसे घुसा जाता है और कैसे बाहर निकला जाता है? घरके अन्दर सब घुस गए एक बूढ़े आदमीने खांस दिया। वे तीन तो भाग गए, अब वह नया आदमी भागना नहीं जानता था, उसने और कुछ न सोचा, घरमें जो ऊपर कड़ी लगी हुई थी उसपर जाकर बैठ गया। गांवके बहुतसे लोग एकत्रित हो गये, हल्ला मच गया, वहां दसों आदमी थे, सभी तरहके सवाल होते थे। घरके मालिकने कहा कि हम सब बातोंको क्या जानें, ऊपर वाला जाने। उसके कहनेका तात्पर्य भगवानसे था कि भगवान जाने, पर उस छिपे हुये नये चोरने यही समझा कि यह मेरे लिए कह रहा है। उसने सोचा कि मैं पकड़ा न जाऊं, इसलिए बोला कि क्या मैं ही जानूं, वे तीन आदमी क्यों न जानें? अब वह नया चोर पकड़ लिया, बांधा गया, मारा-पीटा गया, बन्द हो गया।

यहां पर उसने केवल कल्पना ही तो की थी कि यह मेरे लिए कह रहा है, इसलिए पकड़ा गया, मारा गया और बन्द कर दिया गया। अब मुझे अपने आपको उठाना है, कर्मके विक्रम यदि चलते हैं तो अपने विक्रम को करूं, ज्ञाता दृष्टा बनूं, इसके आगे हमें कुछ नहीं चाहिए। क्योंकि कुछ मिलेगा नहीं।

पर से। उनका परिणमन उनमें है, हमारा परिणमन हमारेमें है। जो कुछ मुझे ज्ञान होता है वह मेरे से मेरेमें होता है। जो मुझको आनन्द प्रकट होता, वह आनन्द मेरेसे मेरेमें प्रकट होता है, दूसरा निर्णय नहीं, दूसरा न्याय नहीं, फिर किस बातकी आशा करते हो? अपनी अन्तरदृष्टि बनाओ कि जैसी उसकी प्रतिमा है तैसी मेरी प्रतिमा है। सब अपनेमें हैं, मैं अपनेमें हूँ। इस प्रकारसे वस्तुके स्वरूपको निरखना यही पुरुषार्थ, यही विक्रम है। एक शुद्धज्ञान पुरुषार्थ करके अपनी इन सब वासनाओंको दूर करो, जो जो संस्कार भरे हुए हैं, जो जो वासनायें भरी हुई हैं, जो-जो क्रोध मान, माया, लोभ इत्यादि भरे हुए हैं उन सबको अपने पुरुषार्थ से अपने विक्रमसे दूर करो।

एक सांप था। उसने यह विचार किया था कि मैं किसी को सताऊंगा नहीं। वह शांत था, सुबह उस घरमें बच्चे को एक कटोरा दूध दिया जाता था। वह बच्चा अपने सामने कटोरा रखे हुए दूध पी रहा था, इतनेमें सांप आया और उस कटोरे से दूध पी लिया। उस बच्चेने सांपके कई थप्पड़ मारे, पर सांपने सहन कर लिया। खूब दूध पीकर वह मस्त हो गया। इसी तरह वह नित्य प्रति दूध पीकर मस्त हो रहा था। दूसरे सांपने कहा कि तुम क्या खाते हो जो कि मोटे-तगड़े हो रहे हो, उसने कहा कि तुम इसकी कला नहीं जानते हो। मैं नित्य प्रति बच्चेको पिलाया जाने वाला दूध पी लेता हूँ, बच्चा मुझे मारता है और मैं क्षमा करता रहता हूँ, थप्पड़ सहन करता रहता हूँ, खूब दूध पीता हूँ। दूसरा सांप बोला कि मैं भी ऐसा ही करूंगा। पहलेने कहा— कैसे करोगे? बोला कि मैं सौ थप्पड़ तक क्षमा कर दूंगा। सवेरा हुआ बच्चेके लिए दूध आया, दूसरा सांप बच्चेका दूध पीने लगा, बच्चेने एक थप्पड़ मारा, दो थप्पड़ मारे, दस थप्पड़ मारे, पचास थप्पड़ मारे, नित्यानवे थप्पड़ मारे और सौ थप्पड़ मारे, सांप सब सहन करता गया। जब उस बच्चेने एक थप्पड़ और मारा तो झट उस सर्प ने फूँकार मारी। अब उस फूँकारको सुनकर सब लोग उसके ऊपर टूट पड़े और उन्होंने उसे मार डाला। वह सर्प मनमें वासनायें भरे हुए था कि मैं सौ थप्पड़ तक सहन करूंगा, आगे नहीं। इस वासना के ही कारण वह मारा गया।

अन्तरमें कषाय, विषय जो भरे हुए हैं, वे सब परेशान करते हैं। लोग कहते हैं कि जब जाप करते हैं तो दसों जगहों पर मन जाता है और अगर अपनी दुकानपर रहते हैं तो एक ही जगह पर मन रहता है। इसलिए जापसे अच्छी तो मेरी दुकान है। अरे, दोनों एक ही जगह हैं, संस्कारसे कर्मबन्धन हुआ करते हैं। यह न समझो कि दुकानदार बैठने से उपयोग दस जगह नहीं जाता, सो कर्मबन्ध नहीं होता। जैसी वासना है, वैसा बंध है। बात तो बल्कि यह अच्छी समझनी चाहिए कि जो नाना विषय कषाय भरे हुये हैं उनको जाप का प्रसंग सब बतला देता है। अब ज्ञानोपयोग करके उन विषयकषायोंको निकाल दो, अब यह करना चाहिए कि अपने ज्ञानस्वभावका, ध्यानका, मननका, चिंतनका विचार तो करना ही चाहिए और वासनाओं का, कषायों का तिरस्कार करना चाहिए। यही मेरा विक्रम है कि मैं ज्ञानस्वरूप रहूँ और अपना विक्रम मानूँ। यदि मैंने यह विक्रम कर लिया तो मैं अपने लिए आनन्दस्वरूप हो सकता हूँ।